कृष्ण चरित

रहस्य लीलाएँ

जादू और जादूगर

स्वामी सनातन श्री

कृष्णचरित

रहस्य लीलाएँ

जादू और जादूगर

श्रद्धेय स्वामी सनातन श्री जी के श्रीमुख से
श्री सनातन आश्रम
गौराबाग, कुर्सी रोड, लखनऊ

प्रस्तुति : राजेश्वरी शंकर
संपादिका : द टाइम्स ऑफ एस्ट्रोलॉजी

NISHKAAM PEETH PRAKASHAN
(Publication Divison of "The Times of Astrology")

(श्रद्धेय स्वामी सनातनश्री जी)

समर्पण

भगवान वेदव्यास, कृष्ण द्वैपायन को विनम्र समर्पित है, शोध उपन्यास, ''रहस्य लीला; जादू और जादूगर!''

वेदव्यास ने कहा था, ''मेरे ग्रन्थ के रहस्य को मैं जानता हूं! शुकदेव जानते हैं! संजय भी जानता है, अथवा नहीं? मुझे संदेह है! इनके अतिरिक्त कोई भी नहीं जानता है! हे गणपति आप भी नहीं जानते हैं!'' —(महाभारत)

स्वयं भगवान ब्रह्मा ने कहा था, ''वेदव्यास! तुम्हारे इस आलौकिक महाकाव्य की लोग सदा पूजा करेंगे। युगों-युगों तक कवि और भाष्यकार, काव्य और भाष्य करेंगे! ज्ञान, विज्ञान और सभी शास्त्रों, पुराणों, स्मृतियों का महासागर होगा! जो इसमें नहीं होगा, विश्व में कहीं नहीं होगा! परन्तु, हे वेदव्यास! हजारों वर्षों तक लोग (भाष्यकार, कवि, सन्त, मनीषी जन) नहीं जान पावेंगे कि तुमने कहा, क्या है?'' (महाभारत)

निर्णय आप पर है, हे पाठक मित्र! क्या कोई और भी इसे जानता है?

-स्वामी सनातन श्री

श्री सनातन आश्रम
गौराबाग, कुर्सी रोड,
लखनऊ - 226007
फोन : 0522-2391796, 0522-2362306
Email- *ssshree@sify.com*

अनुक्रम

प्रास्ताविक

''संन्यासी के श्रीमुख से निस्सृत प्रत्येक शब्द स्वतः प्रमाण होता है'', इसमें कोई सन्देह नहीं रहेगा, पाठकों को।

वस्तुतः सनातन परंपरा से हमारा विचलन निहित स्वार्थों की मात्र तात्कालिक उपलब्धि है। ऐसे दौर में जरूरत थी हमें सच्चे संन्यासियों के आशीशों की, जो सनातन परम्परा के ऊपर पड़ी राख़ की परतों को अपनी प्राण ऊर्जा से विस्फारित कर समूचे संसार को उत्प्रेरित करते ताकि **'सनातन दर्शन'** और उसकी परम्परा, जनजीवन का फिर से एक अनिवार्य अंग बनते। खेद है कि संन्यास के मर्म को समझे बिना, अनेकों व्यवहार बुद्धि में किंचित अधिक कुशल व्यक्तियों ने, संन्यास के बाह्याडम्बर को तो अपना लिया किन्तु अपने अन्दर संन्यास वृत्ति को नहीं जगा पाए और संन्यास के वस्त्रों में सजे संवरे इन स्वयंभू व्यक्तियों के प्रति उमड़े जन मानस के प्यार और सम्मान पर, जो इन्हें सहज रूप में एक बार मिलना शुरू हुआ, तो कहीं बाद में यह छूट न जाए, इस व्यामोह और व्यापार बुद्धि के चलते, वे सचमुच अपने ढोंग और आडम्बर का एक विशाल साम्राज्य खड़ा करने को मजबूर हुए। ऐसा करके, न सिर्फ इन तथाकथित संन्यासियों/संतों ने अपना अहित किया बल्कि सच्चे संतों और संन्यासियों को पृष्ठभूमि में ढकेल कर जनमानस, सचराचर और सनातन दर्शन के असली रूप के साथ घोर अन्याय कर स्वयं घृणित अपराधी बने।

*ऐसे माहौल में, ''**श्रद्धेय स्वामी सनातन श्री**'' जी की इस भरत खण्ड भारत में प्राणवान उपस्थिति, बीसवीं और इक्कीसवीं शताब्दी का एक बहुत बड़ा गौरव है, सनातन संस्कृति, दर्शन, अध्यात्म और जीवन का एक ऐतिहासिक अध्याय है, जहाँ संन्यासी, समाधि और समाधान के प्रत्यय सदैव के लिए अक्षुण्ण हो गए हैं।*

मुझे बताया गया था कि लखनऊ में कुर्सी रोड पर **'श्री सनातन आश्रम'** है और वहाँ एक विलक्षण संन्यासी स्वामी सनातन श्री हैं। यह आश्रम अद्भुत

है, जहाँ पशु, पक्षी यथा कुत्ते, बिल्लियों की योनि में अवतरित जीवात्माएँ ''भजो राम! राम! राम! भजो। गोविन्द! राधेश्याम।'' के भजन गाते हैं। सामान्यतः यह विचित्रता आश्चर्य पैदा करती है, ऐसा चमत्कार तुरन्त देखने जाने की ललक पैदा करती है, हर मनुष्य के मन में। पर मुझे लगा, यह भी लोगों को आकर्षित करने का ढोंग भर हो सकता है किसी आश्रम का, उस देश में, वर्तमान में जिसमें संन्यासी/संत, अध्यात्म को छोड़ अपने चमत्कारी बाजीगरी करतबों से अपने-अपने प्रतिष्ठान बनाए बैठे हैं।

पुनः एक मित्र ने श्रद्धेय स्वामी जी के बारे में एक प्रसंग सुनाया :

''एक व्यक्ति बदहवास सा आकर आश्रम में स्वामी सनातन श्री जी के चरण कमलों में आ गिरा। बोला, 'स्वामी जी! मुझे बचाइए। मैं तीन दिन और तीन रात से सो नहीं सका हूँ। भय और आतंक से पूरा जीवन भर गया है। मुझे बचाइये।''

''बात क्या है, भगवन?'' 'गोविन्द हरि! हरि गोविन्द' कहते हुए स्वामी जी ने पूछा।

'मेरे पड़ोसी ने मुझे जमकर गालियाँ दी हैं, खूब पीटा है, देखिए, मैं तीन दिन से अपना टूटा हुआ हाथ लिए घूम रहा हूँ। प्लास्टर कराने तक बाहर नहीं निकला हूँ। अगर उसने देख लिया और बाहर पा लिया, तो फिर और मारे बिना नहीं छोड़ेगा, ऐसा मुझे लगता है। मुझे बचा लीजिए स्वामीजी'' वह व्यक्ति बारबार गिड़गिड़ाए जा रहा था।

'गोविन्द हरि! बन्धु! तुम्हारा कष्ट दूर होगा कैसे? भजना चाहिए था तुम्हें गोविन्द को, जो सबका कष्ट दूर करते हैं, और भज रहे हो तुम तीन दिन से अपने पड़ोसी को, जो कष्ट दे रहा है। जिसने कष्ट दिया है, उसे भजोगे, रातदिन उसी का ध्यान करोगे तो वह और कष्ट नहीं देगा, तो क्या करेगा? गोविन्द हरि! स्वामी जी ने सहज सरलता में उत्तर दिया ...''

उस व्यक्ति का कष्ट दूर हुआ या नहीं या कैसे दूर हुआ, यह जिज्ञासा मुझे नहीं हुई। बस जिज्ञासा हुई तो इतनी कि यह कोई जेनुइन सन्त है, जो खो नहीं गया है, इस आडम्बरपूर्ण आधुनिक युग में; तुरन्त दर्शन करना चाहिए।

उसके बाद का वृत्तान्त, नितान्त निजी है। सार्वजनिक है तो इतना कि ऐसी

आत्मीयता, ऐसा स्नेह, ऐसा ज्ञान और ऐसी शांति कहीं और नहीं मिलती। मिलकर लगता है, वापस जड़ों को पा लिया हो पेड़ ने जैसे, अब उसे सूखने और मुर्झाने का कोई डर नहीं।

"सत्य वही है जो सरलतम तरीके से भासने लगे आपको, और जिसका सत्यापन आपका अन्तर्मन अविलम्ब कर दे, अन्यथा, वह सत्य नहीं, सत्याभाष होगा, और कभी-कभी मात्र तात्कालिक सत्य होगा।" यह कसौटी भी, सच के अनुयायियों को श्रद्धेय स्वामी जी से ही प्राप्त होती है। सत्य, जो सार्वजनीन है, सार्वकालिक है, न काल की अपेक्षा रखता है न देश की, सार्वत्रिक रूप से सत्य है, सदा-सदा, वह ही ऋत है, जिसका प्रकटन ऋग्वेद में हुआ।

जितना कुछ वेद को मैंने जाना है, श्रद्धेय स्वामी जी से ही सीखा है, जाना है और प्रयासरत हूँ।

वस्तुतः तो वेद, अनेकों विद्वानों के विद्वतापूर्ण भाष्यों के ढेर में खो गए हैं जैसे कि बहुमूल्य हीरे की अँगूठी, कूड़े के किसी विशालकाय ढेर में खो जाए।

आज से लगभग 42 वर्ष पूर्व लखनऊ में नवरात्र के अवसर पर प्रकट किए गए वेद के रहस्य जो स्वामी जी के श्रीमुख से निस्सृत हुए, वे निरन्तरता में सम्पूर्ण वेदों, सनातन दर्शन की वास्तविक कुंजिकाएं हैं, जिनका पारायण यथाक्रम से नवरात्र में विशेषतः और सदैव ही, सामान्यतः जो भी करेंगे, मनन करेंगे, वे वेदों के रहस्यों को जानने की क्षमता प्राप्त करने की दिशा में सक्रिय कदम उठाएंगे, इसमें सन्देह नहीं।

महामुनि याज्ञवल्क्य, वाल्मीकि तथा नाना ऋषियों द्वारा पूर्व में मुखरित श्री राम कथा के अनन्य रहस्य, जब श्रद्धेय स्वामी जी के श्रीमुख से अनावृत होते हैं, तब तुरन्त लगने लग पड़ता है कि सभी पूज्यनीय ऋषिगण, भगवान राम की कथा के बहाने से हमें हमारी ही गाथा सुना रहे हैं, हमें हमारी उत्पत्ति और जीवन संपादन का स्वरूप दिखला रहे हैं, हमें सरलतम तरीके से वेद पढ़ा रहे है जिनके बारे में कालान्तर में यह भ्रम फैला दिए गए कि वेद समाज के एक वर्ग विशेष के लिए ही पठनीय हैं और समाज के एक दूसरे वर्ग विशेष के लिए तो इसका नाम तक लेना अपराध है। ऐसी ही भ्रान्त धारणाओं और मान्यताओं को बलिष्ठ करते जाने की चालाकियों से सम्पूर्ण विश्व का भरण पोषण करने वाले इस भरत खण्ड, भारत के अब विघटन तक की नौबत आ पहुँची है। ऐसे में जब आपको अपना स्वयं का शुद्ध शाश्वत परिचय इस ग्रन्थ में मिलता है तो मानो आपका पुनर्जन्म सा होता है, जिसे आपका 'द्विज' होना ही कहा जाएगा, "जन्मना जायते शूद्राः संस्कारात् द्विज उच्यते" की उक्ति आप पर चरितार्थ हो उठती है। जब तक आपको अपना

स्वयं का सही परिचय नहीं मिलता, भला आप याज्ञवल्क्य, वाल्मीकि, वशिष्ठ, विश्वामित्र और नारद जैसे ऋषियों का परिचय क्या पाएंगे?

चाहे कथा राम की हो या कृष्ण की, दोनों का उद्देश्य एक ही है, वेदों के रहस्य को सरलतम तरीके से आपके पास पहुँचाना, आपको अपना जीवन दर्शन कराना और यह अहसास कराना कि इस सृष्टि के आप एक बहुमूल्य और जिम्मेदार अंग हैं, इस सृष्टि के संचालन, संवरण और संतुलन में आपकी एक अहम् भूमिका है। इसीलिए महाभारत आपके अन्दर चलता है तो राम-रावण युद्ध भी आपके ही अन्दर चलता है। राम कथा में जहाँ दसों इन्द्रियों को (रथ कर) निग्रह कर व्यक्ति दशरथ हो जाता है और (आत्मा) राम उसके (हृदय) आँगन में बसे हुए प्राप्त होते हैं वहीं यदि वह व्यक्ति दसों इन्द्रियों को दस मुँह (आनन) बनाकर सम्पूर्ण प्रकृति/सृष्टि का दोहन करने लगता है, अपना आहार बना लेता है तथाकथित सुखोपभोग में लिप्त हो जाता है तो वह दशानन (रावण) हो जाता है। कृष्ण कथा में (आत्मा) कृष्ण, जीव (जीव बुद्धि) अर्जुन के सारथी बनकर मायाओं के महासमर महाभारत युद्ध को जीतने का जो मार्ग प्रशस्त करते हैं, यह सब वेद, जो आपको अपने असली स्वरूप को प्राप्त करने का ज्ञान प्रमुखतः है, का ही सरलतम रूप से दिग्दर्शन है जो श्रद्धेय स्वामीजी की अमर वाणी उनके साहित्य के रूप में अक्षुण्ण रखे हुए है।

मन ही दशरथ और मन ही दशानन है, बिल्कुल एक दूसरे के विपरीत। जहाँ इन्द्रियाँ अर्न्तमुखी हुईं, दशरथ बना, राम को पाया। जहाँ इन्द्रियाँ वाह्योर्मुखी हुईं, सब सुख बाहर खोजा, लूटा खसोटा सचराचर को, अपने को ही केन्द्र में रखा, सबको अपना अनुचर बनाने की प्रकृति जगी तो मन दशानन हो गया।

मन क्यों दशानन होना चाहता है? क्योंकि उसके पास सोने की लंका है? उसके पास अकूत धन सम्पदा है? अपार बहुमूल्य और सैन्य बल है? भोगने के लिए राक्षसियों से लेकर अप्सरायें तक है? .....बहुत बड़ा अपराजेय राजा है? संभवतः यह सब पाने की लालसा हमें दशानन बनने को प्रवृत्त करती हो। लेकिन हम एक बात भूलते हैं जो श्रद्धेय स्वामी जी बार बार हमें याद दिलाते हैं। ''यदि रावण (दशानन) इतना! इतना!! कितना!!! बड़ा राजा है, योद्धा है तो दशरथ क्या भिखारी है? वह भी तो चक्रवर्ती सम्राट है, क्या नहीं है उनके पास? योद्धा ऐसे कि देवता भी उनकी मदद माँगते हैं? फिर दशानन मार्ग पर मन को क्यों ले जाना? दशरथ मार्ग पर आओ।''

दशानन मार्ग से दशरथ मार्ग पर मन कैसे आए? जैसे आए, वही तो साधना का मार्ग है जो श्रद्धेय स्वामी जी के अन्य अमर ग्रंथ 'साधना विज्ञान' में अपनी सम्पूर्णता में प्रकट हुआ है। जीवन के इन अनबूझे रहस्यों का उद्घाटन जहाँ श्रद्धेय

स्वामी जी की अमर वाणी में होता हैं वहीं उनके प्रमाण हमें सचराचर में दिखाने का परिदृश्य भी स्वामी जी हमारे सामने उपस्थित करते रहते हैं। जो कुछ सचराचर में सहज उपलब्ध नहीं हो प्रमाण के लिए, उसे जीवन में भी हम सामान्यतः प्रमाणिक, आदि और अनन्त समय तक चलने वाला, नित्य सनातन अवयव कैसे मान लेंगे? सचराचर की पारदर्शिता तथा जीवन की उत्पत्ति, उसके संरक्षण और संवर्धन के महाविज्ञान स्वरूप ज्योतिष का भावरूप **'ज्योतिर्वेद के विभिन्न सोपानों'** में श्रद्धेय स्वामी जी के अलावा कोई और इस युग में प्रस्तुत कर सकता है, इसका गुमान भी मुझे नहीं है। संभवतः यह इस युग में एक स्वर्णिम अवसर है, सनातन दर्शन, वेद और अध्यात्म की सही राह पर चलने का, और यह आशीर्वाद स्वरूप श्रद्धेय स्वामी जी ने ही अवसर दिया है मुझे, कि मैं निमित्त बनूँ, **'ज्योर्तिवेद के विभिन्न सोपान'** आप तक तीन श्रृंखलाओं में पहुँचाने के बाद अब भगवान कृष्ण की रहस्य लीलाएँ, जो रहस्य से रहास और रास के नामकरण का रास्ता तय करते हुए अब केवल रस-लीलाएँ रह गई हैं, उन्हें पुनः रहस्य लीलाओं के रूप में प्रतिष्ठापित कर, उनके रहस्यों का जो श्रद्धेय स्वामी जी ने अनावरण किया है, उसके प्रकाशन के लिए ताकि आप सब स्वयं इस ''रहस्यलीला : जादू और जादूगर'' नामक अमर ग्रंथ के पारायण के साथ ही जीवन के अनबूझे रहस्यों तक पहुँच सकें, उसके वास्तविक स्वरूप को जान सकें, अपने-आपको पहचान सकें और हो सके तो अपने असली स्वरूप को पा सकें।

आप सब पाठकों को ईश्वरत्व प्राप्त हो, श्रद्धेय स्वामी जी का अनुग्रह और आशीर्वाद हो, कृष्ण चरित्र के सभी रहस्य आप पर खुलें, भक्ति का आपमें भरपूर संचार हो, सम्यक् ज्ञान से आप परिपूर्ण हों, दशरथ मार्ग हो आपका और उच्चतम ज्योतिर्मय जीवन हो आप सबका।

राजेश्वरी शंकर
संपादिका
'द टाइम्स ऑफ एस्ट्रोलॉजी'
ज्योतिर्वेद की मासिक पत्रिका
आर-12 ए, हौज खास,
नई दिल्ली - 110 016
फोन : 011-26512504, 26512523
E-mail: edotor@jyotirved.com

जुहूमसि द्यविद्यवि

रहस्य लीलाएँ !

परिचय

ज्योतिर्वेद एवं मनुस्मृति के गहन रहस्यों को लीलामय रूप से प्रमाणिक एवं सशक्त रूप से युग मानसिकता को प्रकट करता नया शोध उपन्यास प्रस्तुत है। जिन्हें आप रास-लीला के रूप में जानते चले आ रहे हैं, इनका पूर्व नाम था 'रहस्य-लीला'! रहस्य' का अपः भ्रंश कालान्तर में 'रहास' हुआ! आज भी जब आप मथुरा, वृन्दावन अथवा पश्चिमी उत्तर प्रदेश के गांवों में जायेंगे, तो आप को 'रहास' शब्द का उच्चारण ही मिलेगा। गुलामी के लम्बे अन्धेरों में 'रहस्य' का 'रहास' बना। पुनः 'रहस्य' 'रास' बन गया। लम्बी गुलामी की अन्धी अन्धेरी रातों ने 'रहस्य' लीला को 'रास-लीला' तथा 'रस-लीला' मात्र बनाकर रख दिया।

(रसो वै सः - - रासः)

प्रत्येक व्यक्ति के जीवन के विभिन्न सूक्ष्म रहस्यों को; सुन्दर, सरल, सरस, और मनोरम ढंग से नाटकों के द्वारा दर्शाने की धारा का नाम था, 'रहस्य-लीला! इस प्रक्रिया को शिक्षा-तन्त्र के साथ जोड़ा गया था। वेद के गूढ़ रहस्यों को रहस्य लीलाओं द्वारा स्पष्ट करने की व्यापक परम्परा गुरुकुल शिक्षा में निरन्तर रही है। सम्भवतः इन्हीं रहस्य लीलाओं की सरसता ने शिक्षा की देवी, सरस्वती के नाम को सार्थक किया है। सरस ज्ञान दायिनी, सरस्वती! सनातन धर्म में इनका अत्यधिक विशिष्ठ स्थान आदिकाल से रहा है।

लीला कथाओं के जन्मदाता श्रीकृष्णद्वैपायन वेदव्यास ही हैं। श्रीकृष्ण के आदेश पर गुरूकुल शिक्षा में अतीत के इतिहास को अमर लीला कथाओं में ढालकर शिक्षा को सरस व्यवहारिक़ तथा छात्र को ईश्वरतुल्य गुणों से परिपक्व करने की कल्पना

से ही लीला कथाओं का चलन हुआ। इतिहास की अमरता के साथ ही शिक्षा को सरस व्यवहारिक तथा बालक के जीवन में ईश्वर का नित्य वास ही इनका मुख्य उद्धेश्य रहा है। श्रीकृष्ण के गोलोकवास के उपरान्त, वेदव्यास ने उन्हें भी लीला कथाओं के स्वरूप में प्रकट किया। इनके उद्‌गम का काल लगभग 6000 वर्ष पूर्व ही है।

इतिहास के लम्बे अन्तरालों को लांगते हुये, ऐतिहासिक घटना- क्रम समय के साथ आगे बढ़ते चले जाते हैं। समय के गहन अन्तरालों में सन्त, मनीषी एवं ऋषि जन, इतिहास रूपी दही को जन हित में, विवेक की मथनियों से, मथते चले जाते हैं। एक लम्बी और निरन्तर प्रक्रिया! समय के लम्बे गहन अन्तराल! निरन्तर मथते सद्‌विवेक के मन्थन! इतिहास की छाछ समय के अन्तरालों में छितराती चली जाती है। अध्यात्म का मक्खन इक्ट्‌ठा होने लगता है। एक बहुत लम्बे अन्तराल के उपरान्त, इतिहास के कथाक्रम, विशुद्ध रूप से अध्यात्मिक परिवेश ग्रहण करते, जन - जन की कहानी बन जाते हैं। इतिहास; गौण, अस्पष्ट, मृत प्राय और भ्रमित होकर निष्प्रयोजन हो जाता है। कथा का प्रयोजन विशुद्ध रूप से अध्यात्म होने से, इतिहास का नायक भी, अध्यात्म पुरुष का परिवेश ग्रहण कर लेता है। ऐतिहासिक घटना - क्रम, अध्यात्मिक रहस्य - लीला बन जाते हैं। इतिहास की पृष्ठभूमि से उभरता अध्यात्म! युग - युग का परिचय देता, जन - जन की कहानी बन जाता है।

इन कथाओं में इतिहास, उदाहरणार्थ मात्र बन कर रह गया है। उदाहरण सदा वही ग्रहण किये जाते हैं जो सरल, ग्राह्य और व्यापक रूप से प्रचलित हों। प्रचलित, विश्व व्यापी घटनाक्रम ही उदाहरण के रूप में लेने की परम्परा रही है।

''जैसे काली कामरी, चढ़े न दूजो रंग!''

यहाँ पर कवि ने काले कम्बल का प्रयोग उदाहरण के रूप में किया है। क्यों? इसलिये कि काले कम्बल को प्रत्येक व्यक्ति जानता है। उदाहरण को लोग जितनी आसानी से ग्रहण करेंगे, उतना ही अधिक 'विषय' जन मानस के हित में स्पष्ट होगा। यदि उपमा ही अनजानी हो, तो विषय (उपमेय) किसको स्पष्ट होगा? सम्भवतः इसीलिये विश्व व्यापी ऐतिहासिक घटनाओं को ''रहस्य-लीलाओं'' में ग्रहण किया गया। श्रीराम कथा तथा श्री कृष्ण की कथायें ऐतिहासिक होने के साथ ही विशुद्ध रूप से अध्यात्मिक महाकाव्य के रूप में युगों-युगों पूर्व से गायी जाती रही हैं। महर्षि वाल्मीकि तथा महामुनि वेदव्यास ने इसी सत्य को स्पष्ट रूप से इन महाकाव्यों में स्वीकार किया है। गणपति तथा भगवान ब्रह्म की आरम्भिक कथाओं में ही वे इसे स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं।

आप यह भी न भूले कि इस महान संस्कृति को, लगभग 1200 वर्षों तक गुलामी की दुर्गन्ध को भी ढोना पड़ा है। गुलामी के आरम्भिक काल में ही, गुरुकुल ऋषिकुल तथा विश्वविद्यालय ध्वस्त कर दिये गये थे। मन्दिर तोड़े गये! तपस्वी, मनीषी आदि व्यापक रूप से मारे गये! संस्कृति और धर्म का समूल विनाश करने के सारे प्रयास, विदेशी आतताईयों द्वारा हुये।

उस युग में कागज अथवा छापे खाने भी नहीं होते थे। जो भी साहित्य था, भोज पत्रों में अथवा ताम्र पत्रों में ही सीमित था। विश्वविद्यालयों के साथ ही इतिहास, भूगोल, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र तथा ज्ञान विज्ञान की सहस्त्रों धारायें जलकर नष्ट हो गयीं! विद्वत समाज की निर्मम हत्याओं से इन अलभ्य ग्रंथों की पुनरावृत्ति भी असम्भवप्राय हो गई। शनैः शनैः परन्तु निरन्तर, पीढ़ियों के साथ, ज्ञान और स्मृति भी लुप्त होती चली गई। 1200 वर्ष का समय कम नहीं होता है। भोज पत्र जलकर राख हुये! ताम्म्रपत्रों को गलाकर ऐशगाहों के महराब बनवाये गये! यदि कुछ बच पाया तो अध्यात्म तथा अध्यात्म के साथ जुड़े ''रहस्य - लीला'' ग्रंथ और काव्य! इनके बचने का एक ही कारण था, इनका जन - जन में व्यापक चलन तथा सहज ग्राहयता! धर्म के साथ जुड़े होने के कारण अन्ध आस्था, श्रद्धा और तथाकथित भक्ति की बैसाखियों पर चले वेद, पुराण, उपनिषद, शास्त्र तथा स्मृतियां आदि ग्रन्थ! समय के शोध, बदलाव और भ्रान्तियों को भी स्वयं में लपेटे हुये! कुछ नयी लकीरें कुछ नयी व्याख्यायें भी समय के साथ इनमें जुड़ती चली गयी!

देश की स्वतन्त्रता के साथ ही इन्हें पुनः उपेक्षा की मौत मरना पड़ा। भारत की अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक नीतियों की धोखा धड़ी का शिकार भी इन्हें बनना पड़ा! अल्प संख्यक होने के नाते दूसरे सम्प्रदायों को शिक्षा में धर्म ग्रन्थ पढ़ाने का विशेष संवैधानिक अधिकार प्राप्त है। बहुसंख्यक होने के नाते इन धर्म ग्रन्थों को पढ़ाने का अधिकार भारत के संविधान में बहुसंख्यकों को सहज सुलभ नहीं है। जिन्होंने 1200 वर्षों की गुलामी की घुटन, उपेक्षा और घृणा को जिया था, उन्हें फिर उसी घुटन और उपेक्षा में, मरने पर मजबूर कर दिया गया। आजादी भी मूल भारतीयों की संस्कृति और अध्यात्मिक धरोहर के विनाश का कारण बन बैठी! आज भी स्थिति यथावत है।

गुलामी के अन्तरालों में विदेशियों की नकल करते कुछ नये सम्प्रदायों और धर्मो ने, धर्म के मौलिक स्वरूप पर एक काली परत भी चढ़ा दी। समय के साथ यह साम्प्रदायिक सोच तथा व्यवहार ही धर्म और संस्कृति का स्वरूप और स्थान ग्रहण करते चले गये! कुछ जूठन विदेशी, कुछ पुरानी परिपाटी का तथाकथित नये भ्रमित ज्ञान, यही धरोहर बना, नये सम्प्रदायों का! यही स्थिति वर्तमान में भी यथावत है।

जरूरत थी कि अतीत को स्पष्ट किया जाता! अतीत की धरोहर के मौलिक स्वरुप को, अतीत युगों के साथ अद्वैत करके जानने का प्रयास किया जाता। गुलामी के अन्तरालों से पूर्व भारत - भारती के मौलिक रूप को हम स्पष्ट करते! ऐसा भी नहीं हुआ। स्वतन्त्र भारत में भी, आद्यू भारती एक दीन गुलाम, वंचक और उपेक्षित की तरह पंगु है । राजाश्रय में उन्हीं संस्कृतियों और धर्मों को संरक्षण प्राप्त है, जिन्हें इससे पूर्व भी था। अनाथ आदि-भारती का, स्वतन्त्र भारत में अब भी कोई स्थान नहीं है। क्या हम विश्व की लुप्त होती संस्कृति मात्र बनकर रह जायेंगे?

इस सन्यासी का यही प्रयास रहा है कि गुलामी से पूर्व के अतीत से आपका परिचय करा दें! यह ग्रन्थ भी उसी श्रृंखला में आप सबको समर्पित है। सीमित साधन और आपके सहयोग के अतिरिक्त, बस 'नारायण' ही हैं! न कोई देश है, न ही कोई सत्ता ही हमारे साथ है! उपेक्षा है, वंचक भाव है, घुटन है, इनमें भी संस्कृति को जीवित रखने और उसके मौलिक स्वरूप को जन - जन तक पहुंचाने की चाहत है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में उस युग के इतिहास, संस्कृति और धर्म के साथ ही, कथाओं द्वारा लीलाओं में करवट लेने की प्रक्रिया को, क्रमिक रूप से स्पष्ट करने का प्रयास किया है। तीन खण्डों में यह शोध पूर्ण होकर, सम्पूर्ण सन्देहों का समूल निवारण करेगा! अभी प्रथम खण्ड ही आप तक पहुंचाने का प्रयास कर सके हैं।

इस शोध ग्रन्थ में कथाओं को, उनके मौलिक स्वरूप में स्पष्ट करते हुये भी, यही प्रयास रहा है कि सभी स्तरों से इसे ग्राह्य बनाया जाये। एक रिक्शा वाले के लिये यह ग्रन्थ जहाँ अत्यधिक आनन्द दायक है, वहीं पर शोध-वैज्ञानिक के लिये, हर्ष एवं विस्मय भरी एक भारी चुनौती है।

उपरोक्त शोध कार्य में चारों वेदों, स्मृतियों तथा लब्ध अध्यात्मिक ग्रन्थों के साथ ही पुरातत्व स्थलों तथा 'काठी - सम्प्रदाय' (काठियावाड़) तथा अन्य स्थलों पर किये गये शोध का भी सहारा लिया गया है। सम्पूर्ण ग्रन्थ निरूक्त तथा धार्मिक ग्रन्थों से पूर्णतः सम्मत हैं। वेद व्यास के उद्देश्य एवं मानसिकता का स्पष्ट दर्पण है। यह ग्रन्थ आपके लिये भी स्पष्ट दर्पण के रूप में, आपसे आपका स्पष्ट परिचय करायेगा! इसी विश्वास से आपको अर्पित है।

—प्रकाशक

सत्यवती नन्दन महर्षि वेदव्यास

1

सत्यवती नन्दन

वेद व्यास! रहस्य - लीला के अद्‌भुत जादूगर! हे सत्यवती नन्दन! आज फिर, मन की राह मुझे तुम्हारे बहुत करीब ले आयी है। अध्यात्म, इतिहास, ज्ञान और विज्ञान को रहस्य - लीलाओं में पिरो देने वाले, हे अनूठे जादूगर! तुम्हारा युगान्तर जादू एक बार फिर मनके परदे पर ज्योर्तिमय अतीत को उभारने लगा है। हजारों साल के अन्तराल, छितराते सूखे पत्तों की तरह बिखर गये हैं। कल्प वृक्ष पर फिर कुछ नयी पत्तियां उभर आयी हैं, छोटी सी पत्तियां हैं, पर बड़े पत्तों के जैसी हैं। तेज हवा के झोंकों से पीपल के पत्ते खड़खड़ाने लगे हैं। लगता है तुम्हारी वाणी का जादू मुझे उस अतीत में बहाये लिये जा रहा है। स्मृतियों के मानस पटल पर मैं तुम्हें फिर अनेक रूपों और भावों में देखने लगा हूँ।

शरद् की ठण्डी हवाओं में चमकती धूप की तपन ने आश्रम के वातावरण को बहुत मोहक बना दिया है। मन की खिड़की से अतीत एक बार फिर सज-धज कर मोहक लुभाना सा दिखने लगा है। सोचता हूँ तुझको, तेरी ही कहानियों को, एक बार फिर सुना दूँ। समय के अन्तरालों में उनके कुछ बदलते, कुछ भ्रमित होते चेहरे भी दिखा दूँ। अतीत को वर्तमान में लाकर खड़ा करने की इच्छा को नहीं रोक पा रहा हूँ। हे पराशर नन्दन! यों तुम को तुम्हारी ही युगान्तर कथा सुना रहा हूँ।

तुम्हारी रहस्य - लीलायें, बदलते समय के साथ ''रहस्य'' से ''रहास'' बनीं। फिसलते समय के साथ नयी करवट लेकर ''रहास'' से ''रास'' लीलायें हो गयीं और अब तो ''रस - लीलायें'' मात्र बनकर रह गयी हैं। अब अगर, तुम अपनी

ही कथाओं को इन लोगों से सुनो, तो तुम्हारी कथायें तुम्हें ही अजनबी लगेंगी। मेरे स्मृति पटल पर तुम्हारे जन्म की कहानी उभर रही है। तुमने अपने ही जन्म की कथा, एक मोहक रहस्य-लीला के रूप में दिखाई थी, सुनाई थी। एक ऐसी कथा जिसके तुम सूत्रधार थे और नायक भी! एक ऐसी कहानी जिसके तुम कथाकार थे और प्रमुख कलाकार भी! एक ऐसी कहानी जिसमें तुम बात तो अपनी करते थे और कहानी बन जाती थी, प्राणी मात्र की । हे कृष्ण द्वैपायन! मुझे आज वही कहानी फिर से सुनाने दो। जिससे मैं एक बार फिर तुम्हारे सामीप्य और सान्निध्य का सुख ले सकूँ, उन पावन क्षणों को फिर से जी लूं।

मेरी कल्पना की आँखें गंगा के तट पर उस सुन्दर कुटिया को देख रही हैं। सघन वन, मधुमास के क्षण, पक्षियों का वह संगीतमय कलरव, मन्द - सुगन्धित समीर के झोंकों के साथ झूमती पेड़ों की टहनियां और धीरे-धीरे लहराती डालों जैसी धर्म-ध्वजायें, सब कुछ दिखने लगा है। यज्ञ की वेदी से धीरे-धीरे उठता हुआ सुगन्धित धुआँ, ऊपर को उठता हुआ, बादलों को भ्रम देता, नीलाकाश में निरन्तर लुप्त हो रहा है। तुम्हारी सम्पूर्ण छवि, तुम्हारे वे सर्वांग भावपूर्ण नेत्र मुझे देख रहे हैं। तुम्हारे समीप बैठे ऋषियों में, एक पहचाना चेहरा ''उग्रश्रवा'' का भी है, एक बार फिर वह सारा दृश्य उभरने लगा है। एक अज़नबी ऋषि ने एक प्रश्न किया था तुमसे, ''वेदव्यास! हमने सुना है कि आप सूत हैं?''

कितना बोझिल वातावरण हो गया था! सूत अर्थात् वर्ण संकर? एक अपमानजनक गाली! लज्जा, घृणा, कुण्ठा, अपमान से सिंचे विष घोलते, दहकती सलाखों से चुभते शब्द!

सारे ऋषि और तुम्हारी शिष्य मण्डली, अवाक् और स्तब्ध रह गयी थी। थोड़े समय के लिये लगा था कि जैसे सब कुछ स्तब्ध अचल हो गया हो। तुम्हारा निर्विकार, शान्त और गम्भीर मुख - मण्डल नितान्त भाव शून्य था। कुछ क्षणों उपरान्त ही, पुनः प्रातःकाल के धीरे-धीरे प्रकट होते सूर्य के जैसी मोहक चमक तुम्हारे नेत्रों में जीवन्त हो उठी थी। एक चिर् मुस्कान, तुम्हारे होठों पर थिरकने लगी थी। सहज ही उत्तर दिया था तुमने।

''आपने ठीक ही कहा है तपोनिष्ठ, मैं सूत ही हूँ! मेरी माता सत्यवती हैं। मत्स्य राज की बेटी हैं। शूद्र हैं वह। मेरे पिता महर्षि पराशर हैं। वे ब्रह्मण कुल के हैं। माता और पिता दोनों अलग - अलग वर्ण के हैं। इसलिए मैं सूत हूँ, वर्ण संकर हूँ!''

कितनी सरलता से तुमने उत्तर दिया था। सारा वातावरण तनाव मुक्त हो गया था। परन्तु वे आगन्तुक तपोनिष्ठ फिर तुमसे हठपूर्वक पूछ ही बैठे, ''वेदव्यास!

महर्षि पराशर तो महाविष्णु के छठे अवतारी हैं, भला महाविष्णु ने ऐसा शास्त्र-निषिद्ध कर्म क्यों किया?''

वातावरण पहले से अधिक तनावपूर्ण हो उठा था। ऋषि सहज जिज्ञासा में, अपने संदेहों को, अपमानजनक तमाचों के रूप में मार रहे थे। महर्षि पराशर का सत्यवती से विवाह? क्या शास्त्र - निषिद्ध कर्म हो सकता है? ऐसी अवस्था में भगवान वेदव्यास का जन्म भी तो शास्त्र द्वारा निषिद्ध एवं निन्दनीय हो जायेगा? अपमान का यह गहन हलाहल?

हे निर्मल सन्त वेदव्यास! तुम सर्वथा तनाव मुक्त थे। तुम्हारे चेहरे की सहजता और सरलता में कुछ भी बदलाव नहीं आया था। वही चिर् परिचित मुस्कान! कितनी अनूठी बात है, तुम्हारी वेदव्यास! कड़ुवाहट को भी सहजता से पी लेते हो और उसका तुम पर असर भी नहीं होता है। तुमने मुस्कराते हुए उत्तर दिया था।

''हे देवनिष्ठ! मेरे जन्म की कथा सुनो। एक बार महर्षि पराशर गंगा नदी पार कर रहे थे। जब ऋषि गंगा के मध्य धारा में आये तो उन्हें भयंकर दुर्गन्ध का आभास मिला। महर्षि पराशर चौंक पड़े। उनके मन में नाना विचार उभरने लगे।'' अहो! पावन गंगा की लहरों में दुर्गन्ध कैसी?'' वे सोचने लगे कि द्वापर युग में गंगा की धाराओं में दुर्गन्ध का समावेश क्योंकर होने लगा? उन्होंने तो ऐसा ही जाना है, जब घोर कलियुग होगा, धर्म का सर्वथा विनाश हो जायेगा। तभी गंगा की पावन धारा से अमृत लुप्त हो जायेगा, तथा दुर्गन्ध प्रकट होगी। द्वापर के अन्त में जल की धाराओं में दुर्गन्ध का होना आश्चर्य है।

महर्षि पराशर ने, जिज्ञासावश, चहुँ ओर दृष्टिपात किया। उनकी दृष्टि एक द्वीप पर आकर टिक गयी। उन्होंने देखा कि नदी के मध्य में एक छोटा सा द्वीप प्रकट हो गया है। ज़ब भी वायु उस छोटे से द्वीप पर से होकर आती है तो भयानक दुर्गन्ध फैला देती है। महामुनि पराशर सोचने लगे कि उस द्वीप पर ऐसा क्या रखा है, जिसके कारण वातावरण दूषित हो रहा है। मुनि पराशर दुर्गन्ध का कारण खोजने के लिये उस द्वीप की ओर बढ़ चले।

वे जब द्वीप पर आये तो उन्होंने देखा, द्वीप पर एक बहुत ही कुरूप, भयंकर चेहरे वाली नवयुवती, अकेली बैठी हुई है। दुर्गन्ध उसके शरीर से ही प्रकट हो रही है। उसकी देह से सड़ी हुई मछली की तरह की भयंकर दुर्गन्ध आ रही है। वह युवती उस छोटे से द्वीप पर नितान्त अकेली बैठी हुई है।

युवती ने भी द्वीप की ओर आते महर्षि पराशर को देखा, सचेत होकर तत्क्षण उठी और दूर से ही महर्षि पराशर को दण्डवत् प्रणाम किया। आशीर्वचन के उपरान्त, महर्षि पराशर ने देवी से पूछा, ''देवी तुम कौन हो?'' ''इस निर्जन द्वीप पर तुम

अकेली क्यों बैठी हुई हो?'' ''तुम्हारा स्वरूप इतना भयंकर क्यों है?'' तुम्हारे शरीर से इतनी भयंकर दुर्गन्ध क्यों निकल रही है?''

नवयुवती ने उत्तर दिया, ''हे ऋषि! मेरा नाम सत्यवती है। मछुवारे की बेटी हूँ। मुझे वसु देवता ने श्राप दिया है, जिसके कारण मेरा चेहरा इतना भयंकर है। वसु देवता के श्राप के कारण ही मेरी देह से भयंकर दुर्गन्ध भी निकल रही है। योजनगंधा और मत्सगंधा मेरे अभिशप्त नाम हैं। जहाँ मैं बैठती हूँ, वहाँ से एक योजन दूर तक, मेरी दुर्गन्ध जाती है। इसलिए मैं इस निर्जन द्वीप पर अकेली रहती हूँ। यदि किसी जनपद अथवा बस्ती के पास जाऊँ तो बालक मेरे चेहरे की भयानकता से भयभीत हो उठते हैं। तथा सारा समाज मेरी दुर्गन्ध से संतप्त हो जाता है। इसीलिए हे देव! मैं इस द्वीप पर बैठी अपने पापों का प्रायश्चित किया करती हूँ। मैं शूद्र, त्याज्य, अभिशप्त योजनगंधा हूँ! सत्यवती हूँ!''

रुंधे गले से सत्यवती ने अपना परिचय दिया। उसने पुनः विनय की, ''हे देव! आपका इस द्वीप पर दुर्गन्ध के कारण आना, मात्र संयोग तो कदापि नहीं हो सकता। संत, ऋषि और मनीषीजन कहते हैं कि जब किसी के जन्म-जन्मान्तरों के पुण्यों का उदय होता है, तभी उसे किसी तपस्वी के दर्शन का लाभ प्राप्त होता है। भले ही आप मेरी दुर्गन्ध के कारण यहाँ खिंचे चले आये हैं। परन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि मेरी किसी जन्म की तपस्या के पुण्य का उदय हुआ है, तभी तो अभिशप्त योजनगंधा ने आपके पावन दर्शन पाये हैं। देव! जब आप मुझे दर्शन देने के लिए पधार ही गये हैं तो क्या इस अभागिन पर थोड़ी कृपा नहीं करेंगे?''

''देवी! तुम क्या चाहती हो?''

''देव! सारे सन्त और मनीषीजन कहते हैं कि आप त्रिकालज्ञ हैं, तीनों लोकों और तीनों कालों को जानने वाले हैं। हे त्रिकालज्ञ! आप देखकर ये बतावेंगे कि यह, योजनगंधा, कब श्राप मुक्त होगी? हे देव! क्या उसके जीवन में फिर कोई सुबह होगी? वह सुबह कब होगी? कब तक इस अभिशप्त योजनगंधा को इस निर्जन द्वीप पर, यूं ही तड़पना और सिसकना होगा। दया करके आप देखकर बतायें, हे देव।''

सत्यवती के नेत्रों की अश्रुगंगा प्रवाहित हो रही है। सत्यवती की पीड़ा, उसके अश्रु और करूण वेदना से, मुनि पराशर द्रवित हो उठे। वे समाधिस्थ हो गये। कुछ काल के उपरान्त उनके नेत्र खुले तथा उन्होंने कहा, ''देवी! तुम्हारा इस द्वीप पर, वसु देवता से अभिशप्त होकर आना तथा मेरा भी इस दुर्गन्ध के द्वारा यहाँ खिंचे चले आना, मात्र संयोग नहीं है। परमेश्वर की एक अद्‌भुत कल्पना है। एक ऐसी कल्पना जो नये युग को रोशनी देगी। इसी स्थान पर हम दोनों के दाम्पत्य से हमारे

पुत्र वेदव्यास को प्रकट होना है। वेदव्यास ही अगले युगों में धर्म की ध्वजाओं को आरोहित करेगा।''

महर्षि पराशर से भविष्य की घटना सुनकर सत्यवती भयभीत होकर कांप उठती हैं।

महर्षि से कहती है, ''महामुनि ये आप क्या कह रहे हैं। मैं शूद्र, त्याज्य, अन्त्यज, अभिशप्त योजनगंधा! आप पुनीतों के भी पुनीत, महानों के महान, स्वयं महान विष्णु के लीलावतार हैं! जिनकी पावन परछाँई के स्पर्श की कल्पना, मैं स्वप्न में भी नहीं कर सकती। ऐसे पवित्र देव, क्योंकर मेरा दाम्पत्य स्वीकार करेंगे? देव! जो आप कह रहे हैं क्या वह उचित है? आपके द्वारा मेरा दाम्पत्य स्वीकारना, क्या शास्त्र और धर्म सम्मत है? क्या ये अधर्म और पाप नहीं होगा?''

महर्षि पराशर ने उत्तर दिया, ''देवी! मेरे स्पर्श मात्र से तुम श्राप मुक्त होगी। योजनगंधा से योजनसुगन्धा स्वरूप होगा तुम्हारा। जहाँ तुम बैठोगी, वहाँ से एक योजन दूरी तक सुगन्ध जायेगी तुम्हारी। भयभीत मत हो। आगे बढ़ो और मेरा स्पर्श करो।''

डरती हुई, काँपती हुई, बारम्बार महर्षि पराशर द्वारा प्रेरित की जाती, योजनगंधा महर्षि पराशर के चरणों का स्पर्श करती है। तत्क्षण ही वह शाप मुक्त हो जाती है। चेहरे की कुरूपता और भयानकता ज्योर्तिमय सौंदर्य में परिणित हो जाती है। दुर्गन्ध, सुगन्ध में बदल जाती है। वह देवलोक की अप्सरा थी, जो अभिशापवश योजनगन्धा बन गयी थी। दौड़कर जाती है और जल की धाराओं में स्वयं को देखती है। उसे विश्वास नहीं होता है। बारम्बार वह जल को छितरा देती है। फिर - फिर अपनी मुखाकृति को देखती है। जब उसे विश्वास हो जाता है कि योजनगन्धा अब तू योजनसुगन्धा हो गयी है तो आनन्दातिरेक हो उठती है। उन्मादिनी सी, पगली सी दौड़कर महर्षि पराशर के चरणों से लिपट जाती है। विलख - विलख उठती है।

चरणों से लिपटी योजनसुगंधा मुनि से कहती है, ''देव! पहचान गयी मैं आप को आप, स्वयं महाविष्णु हैं, वसु देवता ने जब मुझे श्राप दिया था, तो उन्होंने कहा था, कि जब महाविष्णु ही लीलावतार धारण कर भूमण्डल पर आयेंगे, तभी उनके चरणों के स्पर्श से तुम श्राप मुक्त होगी। हे देव! आप स्वयं महाविष्णु हैं मैं जान गयी आपको।''

महर्षि पराशर योजनसुगंधा, सत्यवती को उठाते हैं और उससे कहते हैं, '' हे देवी! मैं अपने तपोबल से यहाँ अग्नि प्रकट करूंगा, अग्नि के सम्मुख मैं तुमसे गन्धर्व विवाह करूँगा। इसी द्वीप पर हमारे दाम्पत्य से, हमारा पुत्र वेदव्यास प्रकट होगा।''

महामुनि पराशर ऐसा करते हैं। वे अग्नि प्रकट कर सत्यवती का वरण करते हैं। सत्यवती सहज, सुलभ, संकोच के साथ महर्षि पराशर के सामने शंका रखती है,

''देव! हम तो एक द्वीप पर हैं। यहाँ न तो कोई झोंपड़ी है न मकान है और न कोई आवरण है। ये द्वीप हर ओर से दृश्य है। ऐसी अवस्था में हम लोग इस नग्न द्वीप पर दाम्पत्य धर्म को कैसे धारण कर सकते हैं? लोक मर्यादा एवं संकोच''

महर्षि पराशर ने उत्तर दिया, ''देवी! मेरी लीला से अभी इस द्वीप पर एक कृष्ण आवरण उत्पन्न होगा। एक अद्भुत पारदर्शी आवरण आयेगा यहां पर। प्रत्येक व्यक्ति, हमें देखता हुआ भी, हमें जानता हुआ भी; न जान पायेगा और न देख पायेगा कि हम क्या कर रहे हैं।''

इतनी कथा सुनाकर वेदव्यास! तुम मौन हो गये थे। आश्रम का सारा वातावरण रहस्य, रोमांच और जिज्ञासा से भर उठा था। सभी के मन में कौतूहल और जिज्ञासा हिलोरे मार रही थी। आगे की कथा जानने के लिये सभी उतावले थे।

''फिर क्या हुआ? आगे की कथा सुनायें?''

'' विद्वानों जैसे कि महर्षि पराशर ने कहा था, उस निर्जन द्वीप में एक कृष्ण आवरण आ गया। उसी निर्जन द्वीप पर मैंने जन्म लिया था। मैं एक द्वीप पर उत्पन्न हुआ, जो जल के मध्य में था। जिस पर कृष्ण आवरण आच्छादित था, इसीलिए मेरे माता-पिता ने मेरा नाम कृष्ण+द्वीप+अयन = ''कृष्ण द्वैपायन,'' रखा। इस प्रकार सत्यवती मेरी माँ हैं, जो शूद्र हैं तथा महर्षि पराशर मेरे पिता हैं। जो ब्राह्मण हैं। मैं सूत हूँ, अर्थात् ''वर्ण संकर'' हूँ।''

कथा का समापन करके तुम मौन हो गये थे, वेदव्यास! सारे श्रोता, जिज्ञासा के सागर में लहरा रहे थे। ''उग्रश्रवा'' से नहीं रहा गया। वे तुमसे पूछ ही बैठे,

''गुरूदेव कृपाकर बताएं क्या आप हमें जीवन की कथा मात्र सुना रहे थे अथवा रहस्य-लीला बता रहे थे? कृपापूर्वक हम सबके हित में इस रहस्य-लीला के रहस्यों का अनावरण भी करें।''

रहस्य-लीला! कौन नहीं जानता तुम्हारी रहस्य-लीलाओं के जादू को। इतिहास को अध्यात्म के साथ जोड़कर, अध्यात्म को जीवन्त, और व्यवहारिक बनाकर, जन-जन के जीवन को अमृतमय बनाने वाले देव! तुम्हारी रहस्य-लीलाओं ने, युग-युग तक मनुष्य की रोगी मानसिकता को निरोग किया है। भारत और भारती के पूर्ण-पुरुष मात्र तुम्हीं हो, तुमने अपने आराध्य, इतिहास पुरुष को, अध्यात्म की रहस्य-लीलाओं के साथ जोड़कर, जन-जन को ईश्वर की राह ही नहीं दी, वरन धरती का ईश्वर बनाया है। हे चतुर चितेरे! तुम्हारी रहस्य-लीलाओं को तुम्हीं से सुनने

का आनन्द ही कुछ और ही है।

तुमने उग्रश्रवा की इच्छाओं को स्वीकार किया था। कुटिया का वातावरण अनायास ही कितना ज्योतिर्मय हो उठा था।

"हाँ उग्रश्रवा! मैं तुम्हें रहस्य-लीला ही सुना रहा था। लीला तुमको सुनाई मैंने, अब रहस्य भी सुनो। सबसे पहले "पराशर" शब्द के अर्थ को जानें? "परा" शब्द का अर्थ है, ब्रह्मरन्ध्र। "शर" और "अशर" दोनों सूर्य के नाम हैं। वैदिक संस्कृत में "पराशर" शब्द का अर्थ है घट-घट वासी आत्मा। वैदिक संस्कृत में "सत्य", प्रकृति और प्रकृति की अवस्थाओं को कहा गया है। "ऋतम्" आत्मा तथा आत्मस्थ अपरिवर्तनीय सत्य का नाम है। कौन है वह सत्यवती अर्थात् वह प्रकृति जो वसु देवता से अभिशप्त है? वैदिक संस्कृत में "वसु" शब्द अग्नि के लिए प्रयुक्त होता है। वसु देवता अर्थात अग्नियों का देवता। उससे सत्यवती अर्थात् प्रकृति, क्योंकर अभिशप्त होती है, कौन है वह सत्यवती जो वसु अर्थात् अग्नि देवता से अभिशप्त है?"

"गाँव के बाहर पड़ा, घूरे का ढेर! वही तो सत्यवती है। अर्थात प्रकृति है, जो वसु अर्थात् अग्नि देवता से अभिशप्त है। वह दूर, गाँव से बाहर, जो सड़ान्ध का घूरा बना हुआ है, वही अभिशप्त सत्यवती है। कभी किसी का, अप्सरा सा दुर्लभ शरीर था, वह घूरा! परन्तु जब जीव, वासना रूपी अग्नियों से अभिशप्त हुआ, तो खोकर अप्सरा सा शरीर! राख में बदल, दुर्गन्धों का घूरा बन गया। यूँ सत्यवती अभिशप्त हुई वसु देवता से। अपने चारों ओर प्रकृति में देखो। प्रत्येक जीवन्त देह को, अभिशप्त सत्यवती बनते तुम चारों ओर पाओगे। मेरी कथा फिर से सुनो।"

"घूरे के ढेर के पास घट-घट वासी आत्मा अर्थात् पराशर अर्थात् गोविन्द! आये हैं। घूरे के ढेर से, पराशर ने कहा है, कि **चल री सत्यवती! तू मेरी गोपी बन, मैं तेरा गोपाल बनूँ और फिर लौटा दूँ एक वेदव्यास।"**

"घूरे ने, गन्दगी के ढेर ने विनय की पराशर से अर्थात आत्मा से, **नारायण क्या कह रहे हैं? आप पुनीतों के पुनीत, महानों के महान, घट-घट वासी आत्मा! स्वयं परमात्मा के अवतार हैं। मैं शूद्र, त्याज्य, अन्त्यज, अभिशप्त योजनगंधा! प्रभु! आप मेरा स्पर्श करेंगे? क्या ये शास्त्र सम्मत् होगा? क्या ये पाप न होगा? हे पावन देव! जिस मन्दिर में आपकी परछांई अर्थात् मूर्ति प्रतिष्ठित होती है, वहाँ कुछ भी अपवित्र और त्याज्य जाने नहीं पाता। जिनकी मूर्ति के पावन चरणों पर भी पवित्र श्री चन्दन का लेप होता है; ऐसे पवित्र देव, आप मुझ अभिशप्त, अपवित्र योजनगंधा का स्पर्श करेंगे?**

पवित्र आत्मा, पराशर ने उत्तर दिया," **हे सत्यवती! मेरा स्पर्श कर और श्राप**

मुक्त हो, योजनगंधा से योजनसुगंधा का स्वरूप हो तेरा। हे तपोनिष्ठ श्रेष्ठ! उस सड़ी हुई मिट्टी के घूरे ने, दुर्गन्ध ने, जब आत्मा का पवित्र स्पर्श पाया तो सुन्दर चम्पा-चमेली और गुलाब हो गयी दुर्गन्ध, सुगन्ध में बदली। कुरूपता ने दिव्य सौंदर्य पाया।''

हे सन्यासी श्रेष्ठ! मैं पूछता हूँ आपसे, यदि ईश्वर ने दुर्गन्ध को भी अपना स्पर्श न दिया होता तो वह सुन्दर फल कैसे बनती? आपकी क्षुधा, तृप्ति क्योंकर हो पाती। आपके हर ओर, आत्मा के रूप में, स्वयं पराशर, योजनसुगन्धा को बनाकर, क्षण-क्षण लौटा रहे हैं। आत्मा ने तो कभी घूरे से भी छूतपात न की। उसका वर्ण न पूछा। उसकी जाति न जानी?

''जब बन गयी योजनगंधा, योजनसुगंधा, तो आत्मा पराशर ने, काल अर्थात समय रूपी गंगा में, देह रूपी द्वीप पर, उसका वरण किया। योजनसुगंधा, आत्मा के दाम्पत्य में बंध, हर ओर वेदव्यास जन्मने लगी। वह अन्न ही था जो गर्भ में बालक का स्वरूप ले सका। आप अपने ही चारों ओर देखें कि आज भी आत्मा उसी प्रकार योजनगंधा को योजनसुगंधा में परिणित करती है। योजनसुगंधा के दाम्पत्य से हर ओर सम्पूर्ण देहधारियों को संतति से वरद् करती है।

इस प्रकार विद्वानों! वह घूरा ही मेरी माँ है, जिसने माँ बनकर मुझे यह तन दिया। आत्मा ही मेरा पिता है, जिसने दुर्गन्ध से दुर्लभ मनुष्य का स्वरूप प्रदान किया है। दोनों का वर्ण अलग-अलग है। मैं तो हूँ वर्ण संकर! एक बात पूछूँ आपसे? सच बताएँगे मुझको! आपके माता-पिता कोई और हैं क्या?

''हम सब वर्ण संकर हैं!''

सारे सन्त और ऋषिजन मौन होकर सुन रहे थे तुमसे, वेदव्यास! तुम्हारे प्रत्येक शब्द को पिये जा रहे थे। उनका अन्तर घुल रहा था। उनका अज्ञान मिटता जा रहा था! और तुम कथा सुनाते जा रहे थे!

''विद्वानों! उस घूरे को देखो, जिसने हमें दुर्लभ मनुष्य का तन दिया और अपनी इन इन्द्रियों को पहचानों, जो लौटकर, तुम्हें फिर घूरा बना देती हैं। वसु देवताओं से अर्थात् वासनाओं की अग्नियों से अभिशप्त कर देती हैं। खो जाते हैं जीवन के अमृतमय क्षण! मिट जाता है आत्मा का वह पावन स्पर्श! पुनः यह शरीर तुम्हारा, योजनगंधा का, सत्यवती अर्थात घूरे का ढेर बन, दूर-दूर तक दुर्गन्ध फैलाने लगती है। हे पिता पराशर की राह जाने वालों! यदि अपने पिता पराशर अर्थात आत्मा की भाँति अमर होना है, तो दस इन्द्रियों रूपी, दस फन वाला कालिया नाग नथ डालो। असत्य, अज्ञान, भेदभाव तथा इन्द्रियों के विषयों की लिप्तता का यह नाग, तुम्हें हर बार घूरे में लौटाता आया है। आत्मा की राह चलो। आत्मा को पहचानों। अभेद

है आत्मा! आत्मा जीव मात्र से भेद नहीं करता। राम आज भी आत्मा के रूप में, प्रत्येक देह में, जीव की जूठन को रक्त में बदलते हैं। प्रत्येक घट में, जीव रूपी शबरी के जूठे बेर खाते हैं। ईश्वर अर्थात् आत्मा होकर, तुममें और दुर्गन्ध के ढेर में, घूरे में भी भेद नहीं किया। अरे! तो क्या तुम आदमी होकर, आदमी से भेद करोगे? अभेद आत्मा को, अभेद होकर ही पाया जा सकता है। धर्मात्मा वही है जो आत्मा के धर्म का पालन करे।''

''याद करो महर्षि पराशर ने कहा था, कि सत्यवती मेरी लीला से अभी इस द्वीप पर कृष्ण आवरण आयेगा। प्रत्येक व्यक्ति हमें देखता हुआ भी, हमें जानता हुआ भी, न जान पायेगा, न देख पायेगा कि हम क्या कर रहे हैं। हे तपोनिष्ठ श्रेष्ठ! आपके सब ओर, सम्पूर्ण सचराचर में, पराशर निरन्तर योजनगंधा को योजनसुगंधा में, तथा योजनसुगंधा से संतति में प्रकट कर रहा है। फिर भी आप राव मुझसे पूछते हैं कि वेदव्यास नारायण कहाँ मिलेंगे?''

छू जाती है रहस्य-लीला तुम्हारी! वेदव्यास! कहानी तुम अपनी सुनाते हो और उस कथा का नायक, मनुष्य मात्र हो जाता है। सुनकर कहानी तुम्हारी, मेरे पाप मेरे सामने मुखर हो जाते हैं। ब्राह्मण कुल के मिथ्याभिमान, भेदभाव के व्यवहार, सब मेरे सामने चित्रित हो उठते हैं। तब लगता है कि कितना मैला, कितना संकीर्ण, अतीत जिया है मैंने! नेत्र प्रायश्चित के बोझ से बरस उठते हैं। अश्रु जल से दृष्टि धुंधली हो जाती है। तभी तुम लोप हो जाते हो! रह जाता है, वह पीपल का पेड़। शरद् ऋतु की तेज ठण्डी हवायें और चाँदी सी चमकती, तेज धूप। साथ में कुछ धुलता सा, कुछ मैला सा, मेरा वर्तमान और मेरा अतीत!!

हरि ॐ! नारायण हरि!

2

मधुच्छन्दा

वेदव्यास तुम अपने आराध्य की भाँति ही पतित-पावन हो। तुम्हारा स्मरण ही मुझे सर्वांग धो डालता है। छू जाते हैं जब मेरे क्षण तुमसे, मेरे रोम-रोम में एक सुगन्ध सी बस जाती है। हे पितामह! तुम्हारी रहस्य-लीला की, मैं वेद में भी खोज करने निकलता हूँ।

कवीनों मित्रावरूणा तुविजाता उरूक्षया।
दक्षं दधाते अपसम्।। ऋग्वेद 1. 2.9.।।

(कवि) हे आत्मा! हे यज्ञ। (नः) हमको। (दक्षम्) अग्नियों के द्वारा। (दधाते) धारण कराते हो। (अपसम्) प्रलय और उत्पत्ति। (उरूक्षया) हे हृदय में वास करने वाले, अन्तर ज्योति। (मित्रावरूणा) महा प्रलय के आदित्यों को अर्थात् महा प्रलय की अग्नियों को प्रज्जवलित करो। (तु) तथा। (विजाता) वर्ण संकर करो।

हे कवि! हे आत्मा! घट-घट में वास करने वाले यज्ञ! हे मेरे हृदय के अन्तर ज्योति! आज मेरे अन्तर में एक बार फिर, महा प्रलय की ज्योतियों को प्रज्जवलित करो! ज्वालाओं में! ज्वालाओं के गर्भ से, मुझे पुनः दूसरे वर्ण में उत्पन्न करो। हे! यज्ञ! मुझे वर्ण संकर करो। जब-जब तुम मुझे जलाते रहे हो, दूसरे वर्ण में लाते रहे हो। भस्मियों के वर्ण में जलाया मुझे, तो अन्न के वर्ण में मेरा पुनः जन्म हुआ। अन्न के वर्ण में जलाया मुझे, तो बालक के वर्ण में जन्मा। हे यज्ञ! एक बार पुनः मुझे विजाता अर्थात् दूसरे वर्ण में उत्पन्न करो अर्थात् वर्ण संकर करो? अपनी आत्म-ज्वालाओं में जलकर, मेरा नया जन्म हो, देवत्व में।

सूरज आसमान में बादलों के पीछे ढक गया है। शरद् हवा में तीखापन आ गया

है, ठण्ड बढती जा रही है, परन्तु तुम्हारी स्मृतियों में, गर्माहट का बड़ा सुखद आभास हो रहा है। मधुच्छन्दा से तुम अत्याधिक प्रभावित थे। ऋग्वेद के संकलन में तुमने उसे सर्वोपरि स्थान दिया। प्रथम मण्डल का पहला ऋषि बनाया मधुच्छन्दा को।

जो विष को अमृत बनाता है। विषाक्त जीवन में अमृत प्रकट करता है, उसे मधुच्छन्दा कहते हैं। विश्वामित्र ने भी मधुच्छन्दा को यज्ञ-पशु अर्थात् यज्ञमय होने से रोका था। उन्होंने मधुच्छन्दा से प्रार्थना की थी कि यज्ञ के द्वारा ज्योति लोकों में गमन से पूर्व, वह इस अमृतमय ज्ञान को विश्वामित्र के पुत्रों को प्रदान करें। मधुच्छन्दा मान गये थे। परन्तु विश्वामित्र के पचास पुत्रों ने मधुच्छन्दा को अपना अग्रज मानने से इनकार कर दिया था। वे पचास पुत्र अपने पिता विश्वामित्र के द्वारा अभिशप्त हुए और नष्ट हो गये। शेष पचास पुत्रों ने मधुच्छन्दा को अपना अग्रज स्वीकारा था। वे सब "जेता माधुच्छन्दस" कहलाये। इतिहास के वे क्षण मेरी स्मृति पटल पर अंकित हैं। वेदव्यास जब तुम इतिहास को अध्यात्म की करवट देते हो तो इतिहास जीवन्त, अमृतमय और ज्योर्तिमय हो उठता है।

तुमने इस इतिहास को भी अध्यात्म की करवट दी तथा अध्यात्म में आकर विश्वामित्र प्राणी मात्र की समर्पित सेवाओं का प्रेरक बन गया। "विश्वस्य मित्रः" अर्थात प्राणी मात्र को समर्पित होकर जीने का भाव। विश्वामित्र ही तो जीवन का अमृत है। मेरी आयु के सौ वर्ष ही तो विश्वामित्र के सौ बेटे हैं। जीवन के पहले पचास वर्ष, वासनाओं का विष ही पीते रहे। विषाक्त जीवन में ही खो गये वे वर्ष। मैं जान नहीं पाया मधुच्छन्दा को। न स्वीकार पाया मधुच्छन्दा को! समर्पित सेवाओं से हीन वे वर्ष अभिशप्त ही तो थे! काश! जीवन के शेष वर्ष मेरे जन्म के माधुच्छन्दस बन पाते। जीवन धन्य हो जाता। वेदव्यास! मधुच्छन्दा, विष से अमृत लाता है और तुम इतिहास को अध्यात्म में ढालकर अमृतमय बनाते हो! इतिहास को अमृत बनाने वाले तुम भी अद्भुत मधुच्छन्दा हो।

मधुच्छन्दा की कहानी, सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र से आरम्भ होती है। राजा हरिश्चन्द्र निसन्तान थे। उन्होंने सन्तान की इच्छा से प्रेरित बहुत से अनुष्ठान करवाये। परन्तु उन्हें सन्तान की प्राप्ति नहीं हुई। दुखी राजन ऋषि विश्वामित्र की शरण में गये। विश्वामित्र ने उन्हें समझाया कि वे पुत्र मोह का परित्याग करें। उन्हें मोक्ष की प्राप्ति का समय है। पुत्र की मोहासक्ति, उनके सम्पूर्ण पुण्यों का विनाश कर देगी। मोहासक्त राजा नहीं माने। वे बारम्बार ऋषि विश्वामित्र के आश्रम पर जाकर याचना करते। बालक की भांति रोते, गिड़गिड़ाते। महामुनि पसीज गये। उन्होंने कहा, "राजन! मैं तुम्हें पुत्र प्राप्ति का वरदान, एक शर्त पर दे सकता हूँ। बालक के जन्म के पांच वर्ष के उपरान्त, तुम उसको मुझे दान कर दोगे। उसे पुनः

क्षीरसागर लौटना होगा। वह साधारण बालक न होकर मेरा ही तप होगा। उसे पुनः यज्ञ में समाधिस्थ होना होगा।"

राजा हरिश्चन्द्र मान गये। यथा समय उन्हें पुत्र रत्न की प्राप्ति हुई। ऋषि विश्वामित्र ने उसका नाम रोहिताश्व रखा। यज्ञ की अग्नियों में अमर वास करने वाला, सो रोहिताश्व। बालक के प्रति बढ़ते अनुराग के कारण राजा और रानी की आसक्ति बढ़ती गयी। जब भी ऋषि विश्वामित्र, बालक को लेने के लिये आवें, राजा रोकर, गिड़गिड़ाकर, कुछ अधिक समय मांग लें।

मुनि विश्वामित्र भी दुखी हो उठे। उन्हें आभास हो गया कि मोहासक्त राजा ने उन्हें भी भारी धर्मसंकट में डाल दिया है। दया करके वे भी पाप की चपेट में आ गये हैं। उन्हें राजा को मोहासक्ति से छुड़ाना होगा। उन्होंने राजा को समझाना चाहा। राजा ने रोहिताश्व के स्थान पर दूसरे बालक को दान करने की आज्ञा मांगी। ऋषि विश्वामित्र मौन हो गये। उन्हें आभास हो गया कि हरिश्चन्द्र भारी दण्ड के उपरान्त ही मोहासक्ति से छूट पायेगा। उन्हें ही दण्ड का विधान करना होगा।

राजा हरिश्चन्द्र, अपनी पुत्र मोहासक्ति के वशीभूत, ऋषि आश्रमों के चक्कर लगाने लगे। कोई उन्हें अपना बालक दान कर दे, जिसे राजन अपने पुत्र के स्थान पर विशमित्र को सौंप कर, मुक्त हो जायें। वह बालक मधुच्छन्दा ही था। मधुच्छन्दा को लेकर हरिश्चन्द्र, मुनि विश्वामित्र के आश्रम में पधारे। उन्होंने बालक को ऋषि विश्वामित्र को सौंप दिया और लौट गये।

विश्वामित्र ने बालक की ओर निहारा तो वे चौंक उठे। उन्होंने मधुच्छन्दा को यज्ञ अश्व बनने से रोक दिया। बालक अवतारी है, ऐसा जानकर विश्वामित्र ने अपने एक सौ पुत्रों को बुलाया। उनसे कहा कि वे बालक मधुच्छन्दा को अपना अग्रज मानें। पचास पुत्रों ने ऐसा करने से मनाकर दिया। वे ऋषि विश्वामित्र द्वारा अभिशप्त हो गये। विश्वामित्र के कहने पर ऋषि मधुच्छन्दा रुक गये। ऋषि मधुच्छन्दा ही ऋग्वेद के प्रथम ऋषि सुशोभित हुए।

महाराज हरिश्चंद्र को प्रायश्चित के रूप में, राजपाट सबकुछ खोकर, चाण्डाल की नौकरी करनी पड़ी। पत्नी, पुत्र का भी त्याग करना पड़ा। इसके सूत्रधार बने महामुनि विश्वामित्र!

एक घटना तो तुम्हें बताना ही भूल गया था। कुछ वर्ष पूर्व अनायास उसी स्थान पर जा पहुँचा, जहाँ मधुच्छन्दा ने यज्ञ के द्वारा गमन किया था। सुन्दर दारूक सघन वन, उत्तरायणी गंगा, पर्वत से उतरती हुई वह घाटी, देखकर स्तब्ध रह गया था मैं। कितना विस्मय हुआ था। युगों का अन्तराल और दृश्य ज्यों का त्यों खड़ा था! कुछ भी तो उसमें बदला न था। समाधियों के क्रम में भी मधुच्छन्दा की समाधि वैसी

ही खड़ी थी। देखकर रोमांच हो आया था मुझको! अतीत के वे क्षण एक बार फिर जगमग हो उठे थे।

तुमने मधुच्छन्दा से वेद की कामना की थी। मधुच्छन्दा ने तत्क्षण स्वीकार कर लिया था। मधुच्छन्दा ने वेद के ज्ञान के साथ यज्ञ-पशु (यज्ञ के द्वारा पशुपताग्नियों का वरण करते हुए अनन्त की राह लेना) होने की इच्छा भी की। तुमने बहुत रोकना चाहा था उनको। परन्तु वे नहीं माने थे। उनकी सम्पूर्ण देह ज्योर्तिमय हो रही थी। अंग-अंग से ज्योतियाँ प्रस्फुटित हो रही थीं। विशालकाय बलिष्ठ शरीर, रक्ताभ हो रहा था। नेत्रों में उन्माद के साथ ही शून्य भाव प्रकट हो चुके थे। सारे ऋषि मौन, ध्यान में सिर झुकाये बैठे थे। मधुच्छन्दा सुनकर भी नहीं सुन रहे थे। उनके अन्तर में ज्वालायें प्रज्ज़्वलित थीं। प्रातःकाल के सूर्य की भाँति, सर्वांग ज्योर्तिमय, उनकी विशाल देह हो रही थी। वे उठे और अश्व की ओर बढ़े। सब जान गये थे कि मधुच्छन्दा अब रुकेंगे नहीं। सभी सस्वर मंगलगान कर रहे थे। शंखनाद के साथ, महा तपस्वी मधुच्छन्दा, अपने शिष्यों के साथ चल दिये थे। पहाड़ियों और घाटियों को लांघते हुए अश्वारोही निरन्तर उत्तरायणी गंगा की ओर बढ़ रहे थे। मुझे वह पर्वत, वह राह, प्रत्येक क्षण याद हैं। उत्तरायणी गंगा के तट पर, मधुच्छन्दा अश्व से उतर गये। अश्वमेध यज्ञ की वेदियां बनायी गईं। मंत्रोच्चारण के साथ अश्विना अर्थात् ब्रह्म ज्वाला प्रकट हुई। यज्ञ-पशु बन वेदी पर मधुच्छन्दा विराज चुके थे। मंत्रोच्चारण के साथ गगन देवताओं के आवाहन के साथ ज्योर्तिमय हो रहा था। आहुतियां दी जा रही थीं। मधुच्छन्दा की देह से अद्भुत ज्योतियां प्रकाशित हो रही थीं। उनके शरीर पर तेज, तीव्र होता जा रहा था। तभी मधुच्छन्दा की गरू गम्भीर वाणी गूँजने लगी। वे सूक्त जो उन्होंने गाये थे, ऋग्वेद का आरम्भ बने। वेदव्यास, तुमने उन्हीं सूक्तों का मधुच्छन्दा से संकलन किया था। गूँजते वेद की ऋचाओं के साथ, मधुच्छन्दा ब्रह्माण्ड को फाड़, ज्योर्तिमय स्वरूप को धारण करते, अनन्त में विलीन हो गये। ऋषियों ने यज्ञ की पूर्णाहुति दी। मधुच्छन्दा के पार्थिव को तुमने समाधि दी थी। समाधियों के क्रम में, उस तीसरे शिव लिंग को मैंने पहचान लिया। उत्तरायणी गंगा के इस तट पर भीड़ के साथ, मैं खड़ा था, फिर भी नितान्त अकेला। कुछ क्षण फिर मैंने तुम्हारे साथ जिये थे।

समाधि पर शिवलिंग? अतीत की वह परम्परा, जो अब लुप्त प्राय है। उत्तरायणी गंगा के तट पर, शवदाहगृह बनाये जाते थे। जहाँ-जहाँ नदी उत्तरमुखी होती है, वहाँ पर इस प्रकार के स्थल बनाने की परम्परा थी। शवदाहगृह (श्मशान घाट) दो भागों में विभाजित रहता था। उत्तर और दक्षिण। उत्तर भाग में ब्रह्माण्ड से प्रकट हो गये योगियों और तपस्वियों की समाधियां बनायी जाती थीं। दक्षिण भाग

में पितृयान से जाते लोगों के लिए चिताग्नि की व्यवस्था होती थी। उत्तरायण भाग में तपस्वी की समाधि के ऊपर, प्रलय के देवता महाशिव का प्रतीक स्वरूप, शिवलिंग लगाया जाता था। अपनी ही आत्म ज्वालाओं में, महाप्रलय की अग्नियों को प्रज्जवलित करते जो ब्रह्माण्ड से ज्योति बनकर प्रकट हो जाते थे, उनकी ही समाधियों पर ज्योतिर्लिंग के रूप में शिवलिंग लगाने की परम्परा थी। दक्षिणायण शवदाहगृह में, जब तक कोई चिता नहीं जलाई जाती थी, तब तक श्मशान के देवता भैरव (शिव का रूप) पर प्रसाद नहीं चढ़ता था। चिता जले तो भैरव की आरती हो और प्रसाद चढ़े। यदि किसी दिन कोई भी शव चिताग्नि के लिए नहीं आता था, तो उस अवस्था में, एक कम्बल को अग्नि देकर, भैरव को प्रसाद चढ़ाने की परम्परा थी। ये परम्परायें गुलामी के अन्तरालों में, मैदानी भागों में समाप्त हो गयीं। इन परम्पराओं का प्रचलन पर्वतों पर अब भी है।

बदलते समय के साथ बहुत कुछ बदल चुका है। परन्तु इस बदलाव में भी, वेदव्यास! तुम्हारी छाप अमिट है। मधुच्छन्दा की समाधि पर मैंने तुम्हें पाया है। उत्तरायणी गंगा के तट पर, न जाने क्यों पकृति, उस दृश्य को ज्यों का त्यों स्थिर किये हुए है? पता नहीं किसके इन्तजार में वह इस दृश्य को संजोये हुए है? उन समाधियों के बीच में न जाने कितनी देर, मैं बैठा रहा था। कितने अनुपम थे वे क्षण!

हरि ॐ! नारायण हरि!

3

देविका के तट

समय कभी किसी के लिए रुकता नहीं है। निर्बाध गति से काल बढ़ता ही रहता है। परन्तु इतिहास के कुछ क्षण ऐसे भी आते हैं, जब काल स्तब्ध रह जाता है। ठहर जाता है। ऐसे ही कुछ क्षण, उस समय मेरे सामने फिर प्रकट हो गये थे, जब अचानक मैं देविका के किनारे पहुँच गया था। देविका उतनी ही शान्त स्थिर और मौन! किनारे पर लगा पीपल का पेड़ उतना ही झुका हुआ! हजारों सालों के अन्तराल और दृश्य ज्यों का त्यों, स्थिर! लग रहा था मानो छः हजार सालों के अन्तराल को भी, वक्त ने स्थिर, स्तब्ध, होकर ही जिया है। इतिहास नायक श्री कृष्ण को वहीं पर तो बाण लगा था। उनका पार्थिव देविका की गोद में गिर पड़ा था। पार्थिव, शव ही नहीं है, अन्यथा पूरा दृश्य ज्यों का त्यों स्थिर है। कुछ भी तो नहीं बदला है। देविका के तट पर मेरे क्षण, फिर मेरे समीप हो गये थे। स्मृतियाँ मुखर होने लगी थीं। पीपल का झुका सा पेड़। देविका के ऊपर, लहराती हुई, पीपल की टहनियां और पत्तियों के झुरमुट! शांत, मौन, निश्चल गम्भीर, देविका का जल! मैं, भीतर तक भीग गया था।

वर्तमान भावनगर से लेकर द्वारिका तक सम्पूर्ण, सौराष्ट्र का प्रदेश, द्वारिका की लीला-स्थली के रूप में जाना जाता था। अपने इस जीवन के स्वर्णिम काल को जी रहा द्वारिका साम्राज्य! उनका नायक द्वारिकाधीश श्रीकृष्ण ईश्वर से किसी तरह कम नहीं था। प्रत्येक दिल की धड़कन, हर आंख की रोशनी, होठों का गीत था, भगवान श्रीकृष्ण! भगवान श्रीकृष्ण ने सौ द्वारिकायें बनायी थीं तथा एक गुप्त द्वारिका भी बनायी थी। इन द्वारिकाओं के पीछे उनका उद्देश्य था, दास प्रथा की समाप्ति। असुर

राजाओं के द्वारा बन्दी बनायी गयी स्त्रियों और पुरूषों को छुड़ाने के लिए ही श्रीकृष्ण ने द्वारिकाओं को बनाया था, तथा एक विशाल जल सेना का संगठन किया था। असुर राजाओं के बेड़े बन्दियों को लेकर बंगाल की खाड़ी से चलते। तट के किनारे बढ़ते हुए वे मिडिल-ईस्ट तक जाते। जहाँ काल-यवन आदि असुर राजा गुलामों को खरीदकर उनसे **पिरामिड** आदि बनवाते थे। वासुदेव का संकल्प था कि किसी भी निरीह अबला को अथवा भरत खण्ड के किसी नागरिक को बन्दी नहीं बनने देंगे। द्वारिकाधीश, इन जहाजी बेड़ों पर आक्रमण करते और बन्दियों को छुड़ाते। गीता का अमृतमय ज्ञान देकर तथा धन-धान्य से वरदकर उन्हें पुनः जीवन में स्थापित करते। द्वारिकाधीश, उनके राजा ही नहीं, उनकी अंतरात्मा के भगवान भी थे। वेदव्यास! वे सारे क्षण देविका के तट पर, एक बार फिर मेरे नेत्रों में जगमग हो उठे थे। एक बार फिर मैंने, उन क्षणों में जिया था।कृषकी द्वारिकाओं के कारण असुर राजाओं का व्यवसाय ठप हो गया था। परन्तु कृष्ण संतुष्ट नहीं थे। धरती से असुर प्रथाओं को वे मिटाना चाहते थे। मनुष्य को गुलाम बनाना, मानवता को पाशिवकता, पैशाचिकता के हाथों बन्दी बनाना, श्रीकृष्ण को सहन नहीं था। असुर संस्कृति को मिटाने के लिए कृष्ण ने युद्ध के बिगुल बजाये। यादव सेनायें धरती को रौंदती मध्य एशिया तक, असुर शक्तियों को जन विहीन करती, पश्चिमी देशों तक जा पहुँची थी, पश्चिमी तट पर भी कृष्ण ने भयंकर युद्ध लड़े, जहाँ आज भी उन देशों के लोग (वार आफ एटूलान्टिक) एक धुंधली सी स्मृति के रूप में संजोये हुए हैं।

असुरत्व को मिटाकर मानवता का संदेश जन-जन तक पहुँचाने, निरीह लोगों को गुलामी से स्वतंत्र कर, एक स्वतंत्र जीवन का उपदेश देते, श्रीकृष्ण द्वारिका लौटे थे। कितने प्रसन्न थे वे। उनका संकल्प पूरा हुआ था! असुर शक्तियाँ मिट चुकी थीं! परन्तु एक दिन उन्हीं के पुत्र, सत्यभामा नन्दन, "साम्ब" ने जब एक निरीह बकरे पर बाण मारा था, उस बाण के साथ ही वासुदेव टूट गये थे!

तुम वहाँ पर पधारे थे। द्वारिकाधीश मिलने आये थे तब उन्होंने तुम्हारे सामने अपनी ही जंघाओं पर अपने अस्त्र-शस्त्र तोड़े थे। कृष्ण ने तुमसे कहा था।

"पितामह! आज मैं पराजित हूँ! अस्त्र और शस्त्र कभी भी असुरत्व को नहीं मिटा सकते हैं। जिस असुरत्व को हजारों राजाओं के साथ मैं सारे विश्व में मिटा आया हूँ, वहीं असुरत्व आज मेरे यादव राजाओं में प्रकट हो गया है। पितामह! मैं जीतकर भी हार गया हूँ। किशोरावस्था से ही हमने अस्त्र-शस्त्र धारण किये थे। इस संकल्प के साथ, कि हम धरती पर असुरत्व को मिटायेंगे। हमारे शस्त्र, असुरत्व को मिटाने के लिए ही प्रयुक्त होंगे। **पिता बाग का मालिक है, परमेश्वर!**

हम सब उसके पुत्र हैं, बाग के माली हैं। वह बाग को बना रहा है, हमारा धर्म है कि हम भी पिता के सहयोगी बनें और बाग को सजायें-संवारें तथा उसकी सुरक्षा करें। निरीह पशु-पक्षियों के लिए तथा सताये हुए लोगों की रक्षा के लिए हमने शस्त्र उठाया था। जो इनको सतायेगा, हम उनको मिटा देंगे। यही संकल्प हमारा था। इसी संकल्प को लेकर असुरों को, दास बनाने की प्रवृत्ति वाले राज्यों, तथाकथित धर्मों और सम्प्रदायों को हमने धरती से मिटाया है। पितामह! मैं उन्हें मिटाकर भी नहीं मिटा पाया। आज मेरे पुत्र ने ही एक निरीह समर्पित पशु पर बाण का संधान किया है। असुरत्व मेरे ही घर में प्रवेश पा गया है। अस्त्र-शस्त्र कभी भी धरती से असुरत्व, उन्माद, दूसरों को सताने की प्रवृत्तियों को कदापि नहीं मिटा सकते हैं। पितामह! आज मैं इन शस्त्रों को अपनी जंघाओं पर तोड़ता हूँ। मैं अपनी पराजय स्वीकार करता हूँ।''

तुमने कितनी सांत्वना दी थी? परन्तु श्रीकृष्ण नहीं माने! तुम्हारे ही द्वारा उन्होंने प्रद्युम्न का राजतिलक करवाया। श्रीकृष्ण पुत्र प्रद्युम्न द्वारिकाधीश सुशोभित हुए। श्रीकृष्ण, वानप्रस्थ धर्म की दीक्षा तुमसे लेकर वानप्रस्थी हो गये। अस्त्र और शस्त्र का उन्होंने सदा के लिए परित्याग कर दिया। इतिहास कितनी जल्द करवट लेता है।

उसी के कुछ समय उपरान्त जब दुर्योधन और अर्जुन युद्ध में श्रीकृष्ण को आमंत्रित करने के लिए पधारे, तो वासुदेव ने स्वयं युद्ध न लड़ने की असमर्थता व्यक्त की थी । वासुदेव वानप्रस्थी होने से अब अस्त्र-शस्त्र धारण नहीं करेंगे। तब अर्जुन ने वासुदेव से प्रार्थना की कि वह सारथी ही बनें। माधव मान गये थे। महाभारत युद्ध का नायक, स्वयं निहत्था ही युद्ध लड़ा था।

पितामह! तुमने इतिहास पुरूष श्रीकृष्ण को सदा परमेश्वर ही माना था। जब-जब ऋषि, संत और मनीषीजन तुमसे इसका कारण पूछते थे, तुम सशक्त तर्क और प्रमाण के द्वारा भी यहीं सिद्ध करते थे कि कृष्ण स्वयं परमेश्वर के अवतार हैं। कृष्ण तुम्हारे आराध्य थे। कृष्ण तुम्हारे सब कुछ थे।

महाभारत युद्ध के उपरान्त वासुदेव द्वारिका लौटे! देविका के तट पर वानप्रस्थ धर्म का वे निर्वाह करते रहे। एक अकिंचन साधक! प्राणी मात्र की सेवा में जी रहा, अतीत का एक, विनम्र सम्राट! देविका के किनारे तपता, मौन तपस्याओं तथा समर्पित सेवा का मौन, विनम्र साधक! समय फिसलता रहा! वानप्रस्थी कृष्ण ने समय के साथ, सन्यास धर्म धारण किया। उनको सन्यास देने वाले भी तुम्हीं थे। द्वारिका को छोड़कर सन्यासी चला गया वन में! अपनी समाधियों और तपस्याओं में! तुम लौट गये थे! समय के अन्तराल फिसलते चले गये।

समय कुछ गहराता जा रहा था! क्षितिज पर कुछ लालिमा सी छाने लगी थी। लग रहा था, कुछ अनचाहा, अनजाना होने को है। इसका आभास उद्धव को भी हुआ था।

जब उद्धव जी, सन्यासी श्रीकृष्ण के दर्शन करने गये थे, उन्हें सन्यासी वेश में देखकर, वे रो उठे। अनायास कह उठे,'' नारायण! यह क्या? हे भक्तवत्सल! यह कैसी लीला? हे अजन्मा अविनाशी परंब्रह्म! आपको सन्यास की क्या आवश्यकता?''

''उद्धव! सृष्टि के नियमों का पालन सभी के लिये अनिवार्य है। उनके लिये अधिक अनिवार्य है, जो इन नियमों को बनाने वाले हैं। अपने बनाये नियमों का, यदि नियम बनाने वाले ही पालन नहीं करेंगे, तो सारी प्रथायें एवं व्यवस्थायें नष्ट भ्रष्ट हो जायेंगी। उद्धव! हे निष्पाप! अब हमारे भी गमन के क्षण हैं। हमें भी लीला समापन कर लौटना होगा। यही सृष्टि का नियम है।''

''नारायण! आप ऐसा क्यों कह रहे हैं? गोविन्द! आपके बिना धरती का क्या होगा? उन यदुवंशियों की भी तो सोचिये, जो आपके बिना अनाथ होकर रह जायेंगे?'' रो पड़े, उद्धव!

''उद्धव! वे भी मारे जायेंगे। सागर के किनारे की घास, उन सबको मिटा देगी।''

''नारायण! वे अजेय योद्धा, जो नाना वीरों द्वारा भी न मारे जा सके। उन्हें सागर के किनारे की घास मार देगी? भला कैसे?''

''उद्धव! सागर के किनारे की घास, डूबते को तिनके का सहारा बनती है। वे सहारे ही अन्त करते हैं, निरूद्धेश्य जीवन का। उद्धव! परमेश्वर ने जब धरती बनायी। उसे वसुन्धरा बनाया। नाना पेड़ पौधों, पशु पक्षियों से जीवन्त किया। तब परंब्रह्म के मन में आया कि वे कुछ बुद्धि से वरद जीवन भी पृथ्वी पर लायें। जो उनके बनाये इस बाग का माली बन, परंब्रह्म का सहयोग करे। बाग की रक्षा तथा सेवा करे। उसने मनुष्य को सचराचर रूपी बाग का माली बनाकर प्रकट किया। उद्धव! जब माली ही बाग उजाड़ने पर उतर आये, सेवा के स्थान पर मालिक बनने लगे। तो उस उजड़े बाग का विधाता, मालियों का क्या करे? माली भी तो उजड़ जावेंगे! उद्धव! अब मालियों के उजड़ने की बारी है।''

श्री कृष्ण ने विस्तार से उद्धव को उपदेश किया। तब उद्धव ने पूछा,'' गोविन्द! मेरे लिये क्या आदेश है?''

''उद्धव! तुम बदरि बन चले जाओ। उस स्थान पर नर एवं नारायण पर्वत हैं। जहां कभी मैंने और अर्जुन ने, नारयण एवं नर के रूप में तपस्या की थी। वे स्थान अति पवित्र, रमणीय एवं मेरे द्वारा रक्षित है। तुम वहीं पर जाकर तप करो। श्री राधा से प्राप्त ज्ञान का भक्तिपूर्वक अनुसरण करो। मैं तुम्हें वहीं मिलूंगा। यह सम्पूर्ण

प्रदेश, सागर की प्रलय लीला में डूब जायेंगे।''

सन्यासी से दीक्षित हो, उद्धव बद्री वन को चले गये थे, जीवन की अन्तिम यात्रा के लिए। गगन कुछ गहरा हो उठा था! दिशायें फुसफुसा रही थीं! कुछ होने वाला है! कुछ होने वाला है!!

देविका के किनारे झुका हुआ पीपल का पेड़ और उसके नीचे गहन समाधि में तप रहा एक संन्यासी! अचानक एक झटके से वह जाग्रत होता है। उसे लगता है कि वह एक ज्योति पुँज के रूप में, गगन में खड़ा हुआ है। देविका की लहरों में एक निर्जीव देह तैर रही है। तभी उसे लगता है कि वह पार्थिव उसका ही शरीर है। पीपल के खड़खड़ाते पत्तों की ध्वनि! लहरों पर धीरे-धीरे हिलता उसका निर्जीव शरीर! कौंधती बिजलियों सा दमकता तेज! आज गगन से, नीचे की ओर देखता हुआ, वह स्वयं! फिर सब कुछ लोप हो जाता है। वह नहीं जानता है कि क्या हुआ? किसके द्वारा हुआ?

इतिहास ही इसका साक्षी है कि किसी बहेलिये ने उसे बाण मारा था। देविका में तैरती हुई उसकी निर्जीव देह को, श्री बलराम ने अग्नि दी थी। यह घटना द्वारिका से लौटते समय अर्जुन ने तुमको बताई थी। तुम तड़प उठे थे। शीघ्रता से देविका के तट पर पधारे थे। जहाँ ठण्डी चिता पर, मौन बैठे, श्री बलराम को देखा था तुमने! अजेय बलराम, कभी न हारने वाला योद्धा बलराम! कितना थका हुआ! कितना टूटा हुआ! कितना दीन! अपने ही नायक की चिता की भस्मी पर, जीवन में पहली बार, तुम फूट-फूट कर रोये थे। तब तुमने वहाँ संकल्प लिया था।

''जा रहे हो मेरे नायक! मेरे हृदय के देवता! मेरे आराध्य । मेरे परमेश्वर! ये अभागी धरती तुम्हें रोक नहीं पायी। मेरे देव! तुम इस धरा से कभी जा नहीं पाओगे। मैं तुम्हें धरती का भगवान बनाऊंगा! हे नायक! मेरी कथाओं के द्वारा, अब तुम घट-घट वासी नायक बनोगे! धरती के प्रत्येक क्षण में, तुम मुस्कराते रहोगे। प्रत्येक मनुष्य के जीवन की जगमगाती राह बनोगे तुम! हे कृष्ण! तुम्हें मानवता कभी भुला नहीं पायेगी......''

तब तुमने इतिहास को अध्यात्म की करवट दी थी! इतिहास पुरूष श्रीकृष्ण के जीवन को, घट-घट वासी, आत्म तत्व से जोड़कर, अध्यात्म को, महाकाव्य और कथाओं के रूप में जन्म दिया था। तुम्हारी ये श्रद्धांजलि, ये पुष्पांजलि, धरती की अमर राह बन गयी। इतिहास करवट लेकर अध्यात्म बन बैठा। तुम लौटकर बद्री वन में उद्धव से मिले। तुम्हारे सामने उद्धव भी अनन्त ज्योतियों को प्राप्त हो गया था। व्यास गुफा में तुमने महाभारत, महाकाव्य को जन्म दिया और भागवत की कथायें तुम्हारे अन्तर से प्रकट हुई।

वेदव्यास! भीड़ के साथ मैं देविका के तट पर खड़ा हूँ! युग नहीं जानते हैं मूल द्वारिका कहाँ थी? सोचता हूँ अब न ही बताऊँ। परन्तु लगता है कि बता देना ही उचित होगा। देविका, हिरण्या और सरस्वती का प्रयाग मेरे सामने है। इसी प्रयाग पर इतिहास ने अध्यात्म का रूप धरा था। अतीत की स्मशतियों के साथ मेरा रोम-रोम, इस महा प्रयाग के तट पर फिर भीग रहा है। पीपल का पेड़ भी उतना ही झुका है। ठीक उसी स्थान पर है! परन्तु उतना बूढ़ा नहीं है, बहुत नौजवान है वह पेड़। आश्चर्य है कि उसी स्थान पर है। मुझे बहुत विस्मय होता है ये देखकर कि अब भी उतना ही झुका है। देविका उतनी ही शान्त और स्थिर है। हिरण्या का संग लिये है।

सरस्वती भी खोई हुई है, उतनी ही सूखी हुई नदी है। एक बार फिर मैं उसकी रेत में गढ़्ढ़ा करता हूँ! वासुदेव का नाम लेकर जय घोष करता हूँ! अचानक उस सूखे गढ़्ढ़े में लबा-लब पानी भर जाता है। भीड़ स्तब्ध देखती रहती है, मैं उनसे कहता हूँ कि इस गड्ढे में आप सब लोग स्नान करो। इस गढ़्ढ़े का पानी समाप्त नहीं होगा। वे ऐसा ही करते हैं। थोड़ी दूर पर मैं उनको अतीत के उन क्षणों की कथाओं को बतलाता हूँ, अति संक्षेप में।

उन सब को लेकर पुनः उसी गढ़्ढ़े के समीप आता हूँ। वहाँ कोई गढ़्ढ़ा नहीं है। वही सूखी रेत! लुप्त हो चुकी सरस्वती! ठहरा हुआ समय! स्थिर हो गयी वहाँ की दृश्यावलि! सम्पूर्ण दृश्य हजारों साल से वैसा ही है! न जाने किसकी इन्तजार है।

हरि ॐ! नारायण हरि!!

4

बाण लीला

वेदव्यास! इतिहास, अध्यात्म और सृष्टि विज्ञान के तुम महा प्रयाग हो। श्रीकृष्ण तुम्हारा इतिहास भी है और अध्यात्म भी। सृष्टि विज्ञान और मोक्ष-परक मार्ग तुम्हारा! ऋग्वेद का पहला ऋषि मधुच्छन्दा है। तुमने तीनों धाराओं का विलक्षण समिश्रण किया है। रहस्य-लीलाओं के तुम अनूठे जादूगर हो। इतिहास के दुखते, पीड़ादायक घटनाक्रम भी, तुम्हारे द्वारा जब अध्यात्म की करवट लेते हैं, तो सुखद, आनन्दमय, अलौकिक ज्ञान के विशाल सागर बन जाते हैं। इतिहास पुरूष के साथ हुए घटनाक्रम को, तुमने रहस्य-लीला का स्वरूप दिया था। आज पुनः उस कथा को सुनाना चाहता हूँ।

देविका के पावन तट पर विशाल झुके हुए पीपल के पेड़ के नीचे एक सन्यासी पेड़ के तने से पीठ लगाये अधलेटा से समाधिस्थ हैं, वे ही तुम्हारे नायक हैं, गोविन्द, वासुदेव! वृक्ष, देविका की ओर झुका हुआ है! उसकी लम्बी टहनियां और पत्तियां देविका के जल के अति समीप हो रही हैं। सन्यासी गहन समाधि में है। सुन्दर, सुरम्य, शान्त वातावरण है। ब्रह्ममुर्हूत्त का समय है। अभी पूरब से प्रकाश फैला नहीं है। धीरे-धीरे गगन पर ब्रह्ममुर्हूत्त की लालिमा दिखने लगी है। धुंधला सा प्रकाश फैलने लगा है। दूर पर एक निषाद प्रकट होता है। उसे लगता है, नदी के तट पर पेड़ के नीचे कोई हरिण बैठा हुआ है। समाधिस्थ योगी की देह से नीलाभ कान्तियां प्रकट हो रही हैं। बहेलिया हरिण के धोखे में बाण चला देता है। विष का बुझा हुआ वह बाण समाधिस्थ तपस्वी को आहत कर जाता है। बहेलिया उस धुंधलके में शीघ्रता से अपने शिकार की ओर बढ़ता है। पीपल के पेड़ के पास आता है तो

स्तब्ध रह जाता है। जब उसे आभास होता है कि उसने हरिण के धोखे में एक समाधिस्थ सन्यासी को बींध डाला है, तो वह अत्यधिक दुःखी और भयभीत हो उठता है।

घायल तपस्वी की समाधि खण्डित हो जाती है। धीरे-धीरे उसके नेत्र खुलते हैं। वे बहेलिये की ओर देखते हैं। पश्चाताप की अग्नियों से दग्ध बहेलिया धरती पर गिर पड़ता है, और रोकर कहता है।

''प्रभु मैंने आज एक जघन्य पाप कर डाला। हरिण के भ्रम में, स्वामी, आपको बींध डाला'' बहेलिया फूट-फूट कर रोने लगता है।

समाधिस्थ योगी के होठों पर एक मोहक मुस्कान फैल जाती है। वह उत्तर देते हैं,

''पगले! पहली बार तुझे सत्य का दर्शन हुआ है और तू कह रहा है, कि तूने धोखे से बाण मारा है?''

''नहीं स्वामी! मैं सत्य कह रहा हूँ। मैंने हरिण के धोखे में आपको बाण मारा है।''

''इसीलिए तो कह रहा हूँ कि तुझे पहली बार सत्य का दर्शन हुआ है।''

मुस्कुराकर तपस्वी ने उत्तर दिया। पुनः तपस्वी की वाणी गूंजी---**''प्रत्येक बार जो बाण तूने हरिण को मारा था, वह बाण लगा तो ईश्वर के हृदय में ही था। आत्मा के रूप में, हरिण में व्याप्त ईश्वर ही तो उस बाण से आहत हो रहा था। आज तुझे पहली बार सत्य का दर्शन हुआ है। तेरा प्रत्येक बाण विधाता को ही विदीर्ण करता रहा है। जा अब न सताना किसी को। जानना परमेश्वर ही आत्मा होकर सबमें व्याप्त हैं। दूसरों को बाण मारने वाले, अपने ही सुखों को बींध जाते हैं। भय मत कर! मैं तुझे इस पाप से मुक्ति देता हूँ।''**

पूरब में सूरज उग रहा था और तपस्वी के नेत्र बन्द होते जा रहे थे। देविका की ओर वृक्ष से टिका योगी, विष के प्रभाव से निढ़ाल हो रहा है। उसका पार्थिव लुढ़ककर देविका की गोद में जा गिरा। एक ज्योति पुंज जगमगाता हुआ पुनः प्रकट होता है। गगन की ओर उठता ही चला जाता है तथा लोप हो जाता है। देविका की शान्त धारायें तड़प उठती हैं। लगता है, जैसे सारी नदी में भयंकर ज्वार आ गया हो, उफनती लहरों सी देविका एक देवी का रूप धरकर प्रकट होती हैं। उनके चेहरे पर पीड़ा, विषाद, क्रोध और उत्तेजना का मिला-जुला भाव है। देवि के रूप में प्रकट हुई देविका, अपने साथ बह रही हिरण्या नदी को पुकारती है। पुनः वह सरस्वती को भी पुकार कर बुलाती है। वे दोनों नदियां भी देवियों के रूप में प्रकट हो जाती है। रहस्य-लीला का नाटक चल रहा है। दर्शक मौन, स्तब्ध, वेदव्यास की इस

रहस्य-लीला के नाटक को देख रहे हैं।

देविका, हिरण्या और सरस्वती से कहती है,'' हिरण्या! सरस्वती!! आज धरा पर जघन्य अपराध हुआ है। जिस तपस्वी, सन्यासी के लिए मन में गन्दे विचार नहीं लाए जा सकते हैं। ऐसा तापस मेरे ही तट पर बाण के द्वारा आहत हुआ है। उसका पार्थिव मेरी गोद में है। हिरण्या! मैं इसे सहन नहीं कर पा रही हूँ। मेरे शान्त जल में अग्नियां समा गयी हैं।

''देविका! कौन है वह तपस्वी?'' हिरण्या ने पूछा।

''स्वयं वासुदेव हैं वह।'' देविका ने उत्तर दिया।

''वासुदेव?'' आश्चर्य से सरस्वती ने पूछा।

''हाँ! सरस्वती! स्वयं वासुदेव को बाण लगा है। आज धरती मेरे द्वारा अभिशप्त होगी, मैं इसे सहन नहीं कर पा रही हूँ? सन्यासी तपस्वी, जिनके लिए मन में भी मैले विचार नहीं लाये जा सकते। जिन्हें विचारों के द्वारा भी आहत नहीं किया जा सकता। आज मेरे तट पर उस तापस की हत्या हुई है। आज धरा मुझसे अभिशप्त होगी।'' आवेश में देविका ने कहा।

''देविका जिस धरती पर तपस्वी आहत होंगे, वह धरा मेरे और सरस्वती के द्वारा भी अभिशप्त होगी।'' हिरण्या ने कहा।

''मैं धरती को श्राप देती हूँ, कि जिस धरा पर सन्यासी और तपस्वी सताये जायेंगे, वह भूखण्ड मेरे द्वारा अभिशप्त होगा। मैं देह तो दूँगी, पर उसमें देवत्व नहीं होगा।'' देविका ने धरा को अभिशप्त किया।

''जिस धरती पर योगी और तपस्वी सताये जायेंगे वह धरा मेरे द्वारा भी अभिशप्त होगी। मैं तपस्वी तो दूँगी! पर तप न होगा।'' हिरण्या ने श्राप दिया।

''जिस धरती पर योगी, तपस्वी और सन्यासी आहत होंगे, वह धरा मेरे द्वारा भी अभिशप्त होगी। ग्रन्थ तो दूँगी, पर ज्ञान न होगा!'' सरस्वती ने श्राप दिया।

तीनों देवियों के द्वारा धरा अभिशप्त हो गयी। देह तो थी! देवत्व न था। तपस्वी भी थे! पर तप न था! ग्रन्थों के सबसे बड़े अंबार, हमारे पास रहे और ज्ञान न था? विश्व में सबसे लम्बी गुलामी भारत ने ही झेली है। वेदव्यास! तुम्हारा वह नाटक आज भी कितना कटु सत्य है।

नाटक चल रहा है। तीनों देवियों से धरा अभिशप्त हो गयी है। दर्शक स्तब्ध नाटक को देख रहे हैं तभी गगन से उतरता एक प्रकाश मंच पर दिखाई देता है। धीरे-धीरे वह प्रकाश, स्वरूप ग्रहण करता है। चतुर्भुज महा-विष्णु मंच पर दृष्टिगोचर हो रहे हैं। शंख, चक्र, गदा और कमल सुशोभित हैं। वह तीनों देवियों को सम्बोधित करके कहते हैं-

''देविका! हिरण्या!! सरस्वती!! तुमने धरा को क्यों अभिशप्त किया? क्या तुम नहीं जानती थी कि बहेलिया और कोई नहीं स्वयं काल था? धरा मोहवश मुझे रोकना चाहती थी। देवताओं के लिए मेरी अधिक प्रतीक्षा असह थी। उन्होंने ''धर्मराज'' से कहा कि वह मुझे सचेत करें। लीला समापन के क्षण बीत चुके हैं। मुझे अब वापस लौटना चाहिए। काल ने कहा कि वह महा-विष्णु को कालपाश से तो बांध नहीं सकेगा। केवल चरणों में ही बाण के द्वारा प्रणाम कर, सचेत कर सकेगा। काल ने बहेलिये का रूप धारण किया और लीला द्वारा मुझे लौटने का आभास दिया। तुम सब इस बात को जानती थी कि बहेलिया और कोई नहीं स्वयं काल है। ऐसा जानकर भी तुमने धरा को क्यों अभिशप्त किया?

''हे महा-विष्णु! हम सब आपको प्रणाम करती हैं! कृपाकर बताएं कि जब स्वयं काल ने बहेलिया बनकर आपके श्रीचरणों में बाण मारा था? उस समय नारायण आप किस रूप की लीला कर रहे थे?'' तीनों देवियों ने विनम्रता से हाथ जोड़कर पूछा।

''उस समय मैं एक तपस्वी सन्यासी का अभिनय कर रहा था।'' महा-विष्णु ने उत्तर दिया।

''नारायण जिस प्रकार आप लीला कर रहे थे, हमने भी उसी प्रकार लीला में ही धरा को अभिशप्त किया है। जिस धरती पर तापस, योगी, ऋषि और सन्यासी सताये जायेंगे। वह धरा स्वतः ही पाप के कारण अभिशप्त हो जायेगी।'' तीनों देवियों ने विनम्रता से उत्तर दिया।

''परन्तु अभिशप्त तो मैं हो गया। धरा अभिशप्त कहाँ हुई?'' महाविष्णु ने कहा।

''इसीलिए तो हमने धरती को अभिशप्त किया।'' तीनों देवियों ने विनम्रतापूर्वक कहा -और कहाः-

''नारायण हमने धरती को इसीलिए श्राप दिया, जिससे आप बंध जायें और हमें छोड़कर न जायें।''

इस लीला के बाद उभरती हुई वाणी में स्वयं वेदव्यास,

''इस प्रकार हे दर्शक भक्त मण्डल! सृष्टा अभिशप्त होकर प्रत्येक देह से बंधा हुआ है। जब तक जीव का उद्धार न होगा, उसे भी जन्म-जन्म आत्मा बन यूं ही बंधना पड़ेगा। लीला का रहस्य सुनो।

''देविका ही देवकी है। जो प्रत्येक जीव को ब्रह्मज्वालाओं के गर्भ में, जन्मती है। ब्रह्म ज्वाला ही देविका है, ब्रह्म ज्वाला ही देविकी है। जो गर्भ में अन्न को बालक का स्वरूप प्रदान करती है। देविका ही देह देती है। हिरण्या ही यशोदा है। सद्य सधवा प्रकृति है, जो तन का श्रृंगार देती है। सरस्वती ही राधा है!

जिसके द्वारा ही मनुष्य की ज्ञान-लीला सम्भव है!

देह को देवत्व दो! देविका से वरद् हो! जीवन को स्वर्णिम तप दो। हिरण्या का आशीर्वाद लो। ग्रन्थों को लादो नहीं, ज्ञान की सरस्वती को जीवन में उतारो! सरस्वती से वरद् हो!

आकाश में मत भागो! नीलाकाश बन करके, नीलाभ ज्योतियों के स्वामी, ज्योर्तिमय कृष्ण को अपने अन्तर में स्थान दो! वे ही आत्मा के रूप में घट-घट वासी हैं! आत्मा से अद्वैत कर, सृष्टा को मुक्त करो! क्षीर सागर में प्रवेश करो! जय हो तुम्हारी, स्वयं को समझो।''

वेदव्यास! महा प्रयाग हैं यह रहस्य-लीला तुम्हारी! तुम्हारी कथा को छूकर मेरा रोम-रोम झंकृत हो उठता है। छू जाते हैं जब, क्षण तुमसे! सम्पूर्ण सचराचर अपने सृष्टा के साथ समा जाता है, मुझमें! कितने लोक समा गये हैं मुझमें!

वेदव्यास! तुम पारस हो! अकिंचन को व्यापक बनाने वाले।!

हरि ॐ! नारायण हरि!!

5

मथुरा का साम्राज्य

मथुरा का साम्राज्य अपने पूर्ण यौवन पर है। महाराज उग्रसेन एक बहुत ही जन-प्रिय राजा हुए हैं। मथुरा के नगर-निवासी उनको पाकर धन्य हैं। महाराज उग्रसेन राजा होकर भी जनतांत्रिक व्यवस्थाओं में विश्वास करते हैं। वे सुरनायक हैं। प्राणी मात्र की समर्पित सेवाओं को ही जीवन की राह मानते हैं। अधीनस्थ राजाओं को भी वे पूर्ण सम्मान देते हैं। उन्होंने सभी राजाओं का एक संघ बनाया है। जिसके वे अध्यक्ष हैं। सबके निर्णय से ही वे राजकार्य को स्वरूप प्रदान करते हैं। कर की व्यवस्था भी स्वैच्छिक है। राजकोष में कर देने की व्यवस्थाओं का पूरा नियंत्रण संघ के अन्तर्गत है। जिसका निर्धारण संघ स्वयं करता है। जन-जन के वे पूज्य हैं। उनका पुत्र कंस भी बहुत ही सुन्दर, सहज और विवेकशील बालक है। मथुरावासी युवराज कंस को अत्यधिक प्यार और सम्मान देते हैं। कंस का स्वरूप और व्यवहार दोनों अति सुन्दर हैं।

असुरराज जरासंध मथुरा के समीप से गुजर रहे हैं। वे शक्तिशाली असुर राजा हैं। महाराज उग्रसेन उनसे मथुरा का आतिथ्य ग्रहण करने की प्रार्थना करते हैं। असुरराज जरासंध सहर्ष स्वीकार करते हैं। सेना के साथ मथुरा के बाहर पड़ाव डाल देते हैं।

भरत-खण्ड की भूमि पर सुर तथा असुर दोनों ही प्रकार के राजा राज्य करते हैं। मान्यताओं के भेद के अतिरिक्त उनमें कोई भेद भी नहीं है। वे एक दूसरे के निकट सम्बंधी भी हैं। आपस में उनके अच्छे सम्बन्ध भी हैं। भेद हैं तो केवल मान्यताओं के और सिद्धान्तों के।

''सुर'' शब्द का अर्थ है देवता अर्थात ईश्वर! सुर विचारधारा की मान्यताओं में ईश्वर घट-घट वासी है। ईश्वर ही आत्मा के रूप में सम्पूर्ण सचराचर को प्रकट करता है। उसने मनुष्य को भी बनाया और कहा, सचराचर रूपी बाग को मैं घट-घट वासी आत्मा होकर निरन्तर बना रहा हूँ। मैंने तुमको भी बनाया है। तू मेरा पुत्र

बन और मेरी राह आ। जिस बाग को मैं बना रहा हूँ। तू उस बाग को संवारता चल और उसे मेरी ही तरह सुरक्षित रख, सबकी रक्षा कर।

उपरोक्त विचारधारा के अनुसार सुर विचारधारा में राजा प्राणी-मात्र की समर्पित सेवा का प्रर्वतक है। सुर विचारधारा में आत्मा से अद्वैत करना तथा सचराचर मात्र की निष्काम सेवा जीवन के मूल उद्‌देश्य हैं। सुर विचारधारा में धर्म पर सबका पूर्ण अधिकार है। धर्म, स्त्री और पुरूष के भेद को भी नहीं मानता है। जहाँ नर के रूप में, ब्रह्मा, विष्णु और महेश की मूर्तियों को मन्दिरों में सजाने की प्रथा है, वहीं नारी को भी नव-दुर्गा के रूप में मन्दिरों में सर्वोच्च स्थान दिया गया है। सुर विचारधारा में नारी को ही पति चयन का अधिकार दिया गया है। सुर विचारधारा में, सम्पत्ति, सन्तान तथा धर्म पर, पहला अधिकार पत्नी को दिया गया है। उसके उपरान्त ही पुरूष को। महाराज उग्रसेन सुरनायक हैं।

असुर विचारधारा में ईश्वर को धरती से ऊपर अन्यत्र लोक में देखने की परम्परा है। ''असुर'' शब्द का अर्थ है अ + सुर असुर अर्थात् देवत्व से शून्य, ईश्वर मुझमें नहीं है, वह अन्यत्र लोक में रहता है। असुर विचारधारा में नारी मात्र भोग्या है। मनुष्यता के अधिकारों से भी वंचित है। एक खेत की मिट्टी के समान है। सन्तान, सम्पत्ति तथा धर्म पर भी उसका कोई अधिकार नहीं है। यदि कुछ अधिकार हैं भी तो वे पुरूष के उपरान्त हैं। पति को अधिकार है चाहे जितनी पत्नियां रखे। नारी को उप पत्नियां अथवा वेश्यायें बनाये रखने का भी पुरूष को धर्म सम्मत् अधिकार है। पुरूष को अधिकार है कि अपनी किसी भी पत्नी का जब चाहे परित्याग कर दे, किसी को अपनी पत्नी भेंट कर दे, दान कर दे, बेच दे। नारी को पुरूष त्याग का अधिकार नहीं। असुर विचारधारा में सम्पूर्ण सचराचर भोग्य वस्तु है। जो कुछ भी है, भोगने हेतु है। राजा को, सभी को भोगने का स्वतंत्र अधिकार है। उसके उपरान्त पुरूष को सबको भोगने का अधिकार है। नारी पुरूष की भोग्या है तथा उसी की आज्ञा और अनुमति से वह संसार को भोग सकती है। औरतों को गुलाम बनाकर बेचना, निरीह लोगों को गुलाम बनाकर बेचना, असुर धर्म के मुख्य सिद्धान्त हैं। देव स्थानों पर बन्दी बनायी गयी स्त्रियों को और पुरूषों को बेचना, उनके बाजार लगाना, एक परम्परा है। देव स्थानों पर पशुओं को काटकर बलि देना तथा सभी प्रकार की बलि आदि की व्यवस्थायें असुर धर्म में हैं। महाराज जरासंध असुरराज हैं।

महाराज जरासंध पड़ाव डाल दिये हैं। मथुरा निवासी उनके आवभगत तथा सत्कार में लगे हैं। महाराज उग्रसेन अपने पुत्र नवयुवक कंस के साथ असुरराज जरासंध से मिलने आते हैं। सुन्दर युवक कंस को देखकर असुर जरासंध का मन

डोल जाता है। जरासंध, महाराज उग्रसेन से कंस का विवाह अपनी बेटियों से करने की इच्छा प्रकट करता है। असुर जरासंध की दो बेटियां हैं ''अस्ति'' और ''प्राप्ति।'' जरासंध अपनी दोनों पुत्रियों का विवाह युवराज कंस से करना चाहता है। महाराज जरासंध की इच्छा को सुनकर उग्रसेन धर्म संकट में पड़ जाते हैं तथा असुरराज जरासंध से कहते हैं।

''महाराज जरासंध! आप तो जानते हैं कि मेरी आस्था सुर विचारधारा में है। मैं स्त्री और पुरूष के सम्मान एवं न्यायोचित अधिकार में विश्वास करता हूँ। आपकी पुत्रियों ने तो कंस को देखा भी नहीं है। ऐसी अवस्था में विवाह का निर्णय हम और आप कैसे कर सकते हैं? मुझे तो इस विवाह से कोई आपत्ति नहीं है। मैं चाहूँगा कि आप स्वयंवर की घोषणा करें। युवराज कंस स्वयंवर में आयेंगे यदि आपकी पुत्रियां उन्हें पसन्द करेंगी तो वरमाला कंस के गले में डालें, तो यह विवाह हो जायेगा। आपका समधी होना तो मथुरा के सौभाग्य की बात है।''

असुरराज जरासंध कुछ उत्तेजित हो उठते हैं और कहते हैं, ''महाराज उग्रसेन आप तो जानते ही हैं, कि मैं असुर राज हूँ। पति चयन का अधिकार नारी को कदापि नहीं दिया जा सकता। इससे तो नारी उच्छृंखल और उद्दण्ड हो जायेगी। नारी मात्र भोग्या है। उसे पति के चयन का अधिकार कदापि नहीं दिया जा सकता है। ये हमारी धार्मिक मान्यता है। यदि मैं अपनी पुत्रियों के लिए स्वयंवर की घोषणा करूंगा तो मेरे सम्पूर्ण राज्य की जनता में आपत्ति का भाव प्रकट होगा। मेरी पुत्रियों का विवाह किससे हो उसका निर्णय करने का पूरा अधिकार असुर धर्म ने मुझे दिया है।''

महाराज जरासंध के वचन महाराज उग्रसेन को अच्छे नहीं लगते हैं। उन्होंने पुनः स्वयंवर की बात महाराज जरासंध से कही, जिसे असुरराज ठुकरा देते हैं। इस विषय को लेकर वातावरण तनावपूर्ण हो उठता है। मंत्रीगण एवं सम्भ्रान्त गणमान्य नागरिक चिन्तित और भयभीत हो उठते हैं। वे विनम्रता से दोनों राजाओं को समझाकर अनुरोध करते हैं, कि कोई बीच का रास्ता ढूँढ़ लिया जाय, जो दोनों विचारधाराओं को मान्य हो। वह मार्ग ढूँढ़ लिया जाता है। दोनों राजाओं को वह समाधान स्वीकार होता है। युवराज कंस असुरराज जरासंध के साथ जायें। वह वहाँ पर कुछ काल तक रहें। यदि अस्ति और प्राप्ति उन्हें पति के रूप में वरण करना चाहें तो महाराज जरासंध युवराज कंस का विवाह अपनी पुत्रियों के साथ कर दें।

असुरराज जरासंध युवराज कंस को लेकर चले जाते हैं। भोले महाराज उग्रसेन और मंत्री भी नहीं जानते कि अनजाने ही उन्होंने सुकुमार कंस के साथ एक बहुत बड़ा अन्याय कर डाला है। असुरराज जरासंध के यहाँ असुर विचारधारा और धर्म

का प्रभाव, निर्मल कंस को असुरराज कंस बना देता है। धीरे-धीरे सुरनायक कंस, दुर्दान्त असुरराज कंस बन जाता है। अस्ति और प्राप्ति के साथ बड़ी धूमधाम के साथ उसका विवाह होता है। कुछ काल के उपरान्त कंस अपनी पत्नियों सहित मथुरा के लिए प्रस्थान करता है।

मथुरा में युवराज के पत्नियों सहित लौटने की सूचना आयी है। सारी नगरी दुल्हन सी सजी है। कंस को एक लम्बे समय के बाद देखने के लिए हर आँख प्यासी है, उतावली है। नगर सजा है। नगरवासी सज रहे हैं। उत्सव की व्यापक तैयारियां हो रही हैं। मथुरा का भावी नरेश अपनी पत्नियों के साथ मथुरा लौट रहा है।

कंस महाराज जरासंध के द्वारा दिये हुए ऐश्वर्य, सम्मान, सज्जा तथा समर्पित सेनाओं के साथ नगर में प्रवेश करता है। अपनी पत्नियों के साथ उसकी शोभा यात्रा निकाली जाती है। नगर की नारियां उसकी आरती उतारती हैं। कंस की भूखी आँखें उनको स्तब्ध कर देती है। अंजाने ही नगर में भय व्याप्त हो गया है, सारे नगर में फुसफुसाहट होने लगी है। कंस अब पुराना कंस नहीं रहा है। यह सुरनायक नहीं! यह भूखा भेड़िया, असुर कंस है! सत्संग और कुसंग दोनों ही उदार फलदाता हैं। इनका संग करनेवाला इनसे फल लिये बिना रहता नहीं है।

नागरिक भयभीत हैं। खुशी का स्थान भय और उदासी ने ले लिया है। भावी आशंका का भय बहुतों के मन में घर कर गया है। अगले कुछ ही दिनों ने सिद्ध कर दिया है, कि उनका भय असत्य नहीं था। मथुरा जैसी पावन नगरी में भी कुंवारियों का बलात् अपहरण, जबरिया सुन्दर स्त्रियों का बीच बाजार में उठा लिया जाना, एक आम बात हो गयी है। दूसरों के राज्य को न हड़पने की सुर विचारधारा भी मथुरा साम्राज्य को त्याग चली है। कंस खून की होलियां खेलता, अपने राज्य की सीमाओं का विस्तार कर रहा है। राज्यों के महासंघ को भी उसने भंग कर दिया है। उनके साथ भी वह गुलामों जैसा दुर्व्यवहार कर रहा है। दबी जुबान से उसकी शिकायतें महाराज उग्रसेन को मिलने लगी हैं। वे बहुत भयभीत हैं और भविष्य की आशंकाओं से आतंकित भी है। पुत्र मोह उन्हें किसी भी सही निर्णय तक पहुँचने नहीं दे रहा है। इसी बीच महाराज उग्रसेन अपने भाई की पुत्री देवकी का विवाह वसुदेव से करना निश्चित करते हैं। कंस भी अपनी चचेरी बहन के विवाह के लिए तैयारियों में पूर्ण रूप से योगदान करता है। देवकी उसे प्राणों से भी अधिक प्यारी है। विवाह के बाद जब वह बहन को पहुँचाने को स्वयं रथ में बैठाकर अपने राज्य की सीमा के बाहर जा रहा होता है। उस समय एक भविष्यवाणी होती है। देवकी का आठवां पुत्र कंस की हत्या करेगा। इस विचार में कंस क्रोधित होता है, देवकी

को ही मार डालना चाहता है। परन्तु वसुदेव उसको ऐसा करने से मना करते हैं। वे देवकी के पुत्रों को उसे सौंपने का वचन देते हैं। कंस को वसुदेव पर पूरा विश्वास नहीं होता है। फिर भी वह देवकी की हत्या से विमुख हो जाता है। वह वसुदेव और देवकी को बन्दी बनाकर जेल में डाल देता है। अपने पिता उग्रसेन को भी जेल में डालकर स्वयं को मथुरा साम्राज्य का सम्राट घोषित करता है।

कंस के कुकृत्यों से सम्पूर्ण मथुरा राज्य कांप उठता है। छोटे राजा मंत्री सभासद सभी स्तब्ध रह जाते हैं। किसी में साहस नहीं होता है कि कोई उसका विरोध कर सके। आतताई कंस का भय तो है ही साथ ही जरासंध द्वारा दिये गये असुर अय्यारें तथा योद्धाओं के कारण कंस के विरूद्ध कोई विद्रोह भी नहीं हो सकता है। मन ही मन सभी कंस को धिक्कारते हैं, परन्तु भयवश उसका जयघोष ही करते हैं। कंस के मथुराधीश होने पर असुर राज जरासंध पधारे थे तथा भेंट में कंस को रत्नादिक के साथ, समर्पित असुर सेनाओ का समूह भी प्रदान किया था। कंस ने धीरे-धीरे सभी पुराने मन्त्रियों और राजाओं को निष्क्रिय कर दिया। उनके स्थान पर जरासंध के असुर सक्रिय हो उठे हैं। इस बदलाव के कारण भी सभी के मन में आक्रोश और बदले की भावना घर करती जा रही है। पुराने राजा और मंत्री उपेक्षित होकर गुप्त रूप से संगठित भी होने लगे हैं। सब उस घड़ी की प्रतीक्षा में हैं, जब पापी कंस को धराशायी किया जा सके।

कंस ने देवकी के आठवें पुत्र की हत्या की ही बात की थी। परन्तु देवकी के पहले पुत्र की भी उसने जेल में जाकर हत्या कर दी। दूसरे पुत्र की भी उसने हत्या करी। उसके इस व्यवहार से उसके प्रति थोड़ी बहुत जो लोग आस्था भी रखते थे, वे भी मन ही मन उसके प्रबल शत्रु हो गये। कंस अब असुर समूहों पर ही पूरी तरह से आश्रित हो गया । उसने देवकी के छः पुत्रों का वध कर डाला । अक्रूर आदि बहुत से राजा गुप्त रूप से संगठित होकर सक्रिय हो उठे। उन्होंने देवकी के बाकी पुत्रों को बचाने के लिए योजनाबद्ध तरीके से काम करना आरम्भ कर दिया। जब देवकी को सातवां गर्भ था तो राजवैद्य तथा दाई से घोषणा करवा दी गयी कि देवकी का सातवां गर्भ खण्डित हो गया। जबकि ऐसा हुआ नहीं था। यह केवल कंस को भ्रमाने के लिए किया गया था। कंस आश्वस्त हो गया इसी बीच जब देवकी के सातवां पुत्र हुआ, तो उसे गुप्त रूप से वसुदेव की दूसरी पत्नी रोहिणी के पास नन्दगांव में भेज दिया गया। कंस को इसका पता नहीं चला। देवकी के गर्भ नष्ट होने की सूचना से आश्वस्त होकर कंस मथुरा राज्य की सीमाओं के विस्तार में पड़ोसी राजाओं से जूझ रहा था। परन्तु लौटने पर उसे इसकी कुछ भनक लगी। उसने खोजबीन भी करी, परन्तु घटना की सच्चाई तक वह नहीं पहुँच पाया।

फिर भी उसने पहरेदारों को बदलकर समर्पित असुर सैनिकों को पहरे हेतु लगा दिया। राजवैद्य तथा दाई को वह नहीं बदल पाया।

देवकी के पुत्रों की हत्या में कंस क्यों लग गया? अध्यात्मिक कथा में इसका उत्तर आकाशवाणी रहा है। परन्तु लुप्त हो गये ऐतिहासिक घटनाक्रमों में इसका कारण असुरों का षडयंत्र माना गया था। महाराज उग्रसेन कंस के असुर स्वरूप से पीड़ित थे। वे कंस को तथा कंस की होने वाली संतानों को भी मथुरा राज्य के उत्तराधिकार से वंचित करना चाहते थे। उन्होंने देवकी के पुत्रों को ही राज्य देने की इच्छा भी जाहिर कर दी थी। संभवतः इसी को उछालकर कंस के असुर सहयोगियों ने तथा कंस पत्नियों ने देवकी के सभी पुत्रों का वध करने हेतु कंस को प्रेरित किया था। काठियावाड़ के काठी आश्रमों में से मिली कुछ अपुष्ट ऐतिहासिक कथाओं में ऐसा आया है कि जब कंस रथ पर बैठाकर वसुदेव और देवकी को राज्य की सीमा के बाहर छोड़ने के लिए जा रहा था, तभी उसे सूचना मिली कि महाराज ने उसे उत्तराधिकार से उसके पुत्रों सहित वंचित कर दिया है, तथा देवकी के पुत्रों को ही अपना उत्तराधिकारी घोषित करने हेतु घोषणा करने जा रहे हैं। इसी बात से कुपित होकर उसने देवकी और वसुदेव को बन्दी बना लिया था तथा महाराज उग्रसेन को मजबूर कर दिया कि यदि वे अपने को समर्पित नहीं करेंगे तो वह वसुदेव और देवकी की हत्या कर देगा। साथ ही उसने वचन दिया था, कि यदि महाराज उग्रसेन स्वेच्छा से उसकी सेनाओं के सामने समझौते के लिए समर्पण कर देंगे तो सम्मानपूर्वक महाराज वसुदेव, देवकी सहित अपने राज्य के बाहर जाने देगा। महारज उग्रसेन उसकी बातों पर विश्वास कर गये। सन्धि के स्थान पर उसने महाराज उग्रसेन को ही बन्दी बना लिया था। वसुदेव और देवकी को भी उसने जेल में डाल दिया। अपने सभी वायदों से कंस मुकर गया। उसका द्वेष इसलिए नहीं था कि देवकी के पुत्र उसे मारेंगे, वरन् उसके मन में क्रोध और घृणा का भाव देवकी के पुत्रों के प्रति इसलिए था, कि देवकी के पुत्र उसे उसके उत्तराधिकार से वंचित कर स्वयं मथुरा की गद्दी पर बैठते। इसी ने उसके मन में भयंकर प्रतिशोध को जन्म दे दिया था। बदले की भावना से वे देवकी के सब पुत्रों का वध कर रहा था। उसके बच्चों को मारते समय वह क्रोध और पागलपन में उन्हें महाराज उग्रसेन का उत्तराधिकारी बताकर पत्थर पर पटककर मार देता था। इसी ऐतिहासिक घटनाक्रम को वेदव्यास ने एक अद्‌भुत अध्यात्मिक तथा हर व्यक्ति के जीवन के घटनाक्रम की कथा का रूप कालान्तर में प्रदान किया है। ''श्रीमद्‌भागवत'' तथा ''महाभारत'' इतिहास की पृष्ठभूमि से प्रकट होते अद्‌भुत अलौकिक ग्रंथ हैं।

धीरे-धीरे समय आगे बढ़ता रहा। वे क्षण समीप आ रहे थे जब वेदव्यास के

नायक, इतिहास पुरूष श्रीकृष्ण को प्रकट होना था। कंस आठवें पुत्र को वध करने के लिए पूरी सतर्कता और सावधानी वरत रहा था। दूसरी ओर अक्रूर आदि सभी राजा गुप्त रूप से आठवें पुत्र को बचाने के लिए पूरी सावधानी और सतर्कता से कंस के जाल को भ्रमित कर रहे थे। अष्टमी की अंधेरी रात थी। मध्य रात्रि में इतिहास का वह ज्योतिर्मय क्षण प्रकट हुआ। कंस के सारे असुर सैनिक गहरी नींद में सो गये थे। संभवतः पेय पदार्थ में उन्हें निद्रा हेतु दवा मिला दी गयी थी। दाई को आदेश था कि वह वसुदेव के पुत्र को लेकर यमुना नदी को पार करती हुई सपरिवार सदा के लिए यहाँ से भाग जायेगी। उसे फिर कभी लौटकर मथुरा नहीं आना होगा। दाई नवजात शिशु को एक छोटी नहर के समीप रखकर चली जायेगी। इसके साथ ही अक्रूर आदि ने कुछ विश्वास पात्र सैनिकों को आदेश दे रखा था कि दाई के परिवार के साथ यमुना नदी का पुल को पार करते ही उस पुल को ध्वस्त कर दिया जाय। दाई सपरिवार वसुदेव के आठवें पुत्र को लेकर चली गयी। उसके पुल पार करते ही पुल को ध्वस्त कर दिया गया। नवजात शिशु को उसी नदी की एक छोटी सी धारा के तट पर रख दिया था। अपने परिवार के साथ वह राजस्थान की ओर सदा के लिए चली गयी। अक्रूर और नंदजी ने जो कि पहले से ही उस नदी के तट पर छिपे हुए थे, नवजात शिशु को लेकर नंदजी के यहाँ चले गये। इस कार्य में इतनी अधिक सावधानी बरती गयी कि यदि कोई व्यक्ति पकड़ा भी जाये तो उसे वह बता न सके कि बालक गया कहाँ? इस प्रकार ऐतिहासिक घटनाक्रम में भगवान श्रीकृष्ण मथुरा से नंदबाब के घर में आये। कन्या के जन्म की घटना ऐतिहासिक प्रमाण में नहीं मिलती। संभवतः दाई किसी मृत नवजात कन्या को लेकर आयी हो? परन्तु ये भी सच नहीं लगता क्योंकि दाई के भाग जाने से कंस के मन में संदेहों का उत्पन्न होना स्वाभाविक ही था। आठवें पुत्र के गायब हो जाने के षडयंत्र से कंस क्रोधित होकर सभी नवजात शिशुओं की हत्या कराने पर उतर आया था। वह क्रोध से पागल हो उठा था।

वेदव्यास! जब छू लिया तुमने इतिहास को, तो वह एक अतीत कथा न बनी, वरन् प्रत्येक व्यक्ति के जीवन के प्रत्येक क्षण की एक अमर कहानी बन गयी। तुम्हारा नायक सम्पूर्ण सचराचर को प्रकट करने वाला, घट-घट वासी आत्मा बनकर हर युग की कहानी बन जाता है। मथुरा, ''मथ'' अर्थात् मंथन तथा ''उर'' अर्थात हृदय। तुमने अपने अंतर को मथकर एक अद्भुत अलौकिक अमृतमय कथा जो कृष्ण रूप में दी है। एक वार मैं उस कथा को दुहराना चाहता हूँ।

हरि ॐ! नारायण हरि!!

6

जन्म लीला

अष्टमी की काली अंधेरी रात! कंस की जेल की सीलन भरी कोठरी, हथकड़ियों और बेड़ियों से जकड़े हुए वसुदेव! प्रसव की वेदना से अचेत हो निष्पाप देवकी! जेल के सींखचेदार फाटकों पर लटक रहे बड़े-बड़े ताले। सींखचों के उस पार खड़े भयानक चेहरों वाले प्रहरी! सींखचों के उस पार जलती हुई मशालों की रोशनी, जिसका प्रकाश सीलन भरी कोठरी में भी फैल रहा है! एक विचित्र घुटन भरी खामोशी! गगन में काले घने बादल! कौंधती बिजली की जगमग कड़कती आवाज और फिर रहस्यमय खामोशी!

वेदव्यास जेल का यह दृश्य मेरे विचारों में उभर आया है। कल्पना के नेत्रों से मैं निष्पाप वसुदेव और देवकी को देख रहा हूँ! उनके विचार और भावनाएं मुझे छू रही हैं! लगता है मुझे इस चित्र के आर-पार दिख रहा है! जैसे इस चित्र के हर अंग में मैं स्वयं व्याप्त हो गया हूँ!

आठवां प्रसव होने को है। देवकी अचेत है! हथकड़ी और बेड़ी से जकड़े वसुदेव की निगाहें बरस रही हैं! मन ही मन स्वयं को प्रताड़ित करने लगते हैं ''वसुदेव! तू क्या दे पाया इस बेचारी को? एक सीलन भरी पत्थर की कोठरी में लम्बी जेल की यंत्रणा ही! जो महलों में पली। सुख और वैभव जिसके जीवन के हर क्षण में था। उस बेचारी को असहाय बनाकर विधाता ने इस जेल मे ला पटका है। हर बार ये माँ बनी! स्वप्न सजे! किसी ने न चाहा, न गाया इसे और सराहा इसे! स्वप्न झिलमिलाएं नहीं कि चकनाचूर हो गये! हर बार वह पापी कंस आया। उसके स्वप्न सुकुमारों को, उसकी भोली चाहत को, उसके मासूम चहेतों को, पत्थर की शिला

पर पटक कर मांस के लोथड़ों में छितराता चला गया! स्वप्न सजने से पहले ही विखर गया! एक महीन हृदय विदारक चीख के साथ अचेत' हो गयी निष्पाप देवकी और तू? हथकड़ी लगे हाथों से मुट्ठियाँ भींचकर अपने को ही नोचता, तड़पकर रह गया! एक वार भी तू अपने लाड़ले के, मांस के लोथड़ों को अपने हाथ से समेट भी नहीं पाया! उन्हें छू भी नहीं पाया!! मौत से पहले जी भरकर देख भी न पाया! चूम भी नहीं पाया! काश! इस समझौत के स्थान पर तूने मृत्यु का ही वरण कर लिया होता! इतने वरस, इतनी-इतनी वार तू मरा न होता! देवकी को भी यूँ बार-बार मरना क्यों पड़ता? हर वार महीन चीख के साथ अपने सुकुमार की मृत्यु के साथ, देवकी मरती ही तो रही! वीरोचित मृत्यु एक ही बार होती है! कितना अच्छा होता! यूँ कायरों की तरह बार-बार मरना अव सहन नहीं होता है।''

वेदव्यास! मैं वसुदेव की बेड़ियों को छू रहा हूँ! तेरी रहस्य-लीला का जादू, रे जादूगर! मुझे मेरे ही अंतर में गहराइयों तक उतारे लिए जा रहा है! पापी कंस ने वसुदेव और देवकी को जेल में डाल दिया था! क्यों? इसलिए कि उसका वेटा कंस की मौत का कारण बनेगा। मौत से बच निकलने की बलवती इच्छा ने उसे क्रूर और अन्यायी वना दिया था। वह निमर्मतापूर्वक वसुदेव और देवकी के पुत्रों का हत्यारा वन गया था। परन्तु ठहरो! इस कथा में तुम कुछ और तो नहीं दिखा रहे हो? कहीं मुझको मेरा ही चेहरा तो नहीं दिखा रहे हो? हाँ! तुम ठहरे जादूगर! मैं समझ गया मुझे मेरी ही कहानी सुना रहे हो।

तुम मुझको मेरे जीवन का कंस दिखा रहे हो। कंस से भी एक वहुत बड़ा कंस! मुझमें छिपा बैठा है! महा बलशाली कंस!

''सत्य'' रूपी देवकी और ''न्याय'' रूपी वसुदेव को मैं भी तो जिन्दगी के चौराहों पर ''झूठ'' की जेलों में बंद करता आया हूँ। मैंने भी तो अपने जीवन में असंख्यों बार ''सत्य'' और ''न्याय'' रूपी वसुदेव और देवकी को झूठ की जेल की वेड़ियों और हथकड़ियों से कसा है। क्यों? इसलिए कि ''सत्य'' और ''न्याय'' रूपी वसुदेव और देवकी का पुत्र ''निर्णय'' मेरे और मेरे स्वजनों के हितों के विपरीत है। ''सत्य'' और ''न्याय'' का पुत्र निर्णय ही तो है। एक ईमानदार ''निर्णय'' से बचने के लिए, मैंने न जाने फिर कितनी बार ''सत्य'' और ''न्याय'' को ''झूठ'' और ''बेइमानी'' की जेलों में बंद किया है। ईमानदार निर्णय की वहुत-बहुत बार हत्या की है। मेरे अन्तर का कंस, सत्य और न्याय रूपी वसुदेव और देवकी के पुत्र रूपी निर्णय का असंख्यों बार निर्मम हत्यारा रहा है।

हे पतित पावन! काश! मेरे अन्तर का कंस भी निकल सकता, मिट सकता,

धुल सकता। मैं भी कंस की राह छोड़, कृष्ण की राह चल पड़ता। रे जादूगर! तेरी लीला मुझे भीतर, बाहर से धो डालती है।

अष्टमी की अंधेरी रात फिसलती जा रही है! जाने कौन सा गन्तव्य ढूंढ़ रही है? वसुदेव स्वयं को पाते हैं थका हुआ! टूटा हुआ! हताश! एक गहरा धुंआ सा, गहन अंधेरा और असह घुटन अपने भीतर महसूस होती है! जेल के बाहर पानी बरसने लगा है! जेल के भीतर निष्पाप वसुदेव के नेत्र बरस रहे हैं। रात फिसलती, बढ़ती जा रही है।

तभी जेल में दिव्य आभा फैल जाती है! अंधेरी कोठरी! रहस्य मय सुगन्ध! महक से भर उठती है! चौंक उठते हैं वसुदेव! सिर उठाकर सामने देखते हैं तो स्तब्ध रह जाते हैं! उनके सामने शंख, चक्र, गदा और पद्म लिये महाविष्णु खड़े मुस्करा रहे हैं। वसुदेव अपलक बेसुध से उन्हें देखते जा रहे हैं।

वेदव्यास! तुम्हारे इस क्षण को मैं पिये जा रहा हूँ। महाविष्णु के ज्योर्तिमय स्वरूप को मेरी कल्पना की आंखे देख रही हैं। भक्त-वत्सल महाविष्णु अपने हाथों में भक्ति को ही चार गुणों के रूप में ग्रहण किये हुए हैं। शंख, चक्र, गदा और पद्म, अनन्य भक्त के चार दुर्लभ गुण हैं।

शंख के सदृश मंगलमय वाणी जिसकी! दृष्टि जिसकी सुदर्शन है! संकल्प जिसकी गदा है। तथा कमल की कोमलता लिये जो सचराचर के चरणों में विनम्र होकर समर्पित हो गया है। वही महाविष्णु का भक्त कहलाने के योग्य है। शंख मंगलनाद है। भक्त वाणी वही तो है जो सदा सबका मंगल चाहे! सचराचर का मंगल गाये! किसी को अपनी वाणी से आहत न करे। सबमें नारायण हैं, ऐसा भाव रखता हुआ सबके प्रति मृदु हो! उसकी दृष्टि सुदर्शन हो! ''सु'' माने दिव्य, अलौकिक, परमेश्वर, ''दर्शन'' माने साक्षात्कार करना दिव्य, अलौकिक प्रभु का ही जीवन मात्र में साक्षात्कार होना ही दृष्टि का सुदर्शन होना है। सबमें नारायण हैं, ऐसा भाव करता हुआ जो प्राणी मात्र में अपने ध्यानमूर्ति प्रभु का दर्शन करे, वहीं भक्त कहलाने योग्य है। संकल्प जिसकी गदा हो अर्थात् महाविष्णु की गदा जैसा पुष्ट संकल्प हो! इस संकल्प की गदा से वह अपने अन्तर के कंस को मार सके। अपने हर असत्य और अज्ञान को संकल्प की गदा द्वारा नष्ट कर सके। ऐसा भाग्यवान ही तो भक्त की राह चल पायेगा। कमल की कोमलता का भाव ही तो भक्त की पहचान है। भक्ति जब ज्ञान, वैराग्य और विनम्रता से पुष्ट होती है, तो सच्चे भक्त को प्रकट करती है। विनम्रता से रहित ज्ञान तथा विद्वता, मिथ्याभिमानी रावण को जन्म देती है। ऐसा रावण जो परमेश्वर से वरद् होकर भी परमेश्वर का ही शत्रु बन जाता है। जिसमें कमल की कोमलता नहीं, अर्थात् प्राणी मात्र के प्रति

समर्पण का विनम्र भाव नहीं रखता, वह भक्त कदापि नहीं हो सकता! विनम्रता भक्त का पहला और सर्वोपरि लक्षण है। विनम्रता अर्थात् लोच में ही जीवन है। जब तक शरीर जिन्दा रहता है, उसमें लचीलापन रहता है। मृत देह में लचीलापन समाप्त हो जाता है। उसका स्थान सख्ती और ऐंठन ले लेती है। विनम्र भाव ही जीवन है तथा मिथ्याभिमान की ऐंठन और ज्ञान का दम्भ मौत!

वसुदेव अपलक महाविष्णु की मनोहारी छबि को देखते जा रहे हैं। नेत्रों से गंगा यमुना की धारा प्रवाहित हैं! मंत्र भूल गये हैं। संसार की सुधि जाती रही है। अबोध शिशु बन रोये जा रहे हैं। महाविष्णु उन्हें सांत्वना देते हैं, ''वसुदेव! मेरे प्यारे! भक्त दुखी मत हो! धरती को असुरों के भार से मुक्त करने के लिए तथा भक्त समाज का उद्धार एवं परमानन्द के लिए मैं शीघ्र प्रकट होने वाला हूँ! वसुदेव! कुछ ही समय उपरान्त जब मैं नवजात शिशु के रूप में देवकी के आठवें पुत्र के रूप में प्रकट हो जाऊं तब तुम मुझे टोकरी में रख लेना! टोकरी को सिर पर रख लेना! मुझे नन्द बाबा के यहाँ छोड़ आना तथा वहाँ से कन्या के रूप में प्रकट हुई योगमाया को लेते आना।

'ज़ो आज्ञा नारायण! मैं ऐसा ही करूंगा! ''वसुदेव ने हाथ जोड़कर विनम्रता पूर्वक कहा।

महाविष्णु अर्न्तधान हो गये! वसुदेव चौंके! महाविष्णु ने वसुदेव की पूरी बात सुनी ही नहीं और चले गये। वसुदेव बहुत दुखी होते हैं। मन ही मन महाविष्णु को पुकार रहे हैं! प्रार्थना कर रहे हैं, नारायण आप तो मेरी पूरी बात सुने बिना अर्न्तध्यान हो गये! हे महाविष्णु! आपने मेरी हथकड़ियां और बेड़ियां नहीं देखी? जेल के बंद फाटक नहीं देखे? पहरा दे रहे भयानक चेहरे वाले पहरेदार नहीं देखे? प्रभु आपको कैसे ले जाऊंगा? पहले मेरी हथकड़ियां और बेड़ियां खुलवाते। जेल के फाटक खुलवाये होते! पहरेदार हटाते! तभी तो मैं तुम्हें ले जाता। नारायण मेरी परिस्थिति पर विचार किया होता आपने! आप तो बस कहकर चले गये। आप ही बताइये वसुदेव इस असम्भव को सम्भव कैसे करे?''

वसुदेव दुखी हैं। भयभीत हैं। परेशान हैं। मन ही मन महाविष्णु से प्रार्थना कर रहे हैं, परन्तु नारायण उनकी सुनते ही नहीं हैं। क्षण समीप हो रहे हैं। वसुदेव की चिन्ता बढ़ती जा रही है।

वेदव्यास! मैं स्वयं को वसुदेव की हथकड़ियों और बेड़ियों में देखने लगा हूँ। तुम्हारी रहस्य-लीला का रहस्य खुलने लगा है। हथकड़ियां और बेड़ियां मुझे सारे संसार में लगी दिख रही हैं। हम सब भी तो संसार रूपी हथकड़ियों और बेड़ियों से बंधे हुए हैं। हे पावन अमृत! तुम वसुदेव के रूप में हम सबको हमारी

हथकड़ियां और बेड़ियां दिखा रहे हो। सद्‌ग्रंथ, संत और मनीषीजन, सत्संग की अमृतमय धाराओं में हमें जीवन के मूल उद्‌देश्य पढ़ाते ही रहे हैं। बहुत सत्संग किये हमने! बहुत बार पढ़ा और जाना है। पुनः-पुनः जानकर अनजान बने हैं। संसार की सड़ान्ध भरी सांसारिकताओं में पुनः-पुनः भटक-भटक गये हैं। बहाना एक ही रहा है कि हथकड़ियों और बेड़ियों से ही नहीं छूटते हैं। हे परम सरल! कितनी सरलता से तुम हमारी विषयान्धता, पाप और कपट को हथकड़ी और बेड़ी के रूप में सामने रख देते हो। संसारिकता की हथकड़ियों और बेड़ियों का बहाना लेकर, न जाने कितनी बार हमने स्वयं को धोखा दिया है। अमुक कार्य सिद्ध हो जाये, तो ईश्वर की राह चलूं! लड़का और लड़कियों के कार्य अभी बाकी हैं? उनके काम सही हो जायें तो ईश्वर की राह चलूँ। औलादों की हथकड़ियाँ और बेड़ियाँ हमें भगवान के रास्ते नहीं जाने देती इत्यादि। हे परम निर्मल! तुमने वसुदेव की हथकड़ियों के रूप में ही हमारी हथकड़ियों और बेड़ियों को दिखाया। निर्मल वसुदेव तो चाहता है, कि उसकी हथकड़ियाँ और बेड़ियाँ टूट जायें। वसुदेव तो सचमुच महाविष्णु की इच्छा का ही अनुसरण कर रहा है। परन्तु हम जैसे महा कलुषित लोग हथकड़ियों और बेड़ियों का मात्र बहाना करते हैं! हमने तो हथकड़ियों और बेड़ियों को आभूषण बना रखा है। हथकड़ियों और बेड़ियों को तो हमने अपनी उपलब्धि बना रखा है। हम खोलना ही कहाँ चाहते हैं?

कैसे छूटेंगे हम लोग? काश! तुम्हारी रहस्य - लीला का जादू चढ़ता और छूट पाते हम इन हथकड़ियों और बेड़ियों से।

बाल कन्हैया प्रकट हो चुके हैं। इतिहास और अध्यात्म का जगमगाता क्षण आ चुका है। वसुदेव की पीड़ा बढ़ गयी है, वे चिन्तित और व्याकुल हैं। युग के इस क्षण को नन्द बाबा तक कैसे पहुँचायें? बाहर पहरेदार गहरी निद्रा में सोये हुए हैं। अभी जागेंगे! वे और दौड़कर कंस को सूचना देंगे। वसुदेव तब क्या होगा? शीघ्रता से उपाय सोचो। जल्दी करो समय फिसल रहा है?

तभी विचार वसुदेव के मन में कौंध जाता है! विचार जो वसुदेव को झकझोर देता है! ' **अरे वसुदेव! तू क्यों और कैसे इन्हीं प्रश्नों में फंस रहा है? महाविष्णु के आदेश पर आस्था रख! उन्होंने जो कहा है, उसका स्मरण कर! जितना तुझसे बन सकता है उतना ही कर! शेष हरि पर छोड़ दे। उनका निमित्त होकर कर्म को कर।** '

विचार के साथ ही वसुदेव के अन्तर में एक रोशनी की किरण सी फूट चली है। वे हथकड़ी लगे हाथों से बाल कन्हैया को टोकरी में रखते हैं, मन में कुछ छिपा हुआ संशय भी है? ये सब व्यर्थ का कार्य क्यों कर रहा है? तू इन्हें कैसे ले जायेगा?

फिर भी वह हथकड़ी लगे हाथों से बाल कन्हैया को टोकरी में रखते हैं। फिर टोकरी को उठा कर सिर पर रखते हैं। तभी एक विचित्र लीला होती है। विस्मय से वसुदेव स्वयं को देख रहे हैं। हथकड़ियाँ और बेड़ियाँ खुल गयी हैं। बेड़ियाँ उनके शरीर से छिटक कर, फर्श पर आ गिरी हैं। वसुदेव मुक्त हैं। उनकी दृष्टि जेल के फाटकों पर पड़ती है तो वह अवाक रह जाते हैं। जेल के फाटकों के ताले स्वतः खुल कर फर्श पर जा गिरे हैं। फाटक खुले हुए हैं। पहरेदार प्रगाढ़ निद्रा में सोये हुए हैं।

हे सूक्ष्म दृष्टा! इस रहस्य - लीला में मैं इस सूक्ष्म सत्य को देख रहा हूँ। जिसके बिना मैं भटकता रहा हूँ। तुम्हारी रहस्य लीलाएँ ही मेरे जीवन की रहस्य लीलाओं का अनावरण हैं। अपनी कथाओं मे तुम मुझे मेरे भीतर, बाहर का सब कुछ दिखलाते हो। तम्हारी कथाओं में मेरी जानी अनजानी भूलें है। मुझसे ही जुड़ी असंख्यों शंकाएँ हैं। जिनका तुम संशय रहित अन्तिम समाधान देते हो।

साक्षात् महाविष्णु प्रकट हुए, परन्तु फिर भी वसुदेव की हथकड़ियां और बेड़ियां न खुलीं। जेल के बंद फाटक और ताले यथा स्थान रह गये। महाविष्णु के प्रकट होने पर भी वसुदेव स्वतन्त्र न हुआ। जब साक्षात् महाविष्णु निष्पाप वसुदेव की हथकड़ी और बेड़ी न खोल पाये? मन्दिर में उनकी मूर्ति का दर्शन कर, फूल फेंक आने मात्र से मेरी संसारिक हथकड़ियां और बेड़ियां कैसे खुलती? सुबह और शाम की पूजा, मूर्ति के सामने झुकना, तिलक लगाना और फूल चढ़ाना, इसी को हम सब कुछ मान बैठे थे। कैसे खुलती संसारिकता की हथकड़ियां और बेड़ियां? क्योंकर छूट पाते हमें? जब साक्षात् महाविष्णु वसुदेव की हथकड़ियां और बेड़ियां न खोल पाये, तो उनकी मूर्ति के सामने हमारी हथकड़ियां और बेड़ियां न खुली तो आश्चर्य कैसा?

जैसे ही बाल कन्हैया को टोकरी में रखा और टोकरी को उठाकर सिर पर रखा तो समाधान मिल गया। हथकड़ियां और बेड़ियां खुल गयीं। **काश! हम भी इस सिर रूपी टोकरी में गोविन्द रूपी विचारों को बैठा पाते**! निश्चित समाधान मिल जाता! हथकड़ियां और बेड़ियां खुल जाती। फूल चढ़ाने मात्र से हथकड़ियां और बेड़ियां नहीं खुला करती। **मस्तिष्क रूपी टोकरी में ईश्वर रूपी विचारों को सजा लेने से प्रत्येक हथकड़ी और बेड़ी स्वतः टूटकर गिर जाती है**। हे परम् गुरू! तुमने इस गूढ़ सत्य को कितना मधुर, सरल और ग्राह्म करके दिखलाया है। एक पूर्ण समाधान!! काश! हम अपने जीवन में इस समाधान को अंगीकार कर पाते। सिर रूपी टोकरी में, कृष्ण रूपी मधुर विचार को, सदा-सदा के लिए बसा लेते।

सिर रूपी टोकरी में हमने संसार को बसाया हुआ है। लिप्साएं हैं। वासनाएं हैं! आसक्तियां हैं! ईर्ष्या, द्वैष, घृणा और मायाओं की नाना चिन्तायें हैं। एक भारी भीड़

बस (वास) रही है इस सिर रूपी टोकरी में। गोविन्द रूपी विचार के लिए उसमें स्थान कहाँ है? काश! हम संसार को संसार तक ही रहने देते। बाह्य जगत को बाहर ही रखते तथा अंतर का देवता इकलौता सा टोकरी में रहता। हम निश्चित समाधान पाते।

फिर-फिर दुहराता हूँ तेरी इस पावन कथा को! पुनः-पुनः छू जाते हैं, तुम्हारी लीला कथा के अमृत क्षण! बारम्बार रस्सी की रगड़ से पत्थर पर भी लकीर आ जाती है। फिर-फिर तेरी कथा के क्षणों को छू लेता हूँ। शायद पत्थर हो गये इस मन में भी रगड़ पड़े और समाधान मिल जायें।

हरि ॐ! नारायण हरि!!

7

नन्द के गाँव

वेदव्यास! लीला के उन क्षणों को मेरे मन का पक्षी अपने पंखो से छूने लगा है। काली अंधेरी रात में भी मुस्कराती ज्योति का दर्शन सुख मिल रहा है। जेल के सींखचों के भीतर इतिहास का अमर क्षण प्रकट हुआ है। सीलन भरी पत्थर की जेल को भी सौभाग्य का क्षण मिला है।

टोकरी को सिर पर रखे हर्षातिरेक, विस्मित वसुदेव विस्फारित नेत्रों से जेल के खुले फाटक देख रहे हैं। हथकड़ियां और बेड़ियां धराशायी हो गयी हैं। वसुदेव को लगता है, कि उनमें एक नये जीवन का संचार हो उठा है। वर्षों की जेल की सड़ी सीलन की वह टूटन और थकान, कुछ भी तो अब उनकी देह में नहीं है। एक अल्हड़ किशोर की तरंग सी उमंग और ताजगी उनके सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हो रही है। क्यों न हो? जिस सागर की एक बूँद की चाहत में योगी और तपस्वी युगों-युगों तक तपस्या करते हैं, आज वह महासागर वसुदेव के सिर पर लहरा रहा है। हर क्षण सुखद्, ज्योर्तिमय और हर्षोल्लास को उद्वेलित कर रहा है।

उमंग भरे कदम, बाल कन्हैया को टोकरी में रखे सिर पर चल दिये हैं जेल के बाहर! नंद, आनन्दमग्न यमुना के तट की ओर बढ़ रहे हैं। मूसलाधार पानी बरसने लगा है। बरखा की तीखी बौछारें एक विचित्र सुखद आनन्द की अनुभूति दे रही हैं। लगता है जैसे कोई फूलों से बदन सहला रहा हो। रोम-रोम में बाल कन्हैया की मनमोहिनी छवि बनाए वसुदेव यमुना में प्रवेश कर गये हैं।

कैसी विचित्र लीला-कथा है तुम्हारी! वेदव्यास! भगवान वासुदेव प्रकट हुए, तो सम्पूर्ण विषयान्ध जगत सो गया! पहरेदार सो गये! सेनापति, सैनिक यहाँ तक कि

कंस भी गहरी नींद में सोया हुआ था। जाग रहे थे भक्त हृदय वसुदेव! सच भी तो है! **जब ईश्वर प्रकट होता है तो सम्पूर्ण विषयी और विषयान्ध जगत सो जाता है। केवल देवता जागते हैं। विषयी समाज और विषयान्ध संसार को सोना ही पड़ेगा, क्योंकि वे हरिदर्शन के अधिकारी नहीं हैं।**

नया जीवन, नयी उमंग, नयी स्फूर्ति लिए वसुदेव यमुना में प्रवेश कर गये हैं। धीरे-धीरे वे नदी पार कर रहे हैं। यमुना का जल गहरा होता जा रहा है। पानी वसुदेव की छाती से भी ऊपर उठने लगा है। वसुदेव बाल कन्हैया समेत टोकरी को ऊँचा उठा रहे हैं। वे क्या जाने कि माँ यमुना अपने नन्हें आराध्य के पावन चरणों का स्पर्श करना चाहती हैं। जैसे-जैसे वे टोकरी को ऊँचा उठाते जाते हैं। लहरें और भी ऊपर उठती चली जाती हैं। तभी बढ़ते कदमों को एक ठोकर सी लगती है और हाथों से पकड़ी टोकरी एक ओर को झुक जाती है। माँ यमुना की धाराएं सम्भवतः इसी क्षण की प्रतीक्षा में हैं। वे उछलकर बाल कन्हैया के पावन चरणों का स्पर्श पाती हैं तथा धारायें शान्त हो जाती हैं। बढ़ती हुई यमुना की धाराओं को देखकर लगता था कि शायद यमुना वसुदेव के धैर्य की परीक्षा ले रही हों? ये सत्य नहीं था। माँ यमुना भी जानती हैं कि जिसने अपने सिर रूपी टोकरी में श्रीकृष्ण बसा लिया है, उसकी परीक्षा कदापि नहीं हो सकती। **जिसके मस्तक रूपी टोकरी में स्वयं कृष्ण विराज जाते हैं, वह परीक्षाओं और परिस्थितियों से बहुत ऊपर उठ जाता है।**

यमुना को पार कर आनन्दमग्न वसुदेव जी शीघ्रता से नन्दमहल की ओर बढ़ रहे हैं। उन्हें न तो देवकी की चिन्ता है। न कंस के आने का भय है। वे तो प्रेम के सागर में झूमते हुए नन्द के महल में प्रवेश कर गये हैं। आश्चर्य है कि सारा गाँव सोया हुआ है। यहाँ तक कि नन्द और यशुमति भी सो रहे हैं। अनुचर और प्रहरी भी सोये हुए हैं। वसुदेव जी शीघ्रता से प्रवेश करते हैं। यशोदा जी के पास बाल कन्हैया को लिटा देते हैं तथा कन्या के रूप में प्रकट हुई योगमाया को टोकरी में लिटाकर, टोकरी को उठाकर सिर पर रख लेते हैं।

टोकरी के सिर पर आते ही वसुदेव जी को देवकी की चिन्ता सताने लगती है। वे भयभीत हैं कि कहीं पहरेदार जाग गये तो क्या होगा? शीघ्रता से बाहर आते हैं माथे पर टोकरी लिए भयभीत दौड़ लगाने लगते हैं। वे शीघ्रता से यमुना की ओर बढ़ रहे हैं।

जब कृष्ण टोकरी में थे, तो सारी दुनियाँ की चिन्ताओं से मुक्त थे, आनन्द विराज रहा था। टोकरी से गोविन्द हटे और माया आयी, तो चिन्ता और भय उन्हें भगाये ही लिए जा रहा है। पहले आनन्द में दौड़ रहे थे, अब भय और चिन्ता में भाग रहे हैं।

वसुदेव जी शीघ्रता से यमुना को पार कर पुनः जेल में प्रवेश करते हैं। पहरेदार अभी सो रहे हैं। फाटक खुले हैं। टोकरी उठाकर नीचे रखते हैं। भय, चिन्ता और तनाव आदि से उन्हें मुक्ति मिलती है, वे गहन निद्रा में खो जाते हैं। कृष्ण प्रकट हुए थे तो विषयी समाज सो गया था तथा नन्द के यहाँ माया प्रकट हुई तो देवता सो गये। नन्द के यहाँ नन्दबाबा भी सो गये यशोदा भी सो गयीं। सारा गाँव सो रहा था। कैसी विचित्र, रहस्यमय कथा सुनाते हो तुम? **जब ईश्वर आते हैं तो देव समाज जग उठता है तथा जब माया आती है, तो देव समाज सो जाता है। एक नित्य जीवन्त सत्य!**

हथकड़ियां और बेड़ियां पुनः वसुदेव को लग जाती हैं। जेल के फाटक बंद हैं। ताले यथावत लगे हुए है। माया आयी तो जीव पुनः हथकड़ियों और बेड़ियों से जकड़ गया। गोविन्द आये तो हथकड़ियों और बेड़ियों से मुक्ति मिली। माया आयी तो पुनः बंध गये। **जब तक मेरे मस्तिष्क में ईश्वर भक्ति के विचार जगमगाते रहते हैं, मैं संसार से तथा संसार की सभी चिन्ताओं से मुक्त रहता हूँ। प्रभु भक्ति का विचार मन में से हटा नहीं कि विषयान्ध जगत की हथकड़ियां और बेड़ियां मुझसे जकड़ गयीं, जीवन एक जेल बन गया।**

स्वप्न जगत में चलते हैं! नंद के गाँव! गोप-गोपियां निद्रावस्था में एक सुन्दर स्वप्न देख रही हैं। एक नन्हा सा सुकुमार, सुन्दर भोला मोहक मुस्कराता मुखड़ा, सुन्दर केश राशि, सुन्दर जूड़ा, कमर में चाँदी की बाँसुरी, मधुर घण्टियाँ! पैर घुंघुरूओं से सजे, सम्पूर्ण शरीर से प्रस्फुटित होती नीलाभ दीप्तियां, विशाल नेत्रों का सम्मोहन रोम-रोम को झंकृत कर देने वाला नन्हा जादूगर! सारा नन्द गाँव निद्रा निमग्न इस मोहक सुकुमार को देख रहा है। उन्हें लगता है, कि वह उनको अपनी ओर खींच रहा है। नन्द के महल में आने का आमंत्रण दे रहा है। मानों कह रहा हो, ''मैं नन्दबाबा के यहाँ आ गया हूँ। तुम्हारी प्रतीक्षा की घड़ियाँ समाप्त हुई, शीघ्र आओ!'' सारे नर-नारी नन्दमहल की ओर दौड़ पड़े हैं। रोम-रोम पुलकायमान है। चहुँ ओर पेड़ों पर मधुमास उतर आया है। फलों और फूलों से वृक्ष और लताएँ सजने लगी हैं। सारे वातावरण में एक सम्मोहक सुगंध सी फैलती जा रही है। लगता है कि जैसे किसी जादूगर ने मोहक इन्द्रजाल फैला दिया हो? नन्द जी हैरान हैं। इन सबको बताया किसने, कि मेरे यहाँ लड़का हुआ है? सब आनन्दमग्न नाच गा रहे हैं। नन्द के द्वार भीड़ बढ़ती ही जा रही है। पूरब में ब्रह्ममुहूर्त्त की पहली किरण फूट चली है।

मथुरा चलते हैं। गहरी निद्रा में सोये हुए पहरेदार भी स्वप्न देख रहे हैं। वे स्वप्न में कंस को देख रहे हैं। जो उन्हें वस्त्राभूषण दे रहा है। **माया स्वप्न में भी सांसारिक**

लोभ और लालच देती है। विषयी स्वप्न में भी सांसारिकताओं को ही देखता है। भक्त समाज स्वप्न में भी अपने आराध्य प्रभु के दर्शन पाता है। सुनों! जब स्वप्न में भी प्रभु के ही दर्शन हों, तभी जानना तुम भक्त हो।

द्वारपाल दौड़कर कंस के पास जाकर उसे सूचना देते हैं। देवकी का आठवां प्रसव हो चुका है। कंस दौड़ा हुआ आता है। जेल के फाटक खोलने का आदेश देता है। कंस की कड़कती आवाज से वसुदेव जी सावधान होते हैं। देवकी भी सहम गयी हैं। वह पापी कंस बलपूर्वक नवजात शिशु को देवकी से छीन लेता है। उसके वीभत्स ठहाके जेल को कम्पायमान कर उठते हैं। ''अरे यह तो कन्या है!''

कंस बालिका को पकड़कर पुनः ठहाका लगाता है, ''महाविष्णु! कंस के भय से कन्या के रूप में प्रकट हुए हो, यह सोचकर कि तुम्हें कन्या! जानकर कंस छोड़ देगा। परन्तु ऐसा कदापि नहीं होगा। कन्या रूप में भी तुम्हें कंस के हाथों मरना ही पड़ेगा!''

कंस उस कन्या को पत्थर की शिला पर पटकना चाहता है। परन्तु वह फिसल कर उसके हाथों से बाहर निकल जाती है। उसका रूप भी अति विशाल हो उठता है। वह कसकर कंस की छाती पर लात मारती है। कंस धरती पर गिर पड़ता है। ज्योति का रूप धारण करके वह कन्या गगन में उठती चली जाती है, तथा कहती है, ''रे दुष्ट! तेरा वध करने वाला प्रकट हो चुका है। आज से ठीक ग्यारहवें वर्ष के प्रथम दिन का जब उदय होगा, तू उसके द्वारा मृत्यु को प्राप्त होगा।''

ज्योति गगन में लोप हो चुकी है। कंस बुरी तरह से भयभीत है। उसने सारे जाल बिछाए परन्तु, अपनी मृत्यु को न रोक पाया। कंस के रूप में वेदव्यास हमको हमारी ही तो कहानी सुना रहे हैं। हम सब भी तो मृत्यु के द्वार पर खड़े हैं। कौन जीत पाया है मौत को? जिन्होंने आत्मा से अद्वैत किया तथा योग द्वारा आत्मा में खोकर आत्मा ही हो गये। वे ही आत्मा की भाँति अमर हुए। कंस उस मार्ग पर तो जाना नहीं चाहता है। केवल पापपूर्वक मृत्यु को मारकर अमर होने की कल्पना करता है। वही तो हम जैसे संसारिकों की अवस्था है। यदि कंस में भक्ति का थोड़ा सा भी अंश होता तो आकाशवाणी को सुनकर वह देवकी को मारने को तैयार न होता तथा उसे जेल भी नहीं भेजता। इसके बजाय स्वयं को संसार की जेलों से बाहर निकालता। संसार से विरक्त होकर प्रभु की राह लेता। आज कंस भयभीत है। क्योंकि प्रभु प्रकट हो गये हैं। यहीं भेद है। भक्त मात्र को आनन्द है, कि नारायण धरा पर मनुष्य रूप में प्रकट हो गये हैं। लेकिन पापी और पाप तो स्वभावतः ही भयभीत होंगे। ईश्वर की राह में विषयान्ध पापी को भय होता है। भक्त को परमानन्द!

माया ने प्रकट होकर कंस की छाती में कसकर लात मारी थी क्यों? इसलिए कि माया कहती है कि वह विष्णु की चेली है। नारायण ही उसके सब कुछ हैं। जो नारायण के भक्त होते हैं, उनकी वह माँ बनकर सेवा करती है। परन्तु जो विषयान्ध कंस बनते हैं उनकी सेवा वह लातों से करती है। **रे लतखोरी लाल! भज गोपाल!!**

हरि ॐ! नारायण हरि!

8

पूतना वध

वेदव्यास! तुम्हारी कथा ही हम सबकी कहानी है। तुम कृष्ण के जन्म की कथा ही नहीं वरन् हम सबके जीवन की कहानी सुना रहे हो। ऋग्वेद के प्रथम ऋषि मधुच्छन्दा की यह ऋचा, कृष्ण-जन्म के साथ मेरे मानस पर, उभर आयी है।

समोहे वा य आशत नरस्तोकस्य सनितौ।

विप्रासो वाधियायवः।।1. 8.6.

(समोहे) मोह से संयुक्त था जब मैं अर्थात् मोहासक्त था मैं। (आशत) अघा रहे थे तुम। हे आत्मा! हे यज्ञ! (वा) तथा। (नरस्तोकस्य सनितौ) संतान से संयुक्त होने के लिए भी हे आत्मा! हे यज्ञ! जब तुमसे प्रार्थना की। चाहा यही कि मुझे भी संतति से वरद् करो। मुझे भी पिता कहलाने का सम्मान दो तो हे पिता। (विप्रासो) जो उत्पत्ति के ज्ञान तथा सामर्थ्य से रहित है। जो अपने ही शरीर का कोई अंग नहीं बना सकते। ऐसे नपुंसक और बाझों को। (धियायवः) तुमने संतति से वरद् किया। उनके वंश चले। वे माता-पिता कहलाये।

वेदव्यास! अपनी इस कथा में तुम वेद की इस अनुपम ऋचा को दुहरा रहे हो। ''वसुदेव'' अर्थात् अग्नियों का देवता! घट-घट वासी आत्मा! ''देवकी'' अर्थात् ब्रह्म ज्वाला। आज भी वसुदेव और देवकी अर्थात् आत्मा और ब्रह्म ज्वाला ही तो प्रत्येक गर्भ में बालक को स्वरूप प्रदान करते हैं। कोई भी माँ जब अपने ही शरीर का एक अंग नहीं बना पायी तो उसने बालक कब बनाया? आज भी प्रत्येक शरीर में वसुदेव और देवकी अर्थात् आत्मा और ब्रह्म-ज्वाला ही बालक को प्रकट करते हैं। शरीर वसुदेव और देवकी के लिए जेल ही तो है क्योंकि इस शरीर पर अंधता और

मोहान्धता, मिथ्याभिमानी मन रूपी कंस का अधिकार है। मेरा मोहान्ध, मिथ्याभिमानी मन ही तो कंस है। दसों इन्द्रियाँ बहिर्मुखी हैं। वसुदेव और देवकी बैठे हैं भीतर! मेरे मन की प्रत्येक राह इन्द्रियों के द्वार से भागती है बाहर। मन के तागों से बंधी ये बुद्धि, ये जीव, बार-बार बाहर भाग रहा है। शरीर वसुदेव और देवकी के लिए जेल ही तो हो जायेगा। आज भी वसुदेव और देवकी ही बालक को उत्पन्न करते हैं। जब बालक उत्पन्न हो जाता है तो हम सब माता-पिता नन्द और यशोदा बनकर ही तो पालते हैं। हमने बालक कब बनाया? प्रत्येक बालक वसुदेव और देवकी के द्वारा ही प्रत्येक घर में प्रकट होता है। भौतिक माता-पिता तो मात्र नन्द और यशोदा बन पालते हैं।

काश! हम जान पाते कि हमने ही आत्मा, ब्रह्म ज्वाला को, इस शरीर को जेल बनाकर, उन्हें बन्दी बना लिया है। हम तो मन कंस के दास हैं। विषयान्ध जगत में हम सब भटक रहे हैं। हमारी भक्ति में कितना सत्य है? कृष्ण रूपी विचार एक बार कौंधता है मेरे ही अंतर में। लगता है इस बार प्रभु प्रकट हो गये। अब कृष्ण का होकर ही जिऊँगा, परन्तु ये क्षण स्थिर नहीं रह पाते। मोहान्ध मन मुझे फिर कंस बना विषयान्ध जगत में भटका देता है। लुट जाता है कृष्ण भक्ति रूपी अमृतमय विचार। काश! मैं भी अपनी ही आत्मा वसुदेव के साथ आत्मस्थ हो इस शरीर रूपी जेल में जिया होता। मैं भी वसुदेव के साथ साधना और तपस्या की राह पर वसुदेव से जुड़ इस जेल में दस साल जी लेता, तो ग्यारहवें वर्ष के प्रथम दिन मैंने इस विषयान्ध, मोहान्ध मन कंस को धराशाई कर दिया होता। जीवन गोकुल हो जाता। मैं ज्योर्तिमय गोपाल के कुल का कहलाता। गोकुल नाम सार्थक होता। गो + कुल = गोकुल!

मथुरा का राजा कंस भयभीत है, डरा हुआ सहमा हुआ है। उसका काल प्रकट हो गया है। कंस की दोनों पत्नियाँ अस्ति और प्राप्ति उसे सांत्वना देती हैं। कंस को ढाँढ़स बंधाती हैं, परन्तु वे स्वयं भी भयभीत हैं। वे डरी हुई हैं। जानती हैं कि कंस का अन्त अब निश्चित है।

वेदव्यास! तुम्हारी कथा मुझे मेरे ही अन्तर में, वसुदेव और देवकी के समीप वारम्बार घसीटकर ले जाती है। कंस की पत्नियों के नाम हैं "अस्ति" और "प्राप्ति"। "अस्ति" शब्द का अर्थ है, "होना" अथवा "है"। ये मेरा है! ये मेरा था! मैं इसका मालिक हूँ! मेरी सम्पत्ति पर मेरा अधिकार है! **अस्ति**! दूसरी का नाम है प्राप्ति! "प्राप्ति" शब्द का अर्थ है मिलना, प्राप्त होना। मुझे यह वस्तु और प्राप्त हो जाय। मैं सम्मान को प्राप्त होना चाहता हूँ। मुझे अमुक साम्राज्य की प्राप्ति हो जाये **प्राप्ति**! कंस की पत्नी प्राप्ति!

मोहान्ध मन कंस मुझे बांधता है। उसकी दोनों पत्नियां ''अस्ति'' और ''प्राप्ति'' मुझे भौतिकताओं में फँसाती चली जाती हैं। मैं अपनी सम्पत्ति का द्वारपाल भर बनकर रह जाता हूँ! पहरेदार बन जाता हूँ! कुछ और प्राप्त करने के लिए मैं व्याकुल हो उठता हूँ! ''अस्ति'' और ''प्राप्ति'' मुझे भ्रमाती हैं, नचाती हैं। मेरे जीवन के क्षण निरन्तर लुटते रहते हैं। कंस, अस्ति और प्राप्ति के चंगुल में फंसा, मैं लुटता ही रहा हूँ! लुटता ही रहता हूँ! खो जाते हैं मेरे गोविन्द! कृष्ण से छूटा! स्वयं से टूटा! मैं एक अभिशप्त अंधे की तरह जीवन के स्वर्ण को फेंकता, भस्मी के कणों को बटोरने लगता हूँ! फिर एक दिन संसार भी देखता है कि मैं, चिता की लकड़ियों पर, चन्द मुट्ठी राख बन छितरा गया हूँ। यही तो मेरी कहानी है। यही तो तुम्हारी कृष्ण कथा है।

कंस भयातुर है। कंस चिन्तित है। उसकी पत्नियाँ और मंत्रीगण उसे सभी प्रकार की सांत्वना दे रहे हैं। परन्तु कंस की व्याकुलता कम नहीं हो रही है। उसे अपनी मृत्यु का भय हर क्षण सता रहा है। कंस, डर, भय और मौत से बचने की आकाँक्षा के कारण विक्षिप्त और उन्मादित हो रहा है। वह मंत्रियों को आदेश देता है कि उसके साम्राज्य में जितने नये बालक उत्पन्न हुए हैं, उन सबको, उनकी सेनायें जाकर, मारकर फेंक दें। मंत्रीगण कंस को समझाते हैं कि वह ऐसा न करे। इससे सारे साम्राज्य में जनमानस विद्रोह कर उठेगा। जन विद्रोह की लपटों से कंस के महल और कंस स्वयं जल सकता है। कंस की सेनाओं के द्वारा नवजात शिशुओं की हत्यायें नहीं करानी चाहिए। कंस के मंत्री कंस को सलाह देते हैं। कंस अपने मंत्रियों के विचारों से सहमत है, परन्तु वह अपने महाकाल को भी तो मारना चाहता है। कंस, आतंकवादी, राक्षसी पूतना को बुलाता है। महाराज जरासंध ने कंस को दहेज में बहुत सी राक्षसियों और राक्षसों को दिया था। पूतना उन्हीं में है। पूतना बहुत ही मायावी है। वह अदृश्य होने तथा नाना रूपों को धारण करने की कला में समर्थ है। वह मन की शक्ति से कहीं भी आ जा सकती है। कंस पूतना से कहता है। वह माया और छल के प्रभाव से कंस के साम्राज्य में उत्पन्न हुए सभी नवजात शिशुओं को मार दे। पूतना कंस को आश्वस्त करती है। पूतना, कंस से आज्ञा लेकर बच्चों को मारने चल देती है। पूतना मन की गति से कहीं भी जा सकती है। गन्दे विचार को विषयान्ध मन ऐसी ही शक्ति देता है।

वेदव्यास! तुम्हारी इस कथा में फिर मैं अपने ही अंतर को ढूँढ़ने लगा हूँ। मैं अपने भीतर खोजता हूँ, तो उस महामायाविनी पूतना को खोज निकालता हूँ। मैं सभीत अपने ही अंतर में उस भयानक राक्षसी को देख रहा हूँ। इस पूतना ने न जाने कितनी बार मेरे कृष्ण-भक्ति रूपी नवजात विचार की हत्या की है। ''पूत''

अर्थात पवित्र, ''ना'' अर्थात नहीं। जो पवित्र नहीं है, वही तो पूतना है। मेरे ही गन्दे विचार मेरे अपवित्र विचार ही तो पूतना हैं। विचारों के आचरण और व्यवहार की अपवित्रता ने ही हर बार मुझे भक्ति के सुखद उन्नत स्तर से गिराकर, अपवित्र विषयान्ध जगत में भटकाया है। न जाने कितनी बार इस विषैली पूतना के कारण ही मैं प्रायश्चित की अग्नियों में जला हूँ! तड़पा हूँ! न जाने कितनी बार मैंने पूतना से दूर रहने के संकल्प लिए। अब तो गोविन्द का, कृष्ण का, होकर जिऊँगा। न जाने कितनी बार कितनी-कितनी कसमें खायीं। हर बार मेरे ही भीतर बसने वाली इस अपवित्र पूतना ने मेरी कसमें तोड़ी। मेरे संकल्प मिटाये। भक्ति रूपी नवजात विचार की हत्या की! मेरे ही सामने मेरे संकल्प खण्डित होते रहे। मेरे ही मनोरम विचारों का कृष्ण, मेरी अनन्य भक्ति का भाव, पूतना के द्वारा पुनः-पुनः मिटता रहा! मरता रहा!

कंस की भेजी पूतना गाँव-गाँव में उत्पात मचा रही है। न जाने कितने गाँवों में उसने नवजात शिशुओं की हत्या कर दी है। नन्द के गाँव में भी पूतना प्रवेश कर गयी है। जिस बालक पर उसकी छाया पड़ जाती है वह मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। ग्रामवासी, नन्दबाबा सभी हैरान हैं कि कैसी विचित्र बीमारी है। सभी नवजात शिशुओं को मारे जा रही है। कंस के गुप्तचर नित्यप्रति कंस को सूचना देते है। शिशुओं की मृत्यु का समाचार पाकर कंस को सुखद शान्ति मिलती है।

पूतना सुन्दरी का रूप धारण किये हुए नन्द महल को जाती है। पूतना एक अपवित्र गन्दी दुर्वासना का नाम है। मत भूलो तुम्हारे मन की गन्दगी और दुर्वासना सदा लुभावना रूप धारण कर तुम्हें आसक्त और लोभी बनाकर ही फंसाती है। नन्द और यशोदा भी उसके सुन्दर मनोरम और लुभावने स्वरूप को देखकर धोखा खा जाते हैं। वे उसमें राक्षसी होने का सन्देह नहीं करते हैं। पूतना बाल कन्हैया को प्यार करने का अभिनय करती हुई उन्हें अपनी गोद में ले लेती है। यशोदा जी को कुछ भी सन्देह नहीं होता है। पूतना ने अपने स्तनों पर विष का लेप कर रखा है। वह बाल कन्हैया को स्तनपान कराने का नाटक करती है। जिससे उसके स्तन पर लगा विष चाटने से बालक की मृत्यु हो जाये। बाल कन्हैया पूतना की मंशा को जानते हैं। भगवान दोनों हाथों से उसके स्तन को पकड़कर स्तनपान करने लगते हैं। वह स्तनपान में पूतना के प्राणों को भी पीने लगते हैं। पूतना पीड़ा से तड़प उठती है। वह स्वयं को कृष्ण से अलग करने की कोशिश करती है, लेकिन स्वयं को छुड़ा नहीं पाती है। विशाल राक्षसी का रूप धारण करके वह गगन में उड़ने लगती है। पूतना स्वयं को बचाने के बहुत प्रयास करती है, परन्तु भगवान के द्वारा मृत्यु को प्राप्त होती है तथा धरती पर गिरती है। ग्वाल-बाल, गोपियां तथा नन्द और यशोदा

जी सभी इस वीभत्स लीला को देखकर भयातुर पूतना के पीछे दौड़ रहे है। पूतना की छाती से बाल कन्हैया को उठाकर गोपियां, यशोदा जी को देती है। यशोदा अपने लाड़ले को सीने से लगाकर भयभीत दौड़ती हुई महल में आती है। इस प्रकार भगवान, पूतना को उद्धार करते है। **काश! हम भी इसी प्रकार विचारों में व्याप्त हो गई पूतना को मार पाते तो हमारा विषाक्त जीवन भी अमृतमय होता।**

पूतना अपने पूर्व जन्म में असुरराज महाराज बलि की कन्या थी, जिस समय महाविष्णु ने वामन अवतार का रूप धारण किया तथा राजा बलि से तीन पग धरती मांगने गये थे। पूतना उस समय अपने पिता राजा बलि के पास थी। जब भगवान वामन रूप में राजा बलि से धरती मांगने गये, उस समय राजा बलि की पुत्री के मन में छोटे से वामन के प्रति मातृत्व जग उठा। राजा बलि की कन्या के कोई सन्तान नहीं थी। वामन को देखकर उसके मन में इच्छा जागी कि काश! ये मेरा पुत्र होता तो मैं इसे स्तनपान कराती। वह मन ही मन वामन को पुत्र रूप में प्यार करने लगी।

वामन रूप धरे महाविष्णु ने राजा बलि से तीन पग धरती पांगी, शुक्राचार्य के मना करने पर भी तथा इसका आभास मिलने पर भी कि बालक का रूप धारण किये विष्णु ही हैं, राजा बलि धरती देने पर तत्पर हो गये। उन्होंने वामन रूप धरे विष्णु से तीन पग धरती नापने को कहा। तब वामन ने अति महाकाय रूप धारण किया और दो पग में ही धरती और पाताल नाप लिया। तीसरे पग में उसने राजा बलि को भी नाप डाला। राजा बलि की पुत्री के मन में इस छल पूर्ण कृत्य को देखकर वामन के लिए उसके मन में क्रोध और घृणा जागी। उसने मन में सोचा कि काश! वह इस बालक को विषपान करा सकती। राजा की कन्या की यह दोनों इच्छायें उसके जीवन की अतृप्तियाँ बनी। मृत्यु के उपरान्त पुनर्जन्म हुआ तो वह कन्या राक्षसी पूतना हो गई। **काश! हम इस सत्य को सदा याद रख पाते, कि दूसरों के प्रति मन में बदले की भावनाओं के गन्दे विचार मुझे जन्म-जन्म पूतना बना कर भटका देते हैं।** भगवान ने राजा बलि की बेटी की दोनों भावनाओं का सम्मान किया। पूतना बाल कन्हैया के रूप में प्रकट हुए महाविष्णु को स्तनपान भी कराया तथा स्तन पर विष लगाकर विषपान भी कराया। भगवान बहुत दयालु हैं। वे जीव की भावनाओं का उचित सम्मान करते हैं। प्रभु आत्मा के रूप में घट-घट वासी हैं। इसलिए हे भोले भक्त! **अपने मन को सदा निर्मल रख! किसी के लिए मन में भी विषाक्त कुविचारों को मत ला। कहीं ये गन्दे विचार तुम्हें जन्म - जन्म भटकाने वाली पूतना ही न बना दें।**

वेदव्यास! तुम्हारी इस अमृतमयी कृष्ण कथा में मैंने स्पष्ट रूप से अपने ही भीतर

बैठी पूतना देख ली है। अपवित्रता ही पूतना है। मुझे अपने जीवन में अपवित्रता रूपी इस पूतना को मारना है। जब तक विचारों की अपवित्रता रूपी पूतना नहीं मरेगी, कृष्ण भक्ति रूपी बाल विचार जो मेरा बाल कन्हैया है, कभी भी निर्भय नहीं होगा। कृष्ण भक्ति रूपी नवजात विचार तथा अपवित्रता रूपी पूतना दोनों संग - संग नहीं जी सकते। एक को मरना ही होगा। पूतना मरे तभी जीवन का उद्धार है।

वेदव्यास! तुम्हारी कथा के अमृत का पान करके निश्चय ही मैं इस पूतना को मार सकता हूँ! मैंने इसे पहचान भी लिया है। मैं जब चाहूँ, इसे मार सकता हूँ। परन्तु, मारूंगा नहीं! वेदव्यास! पूतना को पहचानने के बाद भी पूतना को मारने की मेरी इच्छा नहीं होती है। मैं तुमसे झूठ नही बोलूँगा। मैं तो पूतना के लिए ही जी रहा हूँ। द्वापरयुग भले कृष्ण के लिए जिया होगा? परन्तु कलियुग जीवन तो पूतना के पालने में ही झूल रहा है। अपवित्रता के लिए हम जीते हैं, अपवित्रता ही हमारे जीवन की राह है। अपवित्रता अर्थात पूतना ही हमारे जीवन का उद्धेश्य है। तुम्हीं बताओ हम पूतना को कैसे मार पायेंगे? पूतना तो हमारे जीवन का प्रत्येक क्षण बन बैठी है। सारा बचपन शिक्षा के नाम पर भी पूतना की गोद खेलता है। आज की शिक्षा के तीन विशिष्ट सूत्र हैं **''अच्छी नौकरी, बढ़िया तनख्वाह, मोटी घूस।''**

प्रत्येक पिता इसी उद्‌देश्य के लिए अपनी संतान को पढ़ा रहा है। प्रधानमंत्री, शिक्षामंत्री, कुलपति और शिक्षाविद् इसी धार्मिक उद्‌देश्य के लिए शिक्षा संस्थान खोले बैठे हैं। कभी शिक्षा की देवी सरस्वती थी, आज शिक्षा की देवी पूतना है। वेदव्यास! हे पावन!! पूतना जिनके जीवन का उद्‌देश्य है! पूतना जिनकी शिक्षा की राह है। पूतना जिनका आचरण और व्यवहार है, क्या वे कभी मार पायेंगे पूतना को? अब तो पूतना मेरे मन में ही नहीं बैठी है, लगता है हम सब पूतना, मात्र पूतना, बस पूतना ही बनकर रह गये हैं। पूतना को मारना तो अब हमको आत्महत्या के समान लगने लगा है। पूतना ही शिक्षा का उद्धेश्य है अब?

हे निष्पाप! हे पावन देव! पवित्र मोहक कृष्ण की सुधि दिलाने वाले! काश! हम मार पाते पूतना को! बस एक कृष्ण! बस एक कृष्ण के होकर प्रत्येक जीवन के क्षण को कृष्णमय बनाते। गोविन्द सजाते! गोविन्द गाते! गोविन्द रमाते! गोविन्द देखते! गोविन्द ही हो जाते!!

हरि ॐ! नारायण हरि!!

9

तृणावर्त वध

कंस के गुप्तचर, कंस को, पूतना के मरने की सूचना देते हैं। वे बताते हैं कि एक नन्हें शिशु ने, जो अभी पैरों से चलना भी नहीं सीख पाया है, जिसने पालना भी नहीं छोड़ा है, उसने ही भयावह राक्षसी का वध कर डाला है। कंस को अपने कानों पर विश्वास नहीं हो रहा है। जिसे सेनायें मिलकर भी नहीं मार सकती, उसे पालने में लेटे एक अबोध शिशु ने मार दिया। भय, चिन्ता और विषाद् कंस को जड़ बना देते है। कंस की पत्नियाँ अस्ति और प्राप्ति की अवस्था भी कंस के जैसी है। भय, चिन्ता और आतंक से उनके चेहरों की कान्ति भी मलिन हो उठी है। कंस के मंत्री और हितैषी भी भय के कारण स्तब्ध रह गये हैं। सबको लगने लगा है कि पूतना को मारने वाला और कोई नहीं कंस का महाकाल ही है। नन्हें शिशु के रूप में स्वयं महाविष्णु ही प्रकट हैं जिन्होंने पूतना का वध कर डाला है। कंस को लगता है जैसे मौत का पंजा धीरे-धीरे उसको नोचने के लिए उसकी ओर बढ़ता चला आ रहा है। कंस को लगता है कि मृत्यु उसके द्वार पर दस्तक देने आ रही है। पूतना वध के समाचार से कंस सहित सबके मुख-मण्डलों की आभा तो नष्ट हो ही गयी है, लगता है जैसे उसके स्वर्ण महल की कान्ति भी बुझ गयी है। दीवारों पर लगे हुए स्वर्णमण्डित चित्र भी फीके-फीके से हो उठे हैं।

उधर नन्द के गाँव अमृत बरस रहा है। गोप-गोपियां बाल-कन्हैया को गोद में लिए आनन्द विभोर हो रही हैं। पूतना का भय, नन्द गाँव से भाग गया है। प्रत्येक गोविन्द के संग है, झूम रहे ग्वालवाल, गोपियां नंद और यशोमति।

भला ऐसे सुख से कौन स्वयं को अलग करना चाहेगा? भोले बाबा महाशिव,

भगवान शंकर भी ललचा उंठे हैं। भगवान शंकर एक वैरागी का रूप धारण करके महाविष्णु की बाल लीला का आनन्द लेने हेतु नंद के यहाँ पधारे हैं। विनती और याचना करके बाल कन्हैया को अपनी गोद में लिए बैठे हैं। परमानन्द के क्षण हैं।

वेदव्यास! तुम्हारी कथा-गंगा हर व्यक्ति के जीवन को पवित्र करती है। सभी समस्याओं का समाधान छुपा हुआ है। टूटकर बिखरते हुए समाज को तुमने अपनी कथा अमृत के द्वारा पुनः पुनः जीवन्त एवं संगठित किया है। संकीर्ण साम्प्रदायिक हिंसा में विनष्ट होती भारत और भारती को तुमने महाविनाश के कगार से लौटाया है। हे युगदृष्टा! तुम कथाकार ही नहीं, अपितु युग-युग के उद्धारक भी हो!

शैव, शाक्त और वैष्णव सम्प्रदायों में विखण्डित होते, ''भरत-खण्ड'' के लोग एक दूसरे के खून के प्यासे होते, भरत के पुत्र! मौत की अंधी-आंधियाँ! महा विनाश का तांडव! शैव, शाक्त और वैष्णव साम्प्रदायों में बंटते लोग! एक दूसरे के खून के प्यासे! उजड़े सुहाग, सूनी गोद, उजड़ी जन विहीन बस्तियाँ, जलते गाँव, लाशों के अम्बार! सब कुछ हो रहा था, संकीर्ण साम्प्रदायिकता के नाम पर! हे वेदव्यास! तुम्हारी कथा अमृत ने हमें पुनः-पुनः जोड़ा, एकत्र किया!

तुम्हारी कथा में वैष्णव सम्प्रदाय के आराध्य भगवान विष्णु, महाशिव के चहेते बने, कथा की रस माधुरी, सम्पूर्ण भरत-खण्ड को सींचती गयी। जब आराध्य आपस में प्यार कर रहे हैं, तो सम्प्रदायिक गुरू अपने अनुयायियों को हिंसा के लिए कैसे उकसाएँगे? तुम्हारी कथाओं ने शैव, शाक्त और वैष्णव सम्प्रदायों को पुनः-पुनः जोड़ा है। श्रीमद्भागवत और महाभारत में तुमने श्रीराम की कथा का अमृत भी हमें पिलाया है। श्रीराम जिनका पुनरावतार भगवान श्रीकृष्ण हैं।

तुम्हारी उस कथा में भी शैव सम्प्रदाय के परमेश्वर, भगवान शंकर, वैष्णवों के आराध्य महाविष्णु के अवतार भगवान श्रीराम चन्द्र की पावन कथा सुनाते हैं तथा भगवान श्रीराम, रावण को जीतने के लिए महाशिव को तथा शाक्त आराध्या नवदुर्गा की पूजा तथा आवाहन भी करते हैं। इस प्रकार सम्प्रदायों में बंटते शैव, शाक्त और वैष्णव, पुनः स्मार्त हो जाते हैं। तुम्हारी पावन धाराओं में वैमनस्य, हिंसा, प्रतिशोध और घृणा आदि सब बह जाते हैं। तुम्हारी कथा का अमृत ही ''भरत-खण्ड'' को सींचता है। अहिंसा, प्रेम, त्याग, वैराग्य, प्राणी मात्र के प्रति समर्पित हो जाने का भाव, धर्म, आस्था और सब कुछ।

हे युगान्तर दृष्टा! तुमने शैव सम्प्रदायों के आराध्य भगवान शंकर के पुत्र गणपति को महाविष्णु की पत्नी लक्ष्मी के साथ बिठाया है। महा लक्ष्मी नवदुर्गा हैं! वे शाक्त सम्प्रदाय की भी परम् आराध्या हैं। इस प्रकार लक्ष्मी और गणेश के रूप में तुमने शैव, शाक्त और वैष्णव तीनों सम्प्रदायों का प्रत्येक घर में समन्वय कराया है। हमारी

प्रत्येक समस्या का तुम अन्तिम समाधान हो। तुम्हारी पूजाओं ने प्रत्येक घर को प्रेम, समन्वय तथा सौहार्द प्रदान किया है। ''श्रीलक्ष्मी-गणेश'' प्रत्येक घर में सदा वास करें तथा शेष सभी देवता पूजा के समय आवाहन द्वारा आयें तथा कथा के उपरान्त यथा स्थान, प्रस्थान करें। अर्थात् लक्ष्मी और गणेश के रूप में सांप्रदायिक समन्वय हर घर में वास करे। तुम जैसा दृष्टा दूसरा न कोई हुआ!

यदि तुमने भारत के आधुनिक राष्ट्रीय नेताओं की तरह हम सब का सम्प्रदायिक वर्गीकरण कर दिया होता तो न जाने इस देश का क्या हुआ होता? आज फिर हम सम्प्रदायिक हिंसा में, विनाश की ओर जा रहे हैं। हमारे पास समाधान के नाम पर संवैधानिक, साम्प्रदायिक वर्गीकरण की घुटन है। जिनको भारत का संविधान तोड़े, साम्प्रदायिक गुटों में वर्गीकरण करे, उसे विधाता भी कैसे जोड़ सकता? काश! हम इस सत्य को, इस अमृत को पी पाये होते। हे पावन! तेरी इस कथा के अमृत से हम समन्वय की राह चले होते। वर्गीकरण की गन्दगी को देश से मिटाए होते। काश! तुम्हारी ये पावन कथा, हमारे कर्णधारों को दिशा और नेत्र प्रदान कर पायी होती। **धर्म निरपेक्षता की आड़ में संकीर्ण साम्प्रदायिकता सापेक्ष, संविधान और नेता क्या इस राष्ट्र को जीवित रहने देंगे?** विश्व के लगभग सभी सभ्य मानवीयता प्राप्त देशों में सभी धर्मों के लोग स्वतन्त्र रूप से रहते हैं। सभी को धार्मिक स्वन्तत्रता प्राप्त है। न्यायालय, कानून के अनुसार तथा संसद, संविधान के अनुसार चलती है। साम्प्रदायिक संकीर्ण धर्मान्धता आड़े नहीं आती। भारत ही इकलौता अजूबा देश है, जहां वोटबैंक की राजनीति के लिये धर्मनिरपेक्षता का ताण्डव होता है।

अमृत बरस रहा है। नंद के गाँव! नंद और यशोमति उपहार बांट रहे हैं। सभी को दान में गौवें, अन्न, वस्त्राभूषण आदि प्रदान कर रहे हैं! जो दे, सो देवता! जो समेटे, सो कंस! नंदबाबा के घर स्वयं महाविष्णु बाल-लीला हेतु पधारे हैं। प्रेम मग्न हो नंद अपना सर्वस्व लुटाये जा रहे हैं।

मथुरा उदास है। कंस भयातुर और चिन्तित है, सभासद और कंस की पत्नियां उदात और भयभीत हैं। कंस के भविष्य पर प्रश्न-चिन्ह लग गये हैं। कंस पूतना के भाई तृण्णावर्त को बुलाता है। कंस, तृण्णावर्त को आदेश देता है कि वह बाल कन्हैया का वध करने के लिए जाये। साथ ही सचेत भी करता है, इस नवजात शिशु ने उसकी महा शक्तिशाली बहन पूतना का वध कर डाला है। अपनी बहन की हत्या की बात सुनकर तृण्णावर्त आग बबूला होकर नंद के गाँव की ओर चल देता है।

तृण्णावर्त एक भयंकर बवंडर का रूप धारण करता नंद के गाँव की ओर बढ़ने

लगता है। धीरे-धीरे वह प्रचण्ड तूफान का भयंकर रूप धारण करता गाँव पर मंडराने लगता है।

गाँव में कोहराम मच गया है। आँखों में धूल और मिट्टी भरने लगी है। घरों के छप्पर उड़ने लगे हैं। तेज चीखती आंधियाँ, उड़ते पेड़, उड़ती छतें, आंधी के अंधेरों में भटकती, भागती गौवें, भयभीत रम्भाते बछड़े, सब कुछ अस्त-व्यस्त हो गया है। तृष्णावर्त भयंकर बवंडर का रूप लेकर प्रलय का तांडव करने लगा है। घुमड़ता हुआ, चहुँ ओर विनाश लीला करता, तृष्णावर्त नन्द के आंगन के ऊपर आता है। देखता, है कि बाल कन्हैया आंगन में सोये हुए हैं। यशोदा जी तथा अन्य सभी लोग भयभीत इधर-उधर भाग रहे हैं। वायु के प्रचण्ड थपेड़ों में उन्हें कुछ भी सुझाई नहीं दे रहा है। ऐसा अवसर पाकर तृष्णावर्त नन्द आंगन में उतरता है। बाल कन्हैया को उठाकर गगन में उठता चला जाता है। तृष्णावर्त बाल कन्हैया का अपहरण करके ले जाता है।

वेदव्यास! मैं तुम्हारी कथा के सूक्ष्म मर्म का स्पर्श पा रहा हूँ। तुम मेरे अन्तर में, मुझमें ही समाए अनेकों तृष्णावर्त दिखला रहे हो। **''तृष्ण'' माने ''तिनका''। ''आवर्त'' माने ''बवण्डर''।** तृष्णावर्त का अर्थ ही वायु का भयंकर बवण्डर है। राक्षस तृष्णावर्त भी अपने नाम के अनुरूप ही वायु का प्रचण्ड बवण्डर बनकर आता है। तृष्णावर्त असुर है। असुर शब्द का अर्थ है। अ+सुर = असुर अर्थात जो देवत्व से शून्य है। मेरे जीवन में व्याप्त विषय-वासनाओं, लिप्साओं, मोह, अज्ञान और अंधता से उभरते आवेश और आवेग ही तो तृष्णावर्त हैं। प्रतिशोध की भावना से उभरता क्रोध ही तो तृष्णावर्त है। मेरा विषयान्ध मन ही तो तृष्णावर्त का जनक है। उद्वेग, क्रोध और आवेग बनकर तृष्णावर्त मेरी कृष्ण भक्ति, साधुता, मानवीयता नष्ट कर देते हैं। क्रोध आदि के आवेश में आकर मैं स्वयं बन तृष्णावर्त अपनी सरलता और सहजता का हत्यारा बन जाता हूँ। सहज और सरल मुखाकृति, क्रोध और आवेश के बवण्डर में, एक वीभत्स और भयानक चेहरे का रूप धारण कर लेती है। तृष्णावर्त का अर्थ है जो भारी वस्तु को तिनके के समान उड़ाकर नष्ट कर दे। मैं भी आवेश और आवेग में आकर अपने जीवन में लिए गये, भारी भरकम संकल्पों को, उड़ाकर नष्ट कर देता हूँ। बारम्बार एक सहज, सरल भक्त से, एक भयंकर वीभत्स तृष्णावर्त बन जाता हूँ। मेरे ही मोहान्ध मन कंस का, तृष्णावर्त एक सशक्त हथियार है, जिसके द्वारा वह न जाने कितनी बार मेरी ईश्वर भक्ति की हत्या करता रहा है। करता रहेगा। काश! मैं अपने जीवन में, मिटा तृष्णावर्त को, कृष्ण रूपी पवित्र रूप को, उनकी मंगलमयी शीतल मुखाकृति को जीवन के प्रत्येक क्षण में बसा पाता। काश! ऐसा हो पाता!

माँ यशोदा भयभीत भाग रही हैं। उनका नन्हा गोपाल खो गया है। तेज हवाओं में आँखों में धूल और कंकड़ पड़ रहे हैं। कुछ सुनायी भी नहीं पड़ता है। वे सबको पुकारती हुई भाग रही हैं। बाल कन्हैया को खोजने के लिए सबको आवाज दे रही हैं। बाल कन्हैया को उठाकर तृणावर्त गगन मे ले आया है। तृणावर्त चाहता है कि कुछ और ऊपर उठूँ, तब कृष्ण को उठाकर चट्टानों पर पटक दूँ। अपनी बहन का बदला ले लूँ। बाल कन्हैया तृणावर्त की इच्छा को भी जान रहे हैं तथा माँ यशोदा की भयभीत पुकार को भी सुन रहे हैं। बाल कन्हैया अद्भुत लीला करते हैं। उनकी देह का भार बढ़ने लगता है। तृणावर्त के लिए उनके वजन का उठाना असंभव हो गया है। तृंष्णावर्त घुटता जा रहा है। श्रीकृष्ण के वजन से वह दवता जा रहा है। ऊपर उठने के बजाय तृणावर्त वजन के भार के कारण धरती की ओर गिरने लगता है। भगवान श्रीकृष्ण अपने वजन को अत्याधिक वढ़ाते जा रहे हैं। तृणावर्त धरती पर गिर गया है और कृष्ण के भार से दबकर, घुटकर मर गया। तृणावर्त के मरते ही वायु का तूफान समाप्त हो गया है। अंधेरे छट चुके हैं। सभी लोग कृष्ण को खोजते हुए वहाँ पर आते हैं, तो देखते हैं कि एक भयानक असुर धरती पर औंधें मुंह मश्त पड़ा हुआ है। उसकी पीठ पर बाल कन्हैया लेटे खेल रहे हैं। गोपियाँ दौड़कर बाल कन्हैया को उसकी पीठ से उठा लेती हैं। बिलखती हुई यशोदा की गोद में कन्हैया को दे रही हैं। माँ यशोदा अपने प्यारे गोपाल को सीने से लगाये घर आती हैं। बाल कन्हैया का उतारा तथा पूजा आदि करती हैं। यूँ तृणावर्त भी भगवान के हाथों मारा जाता है।

वेदव्यास! तुमने इस लीला में तृणावर्त को मारने का कितना सरल उपाय बताया है, परन्तु क्या सचमुच ये इतना सरल है? इस लीला में तुम यही तो कह रहे हो कि जब आवेश का तृष्णावर्त मेरे ही विचारों में उग्र हो रहे हो, तो मैं कृष्ण भक्ति रूपी संकल्प को भारी से भारी बनाता जाऊँ। जिससे तृष्णावर्त मर जाये। परन्तु जब प्रचण्ड होते हैं तृष्णावर्त बुद्धि और विवेक तथा सत्य, संकल्प सभी कुछ अंधेरों में खो जाता है। तुमने तो वहुत सुन्दर उपाय बताया है! काश! हम भी अपने जीवन में समाए तृष्णावर्त मार पाते।

हरि ॐ! नारायण हरि!!

10

शकटासुर वध

तृष्णावर्त की मृत्यु की सूचना गुप्तचरों ने कंस को दी है। सुनकर कंस जड़ हो गया है। उसे लगता है कि मृत्यु का पंजा उसके बहुत करीब आ गया है। कंस निश्चयपूर्वक जान चुका है कि तृष्णावर्त को मारने वाले और कोई नहीं स्वयं महाविष्णु ही हैं। भय क्रोध में परिणित होता है। कंस चाहता है कि वह अपनी सेनाओं के साथ नन्द के गाँव पर आक्रमण कर दे। मंत्री, सभासद सभी कंस को समझाते हैं कि वे ऐसा कदापि न करें। इससे सम्पूर्ण राज्य में विद्रोह भड़क उठेगा। मंत्रियों से सलाह करके कंस कर (टैक्स) की मात्रा अत्याधिक बढ़ा देता है। साथ ही उसने सभी आधीनस्थ राजाओं को सूचना भी दी है कि यदि निर्धारित समय पर कर की अदायगी नहीं होगी, तो कंस उनकी सम्पत्ति को हस्तान्तरित करेगा और कर न अदा करने वालों को कारागार की यातनायें सहनी होगी। इतना सब करके भी कंस आश्वस्त नहीं होता है। वह शकटासुर को बुलाता है तथा उसे बाल कन्हैया का वध करने का आदेश देता है। शकटासुर महा मायावी असुर है। सभी प्रकार के रूप धारण करने के ज्ञान में वह निपुण है तथा उसमें अदृश्य रहने की शक्ति भी है। शकटासुर मन की गति से चलने का सामर्थ्य भी रखता है। वह एक दुर्दान्त असुर है। कंस से आज्ञा लेकर शकटासुर नंद के गाँव की ओर बढ़ जाता है।

कंस के आदेश से नन्द आदि सभी छोटे राज्य भयभीत हो उठे हैं। नंद जी ने सभी गोपों से कहा है कि वे शीघ्रता से कर अदायगी का सामान एकत्रित करें। समय से पूर्व ही उसे मथुरा पहुँचा दिया जाये, जिससे पापी कंस के क्रोध से बचा जा सके। ''शकट'' उस गाड़ी को कहते हैं, जिसे एक बछड़ा खींचता है। एक बैल

के द्वारा खींची जाने वाली छकड़ा गाड़ी, उसी को संस्कृत में शकट कहते हैं। सारे गोप-गोपियां भयभीत हैं, वे सब अर्जित मक्खन आदि को एकत्र करके नन्द जी के द्वार पर खड़े शकट में भर रहे हैं। नन्द और यशोदा भी उनका हाथ बंटा रहे हैं। व्यस्तता के कारण बाल कन्हैया को शकट के नीचे झूला बनाकर लिटा दिया है। सभी लोग शीघ्रता से शकट को भरने में लगे हुए हैं। ऐसे ही समय में शकटासुर वहाँ पर आता है। वह सबकी स्थिति को भाँपता है। साथ ही शकट के नीचे सोये बाल कन्हैया को भी देखता है, उसे लगता है कि यही उचित समय है। क्यों न वह शकट के ऊपर बैठकर, माया से अपने भार को बढ़ाता जाये, जिससे शकट भारी होकर धरती में धँस जाये तथा नन्हें कन्हैया उसके नीचे दबकर कुचलकर मर जाये।

वेदव्यास! कृष्ण की कथा में हमको हमारी ही कहानी सुना रहे हो। हम भी तो जिन्दगी रूपी शकट को भरने में लगे हुए हैं। हमने भी अपने आराध्य को, प्रभु को, इस शकट के नीचे डाला हुआ है। भगवान को नीचे डालकर भौतिकताओं का शकट भरने वाले, हम सब एक विनाश की ओर ही तो बढ़ रहे हैं। हर बार हमने ईश्वर भक्ति के लिए स्वयं को तैयार किया, तथा हर बार हमने मकान-दुकान के लिए, खेत- खलिहान के लिए, भौतिक विषय और वासनाओं के लिए, अपने ईश्वरीय विचारों को शकट के नीचे दबाकर, झूठ, बेईमानी, मक्कारी और कपट का साथ दिया। न जानें कितनी बार हम शकटासुर बने हैं। हमने प्रभु भक्ति रूपी विचार की हत्या की है। संसारिकताओं के कपट में हम भी दुर्दान्त असुर बने हैं। जीवन का स्वर्ण यूँ ही छितराता रहा है। भस्मी के कण बटोरते रहे हैं। हम सब जानते हैं कि हमारी उपलब्धियाँ चिता की चन्द लकड़ियों पर चन्द मुट्ठी राख ही होगी। सब जानते हुए भी हम कृष्ण के भक्त न बन, मात्र शकटासुर बनते जा रहे हैं। अपनी इस कथा में तुम हमको हमारी ही कहानी सुना रहे हो।

''जीवन के शकट को, ईश्वर को शकट के नीचे दबाकर, भरने वालों! इस शकट पर शकटासुर आयेगा। तब ईश्वर ही जो तुम्हारी शकट के नीचे दबे हुए हैं, मारकर लात नीचे से शकट उलट देंगे!''

बाल कन्हैया ने देखा कि शकटासुर, शकट पर बैठकर माया से अपने भार को बढ़ाता जा रहा है। भगवान उसकी मंशा को पहचानते हैं। कन्हैया लीला करतें हैं। भगवान लात मारकर शकट को दूर फेंक देते हैं। एक तेज आवाज के साथ शकट दूर जाकर उलटकर गिर पड़ती है। शकट पर रखी सभी वस्तुएं टूट-फूटकर नष्ट हो जाती हैं। आवाज के साथ सभी लोग दौड़ आते हैं। यशोदा जी अत्याधिक भयभीत हैं, परन्तु जब वह बाल कन्हैया को खेलते हुए पाती हैं, तो आश्वस्त हो उठती हैं। अपनी भूल पर स्वयं को धिक्कारती हैं तथा बाल कन्हैया को लेकर घर

में प्रवेश कर जाती हैं। काश! हम भी भौतिकताओं की अंधता को प्राप्त न हुए होते। भगवान को शकट के नीचे न डाले होते। परन्तु हमारा सारा जीवन तो शकटासुर की भक्ति में ही बीत जाता है। कृष्ण भक्ति का तो हम नाटक मात्र करते हैं। हम चाहते हैं कि हम बड़े-बड़े मकान बनाएं। हम बड़े-बड़े मकान बनाते भी हैं। जिसकी रसोई और संडासघर भी बड़े-बड़े होते हैं, पर भगवान के लिए छोटा कमरा। क्या ये दिखाने के लिए काफी नहीं कि हमारे जीवन में ईश्वर का स्थान संडास से भी बहुत छोटा हो गया है? भगवान अपनी लीला में हमें यही तो दिखला रहे हैं कि हम अपने अज्ञान और असत्य को पहचानें। शकटासुर तुम्हारी घृणित मौत है, तुम्हारा महा विनाश है। जिसे तुम अपना सगा-संबधी, स्वजन, अंतरंग सखा तथा जीवन की राह बनाये बैठे हो।

''जिन्दगी का शकट भरने वालों! भगवान तुम्हें शकट भरने को मना नहीं करते हैं। बस इतना ही करो कि ईश्वर को शकट के नीचे न डालो! प्रभु को शकट के ऊपर बिठाओ। फिर न कभी कोई शकटासुर तुम्हारे जीवन में आएगा और न कभी शकट ही उलटेगी।''

जब ये शरीर मेरा नहीं! आज भी कृष्ण ही घट-घट वासी आत्मा के रूप में प्रत्येक साँस और धड़कन दे रहे मुझको! गोविन्द ही सड़ी हुई दुर्गन्ध को पावन फलों और वनस्पतियों में मेरे लिए लौटा रहे हैं। आज भी हम अपने ही शरीर का एक रोम तक तो भी नहीं बना सकते? तब ये शरीर किसका? जिसने बनाया उसी का? आत्मा होकर वहीं तो इस शरीर को बना रहे हैं, इसकी रक्षा कर रहे हैं, इसे प्रत्येक क्षण दे रहे हैं। जब ये शरीर मेरा नहीं, कृष्ण की ही धरोहर है! तब इससे जुड़ा संसार और सम्पूर्ण भौतिकतायें मेरी कैसे हो सकती हैं? जिसका शरीर उसका संसार। इस सत्य को हर क्षण में बसाते हुए, गोपाल के निमित्त होकर जीने वाले ही शकटासुर से बच पाते हैं। जो जीवन के मिथ्याभिमान रूपी कंस के साथ रहते हैं, वे निश्चित रूप से शकटासुर के द्वारा बारम्बार पीड़ाओं को सहते पाप योनियों में भटकने चले जाते हैं। आत्मस्थ होकर जीना! इन्द्रियों का आत्मयज्ञार्थ प्रयोग करना! शरीर को आत्मा की धरोहर जान एक निमित्त अर्थात् ट्रस्टी की भावना से लेना। सम्पूर्ण सचराचर आत्मा द्वारा निर्मित है, इसलिए आत्मा का ही है। आत्ममय सचराचर को जानना, सबके प्रति समर्पित भक्त होकर जीना ही शकटासुर से बचने की राह है!

मोहान्ध मन, कंस, अस्ति और प्राप्ति संसार में बांधने वाली मेरी वशत्तियाँ ही मन कंस की दो पत्नियाँ हैं। मेरे ही अपवित्र विचार पूतना है। लिप्साओं और वासनाओं से उमड़ते आवेश और आवेग ही तृष्णावर्त हैं तथा ईश्वर को नकार कर भौतिकताओं को भरने की वृत्तियाँ ही शकटासुर हैं। दूसरी ओर

गोकुल के गोविन्द! "गो" शब्द का अर्थ होता है, इन्द्रियाँ, प्रकाश आदि। "कुल" माने परिवार, समूह आदि। गोकुल अर्थात् इन्द्रियों के कुल में जब कृष्ण रूपी भक्ति विराजे, तो मेरा जीवन गोकुल हो जाय। नेत्रों में मोहक गोविन्द की छबि विराजै, वाणी में हरि नाम हो। सुनूँ एक गोविन्द की बांसुरी मन में सदा उनका ध्यान हो! रोम-रोम में उनके पावन सुख की अनुभूति हो! श्वाँस में अष्टगन्ध की सुगन्ध हो मेरा जीवन गोकुल हो!

दो राहों पर खड़ा हुआ हूँ मैं। जहाँ मैं खड़ा हुआ हूँ, मेरे दोनों ओर मार्ग दूर तक बढ़ते जा रहे हैं। एक राह उत्तर है, दूसरी दक्षिण है। उत्तर गोकुल है, श्रीकृष्ण। दूसरी राह दक्षिण की ओर जाती है, जहाँ असुर राज कंस और उनकी दो पत्नियाँ अस्ति और प्राप्ति हैं। उनके नाना असुर राज भी हैं। निर्णय तो मुझको करना है, उत्तर चलूँ या दक्षिण। दोनों रास्तों को मैं इस कथा में कुछ-कुछ जानने लगा हूँ। वेदव्यास! रहस्य-लीलाओं के जादूगर! तुम बड़े ही मनोरम ढ़ंग से मुझे एक साथ अपनी कथा में दोनों राहें दिखाये जा रहे हो। ऐसा कर सकने में मात्र तुम्हीं समर्थ हो। एक साथ दोनों विपरीत मार्गों का ज्ञान देना, उन्हें एक नाटक के रूप में स्पष्ट करके दिखा देना, तुम्हारी इकलौती अद्भुत कला है। हे पावन! तुम्हें शत्-शत् प्रणाम!!

हरि ॐ! नारायण हरि!!

11

विश्वरूप दर्शन

वेदव्यास! संत, मनीषी और विद्वानों के पावन चरणों में बहुत बार बैठा हूँ। पावन सद्ग्रन्थों का भी बहुत बार पठन-पाठन किया है। बहुत बार, बहुत-बहुत स्थानों पर भी गया हूँ, एक ही उद्देश्य को लेकर। फिर भी न जान पाया कि मैं कौन हूँ। जितना अधिक प्रयास स्वयं को जानने का किया, उतना ही अधिक भ्रमित होता चला गया मैं। किसी ने कहा तू आत्मा है! नाना तर्क और प्रमाण देकर सिद्ध कर दिया कि मैं आत्मा हूँ! ब्रह्म हूँ! ''अहम् ब्रह्मास्मि!'' मन में संदेह जागे, मैं ही ईश्वर हूँ, तो मैं अपने आप को बना क्यों नहीं पा रहा हूँ। आत्मा ही तो सचराचर का जनक है। उत्पत्ति के इस ज्ञान से मैं क्यों शून्य हूँ। प्रश्न मेरा था, मेरे प्रति था, परन्तु उसके उत्तर मुझे मुझसे ही बहुत दूर ले जाते रहे हैं। तर्क, प्रमाण के नाना रंग-बिरंगे नाटकों में, मैं स्वयं से बहुत दूर, स्वयं को ही खोजता रहा। न ढूँढ़ पाया स्वयं को! न जान पाया स्वयं को!

किसी ने कहा कि मैं जीव हूँ! किसी ने कहा, मैं शरीर हूँ, प्रकृति हूँ! किसी ने कहा, मैं कुछ भी नहीं हूँ! सभी ने अपनी-अपनी बातें तर्क और प्रमाणों से सिद्ध करने की कोशिशें करीं। इन मत - मतान्तरों के भ्रमजाल में मुझे लगा, **मैं तो एक चौराहा हूँ। चार विपरीत दिशाओं में एक साथ भागता हुआ।** बस यूँ ही भटकता रहा हूँ। आज सामीप्य पाया तुम्हारी कथा में! लगता है एक सुखद ठहराव पा गया हूँ! अपने ही सामीप्य का सुख पहली बार मिल रहा है मुझको! तुम्हारी रहस्य-लीलाओं में, मैं अति समीप से स्वयं को देख रहा हूँ! जान रहा हूँ! पहचान रहा हूँ!

भगवान गोपाल की बाल लीलाओं में अमृत बरसा रहे हो तुम! बाल कन्हैया में आत्मदर्शन कर रहा हूँ। जो सबको आनन्द दे, जो सबका आनन्द हो, वह आत्मभाव ही ''नन्द'' है। जो सबके सुख का हेतु तथा परम हितु है, वही ''नन्द'' है। जो सचराचर को यशस्वी बनाए! जो सब पर यश न्योछावर करे, जो सबको यश प्रदान करे, ऐसी यशदायिनी ही ''यशोदा'' अर्थात् ''यशः''+ ''दा'' अर्थात् दायिनी। यशों को देने, जीव मात्र को यशस्वी और वरद् करने वाली अलौकिक भावना ही तो ''यशोदा'' है। श्री बलराम भगवान शेषनाग के अवतार हैं। महाविष्णु के समर्पित भक्त हैं! बड़े भाई के रूप में प्रकट हुए हैं, जबकि अनन्य भक्त और समर्पित सेवक हैं। ठीक भी तो है। भक्त भगवान से बड़ा होता है! भक्त भगवान का बड़ा है! भावना भक्त और भगवान दोनों की माँ हैं! **भावना के गर्भ से पहले भक्त प्रकट होता है। उपरान्त ही पत्थर की मूर्ति भावना के गर्भ से भगवान बन प्रकट** होती है। यदि भावना ही नहीं तो तू भक्त कहाँ? तथा वहाँ भी एक पत्थर की मूर्ति है, भगवान कहाँ? इसलिए जब तक भावना के गर्भ से मनुष्य भक्ति रस से सना हुआ भक्त बनकर प्रकट न होगा, पत्थर की मूर्ति भी भगवान नहीं होगी! भक्त और भगवान भावना के गर्भ से ही प्रकट होते हैं। जब भावना यशोदा बनेगी, तो कृष्ण प्रकट होंगे। अन्यथा तू कंस का हृदयहीन पत्थर होगा। भाग्यवान हैं जो यशोदा को अर्पित हैं। उनका ही मनुष्य यानि में आना वरद् है। पूतना के पूत तो समाज का कलंक और अभिशाप ही होंगे।

बाल कन्हैया की किलकारियाँ यशोदा के तन मन को झंकृत कर रही हैं। बाल कन्हैया की माखन चोरी की भोली लीलायें यशोदा को हर क्षण आनन्द से विभोर कर रही हैं। गोपियाँ, गोविन्द पर न्यौछावर हैं। कृष्ण उनके रोम-रोम में बसे हुए हैं। कृष्ण के बिना सब सूना-सूना है। यशोदा जी के पास एक गोपी शिकायत लेकर आयी है, ''यशोदा! तेरे लाल ने माटी खाई है।''

यशोदा जी दौड़कर बाहर जाती हैं। क्रोध में आकर बाल-कन्हैया से पूछती हैं, ''क्या तुमने मिट्टी खाई है?'' कृष्ण सिर हिलाकर मना करते हैं कि उन्होंने मिट्टी नहीं खाई है। यशोदा जी कन्हैया से कहती हैं कि वह अपना मुँह खोलकर दिखाएं। बाल-कन्हैया मुँह खोलकर माँ को दिखाते हैं। यशोदा चकित देखती ही रह जाती हैं। श्रीकृष्ण के मुँह में उन्हें दिखलायी पड़ते हैं, सम्पूर्ण लोक, ग्रह, नक्षत्र, देव, दिग्पाल तथा सम्पूर्ण सचराचर। माँ ठगी सी देखती रह जाती हैं। बाल कन्हैया के मुँह में उन्हें विश्व रूप का दर्शन होता है।

वेदव्यास! तुम्हारी इस रहस्य-लीला ने मुझको मेरा परिचय दिया है। सम्पूर्ण सचराचर के स्वामी, सबको बनाने वाले परमपिता परमेश्वर, जब आत्मस्वरूप होकर

घट-घट वासी हैं, तो सम्पूर्ण सचराचर भी तो अपने परमेश्वर के साथ हर घट में समाया हुआ है। यह सत्य संदेह रहित रूप से मैंने तुम्हारी इसी रहस्य-लीला में पाया है। अपने में ही विश्व दर्शन के सूक्ष्म ज्ञान को, अपने नायक कृष्ण के रूप में कितनी सरलता से तुमने उतारा है। **मैं ही सम्पूर्ण सचराचर का एक छोटा सा चित्र हूँ तथा सम्पूर्ण सचराचर अपने बनाने वाले परमपिता के साथ ही सूक्ष्म होकर मुझमें ही समाया हुआ है। वहीं तो मिट्टी लीला का दिव्य दर्शन है।**

हे भरत-खण्ड के पावन ऋषि! तुम अध्यात्म की दिव्य दृष्टि हो। हे तपस्वी श्रेष्ठ! जब पूछने गये थे तुमसे लोग कि वेदव्यास! तुम्हारे परमेश्वर कहाँ मिलेंगे? तो तुम्हीं थे, जिसने उत्तर दिया था, ''परमपिता परमेश्वर, जगत आत्मा होकर घट-घट वासी हैं। वे तुम्हारे ही भीतर व्याप्त हैं।''

तुमने उसी के शरीर में उसके अराध्य को दिखाकर धरती का सबसे बड़ा सम्मान दिया था। जब कृष्ण घट-घट वासी हैं, तो कौन छोटा है? कौन बड़ा? तुमने पूछने वाले को भी कितना भारी सम्मान दिया, ''कितना महान है तू, जो अपनी देह में अपने प्रभु को धारण करता है।''

तुम्हारे नायक भगवान श्रीकृष्ण भूमण्डल के अधिपति हैं और ग्वालों के सखा (कम्यून) हैं। साम्यवाद का इतना सुन्दर चित्र फिर हमें कोई न दिखा पाया। आज का कम्युनिष्ट सीनियर, जूनियर की बात करता है। लेकिन तुम्हारा नायक श्रीकृष्ण भूमण्डलों का अधिपति और गरीब ग्वालों का सखा है। सखा भाव में सदा समभाव रहता है। परमेश्वर भी जीव मात्र का सखा है। आत्मा होकर सर्व व्यापी परमेश्वर आज भी प्रत्येक जीव की जूठन को रक्त में बदलता है। राष्ट्रपति से लेकर भिखारी तक इससे समान भाव से साँसें और धड़कने पाते हैं। आत्मा का जीव मात्र से सम्भाव है, तुम्हारे नायक भगवान श्रीकृष्ण सचराचर के सखा हैं। वीरवर अर्जुन श्रीमद्भागवत्गीता में श्रीकृष्ण को अपना गुरू बतलाते हैं। परन्तु प्रत्युत्तर में गोविन्द अर्जुन से कहते हैं, ''तू मेरा अतिशय परमप्रिय सखा है।'' जहाँ संसारिकता की सारी सीमायें और संकीर्णतायें समाप्त हो जाती हैं। जहाँ भेद जगत का भेदभाव दम तोड़ देता है, वहाँ से आगे तुम्हारी कथा आरम्भ होती है। भगवान श्रीकृष्ण का माँ यशोमति को विश्वरूप दर्शन अपने मुँह में कराना कुछ ऐसा ही है। ''भरत-खण्ड'' की मौलिक विचारधारा तुम ही हो। ''भरत'' शब्द का अर्थ होता है सबका भरण-पोषण करने वाला अर्थात् परमेश्वर। ईश्वर सबमें है इसी मान्यता के अनुरूप ''जम्बू द्वीप'' का यह खण्ड, भरत-खण्ड अर्थात् परमेश्वर खण्ड कहलायां। धरती पर दूसरा भरत-खण्ड नहीं हुआ। क्यों? सम्भवतः इसीलिए कि विश्व के बाकी संत, परमेश्वर को किसी अन्यत्र लोक में खोजते रहे। उनका ईश्वर सप्तलोक, सातवें

आसमान और ''सेविन्थ हैविन'' में आज भी रहता है। परन्तु हे निर्मल संत! तुमने भक्त और भगवान के बीच में विचौलियां बनकर ठेकेदारी भी तो नहीं करनी चाही। राष्ट्र का नाम ''भरत-खण्ड'' रखा, तथा ''भरत'' को प्रत्येक देहधारी के शरीर में व्याप्त किया। जाति का नाम तुमने भरत के पुत्र अर्थात् भारत रखा ''भारत शब्द का अर्थ है ईश्वर का पुत्र, मसीहा अवतार। आदि काल से भारत ही यहाँ का जाति संज्ञयक नाम हुआ। श्रीमद्‌भागवत्‌गीता में भगवान श्रीकृष्ण वीरवर अर्जुन को ''हे भारत!'' कहकर संबोधित करते हैं। जबकि अर्जुन राजा भरत की संतति में नहीं हैं। राजा भरत ने अपने किसी भी वंशधर को ''भरत-खण्ड'' का राज्य नहीं सौंपा था। ''भारत'' शब्द का प्रयोग ही जाति के रूप में विश्वरूप का दर्शन देने में मात्र तुम्हीं समर्थ हो।

ईश्वर, मेरा सत्य है। ईश्वर, मेरी ईमानदारी है! ईश्वर, मेरी शक्ति है, भक्ति हैं, संकल्प है तथा सामर्थ्य है! ईश्वर मेरा जीवन है, मेरी ज्योति है! जब ईश्वर मुझमें आत्मा होकर वास करेगा, तभी तो ये सारे गुण मेरी देह में व्याप्त होंगे। यदि ईश्वर को मैं किसी अन्यत्र लोक में भेज दूँगा, तो ये सारी उपलब्धियाँ भी तो यथा लोक मे वास करेंगी। कितनी खोखली जिन्दगी हो जायेगी मेरी। जहाँ ये सूर्य हट गया, वहाँ अंधेरी रात हो गयी। यदि ईश्वर मेरे शरीर से निकल कर सप्त लोक में चला जायेगा तो कितनी घिनौनी और अंधेरी जिन्दगी होगी मेरी। वेदव्यास! तुम हर शरीर की शक्ति, सामर्थ्य और रोशनी हो। तुमने ही एक पूर्ण सूक्ष्म दृष्टा तथा मनोवैज्ञानिक होकर सूरज को हर घट में रखा, आत्मा बनकर। तुम ज्ञान और विज्ञान की सहस्त्र-सहस्त्र धारा हो।

माँ यशोदा ने नन्हें गोविन्द के मुँह में सम्पूर्ण लोकों का व्यापक दर्शन पाया है। वे धन्य हो गयी हैं। वेद के प्रथम ऋषि मधुच्छन्दा ने बड़े ही मनोरम ढ़ंग से हमारे इसी सत्य को दुहराया है।

त्वां स्तोमा अवीवृधन त्वामुक्था शतक्रतो।
त्वां वर्धन्तु नो गिरः ।। 1. 5. 8 ऋग्वेद।

(त्वाम्) तुम हो। (स्तोमा) यज्ञ। (अवि) उत्पत्ति के। (वृधन) वृद्धि करने वाले महाविष्णु तथा, लक्षमयी, लक्ष्मी। (त्वाम्) तुमको। (उक्था) वेद की ऋचाओं में गाया हैं। (शतक्रतो) प्रलयंकर रूद्र अथवा आदि ज्वाला आदि शक्ति। (त्वाम्) तुम हो। (वर्धन्तु) ज्ञान के ब्रह्मा। (नो) हमारी। (गिराः) अर्थात् वाणियों की सरस्वती।

हे परमेश्वर! तुम्हीं उत्पत्ति के विष्णु हो, तुम्हीं लक्ष्यमयी, लक्ष्मी हो! तुम्हीं को सम्पूर्ण वेदों ने प्रलयंकर रूद्र गाया है! तुम्हीं आदि ज्वाला आदि शक्ति हो, तुम्हीं ज्ञान के ब्रह्मा हो तथा वाणियों की सरस्वती हो। तुम कहाँ पर हो? तुम्हारा स्थान

कहाँ है?

अक्षितोतिः सनेदिमं वाजमिन्द्रः सहस्त्रिणम्।
यस्मिन् विश्वानि पौंस्या।।1.5. 9।।

अर्थात् (अक्षितोतिः) सीपी में बंद मोती की तरह। जिस प्रकार सीपी में मोती बन्द होता है। उसी प्रकार ईश्वर होकर, आत्मा होकर; सम्पूर्ण देह रूपी सीपियों में मोती की भाँति ईश्वर, सम्पूर्ण सचराचर में समाया हुआ है। (सनेदिमम्) हे प्राण, हे स्नेहसिक्त। (इदम्) इस प्रकार मैं पाता हूँ आपको हर शरीर में समाये हुए जगमगाते मोती सा। आत्मा होकर हर घट में आप ही तो प्रत्येक शरीर में। (वाजम्) यज्ञ कर रहे हैं। (इन्द्रा) ब्रह्म ज्वालाओं में, अर्थात् आत्मा रूपी अग्नियों में। (सहस्त्रिणम्) सहस्त्र- सहस्त्र। (यस्मिन) जिसके कारण। (विश्वानि) यह क्षण भंगुर संसार। (पौस्या) अर्थात् पुनः-पुनः उत्पन्न हो रहा है। फिर-फिर प्रकट हो रहा है। भस्मी चिता की पुनः फल हो जाती है। फल ही बालक बन जाते हैं।

जब दुनियाँ के लोग बिचौलियों के माध्यम से सप्त लोकों में उसे ढूंढ़ रहे थे। तुम उसको और उसके साथ ही सम्पूर्ण लोकों को प्रत्येक मनुष्य के शरीर में उतार रहे थे, तुम्हारे विश्व रूप में सारे गगन, सारे लोक अपने सृष्टा के साथ मुझमें ही उतर आते हैं। कितना व्यापक हो उठता हूँ मैं! भगवान श्रीकृष्ण की लीला में तुम मुझको मेरे ही जीवन के नाना अनदिखे पहलुओं को दिखा रहे हो। तुम्हारी कथा के प्रकाश में मैं पहली बार जीवन के उन अंधेरे कमरों को भी स्पष्ट रूप से देख पा रहा हूँ।

गर्गाचार्य जी, नन्द के यहाँ पधारते हैं। नंदबाबा, रोहिणी कुमार, श्रीबलराम जी तथा देवकी नंदन, भगवान श्रीकृष्ण का नामकरण कराते हैं। बाल कन्हैया से गर्गाचार्य जी कुपित हो उठते हैं। भगवान लीला ही ऐसी करते हैं। गर्गाचार्य स्वपाकी हैं। किसी दूसरे के हाथ का बना हुआ भोजन वह ग्रहण नहीं करते हैं। यशोदा जी से भोजन सामग्री लेकर गर्गाचार्य स्वयं रसोई बनाते हैं। भोजन की थाल सजाकर वे आँख मूँदकर हाथ जोड़कर भगवान से प्रार्थना करते हैं। ध्यान के उपरान्त जब नेत्र खुलते हैं तो क्या देखते हैं कि बाल कन्हैया उनकी थाल में रखे भोजन को खा रहे हैं। वे यशोदा जी को पुकार कर कहते हैं, ''यशोदा देखो तुम्हारे लड़के ने मेरी सारी रसोई अपवित्र कर दी है।

यशोदा जी बाल कन्हैया को डांटती हैं। तो भगवान यशोदा जी से कहते हैं। ''माँ इन्होंने ही तो खाने को मुझे बुलाया था। खाने के लिए बुलाते भी हैं और मेरे खाने पर क्रोध भी करते हैं।'' बाल कन्हैया ने रूआंसे से होकर उत्तर दिया।

''ये लड़का तो सरासर झूठ बोलता है।''

गर्गाचार्य जी कुपित होकर कहते हैं।

बाल-कन्हैया और गर्गाचार्य जी दोनों एक दूसरे पर आरोप प्रत्यारोप लगा रहे हैं। यशोदा जी को कुछ समझ में नहीं आता है। वे कन्हैया को डांटती हैं तथा गर्गाचार्य जी को रसोई का सामान पुनः लाकर देती हैं। गर्गाचार्य फिर से पूरी रसोई बनाते हैं। भोजन बनाकर, थाल सजाकर आँख मूँदकर पुनः प्रार्थना करते हैं। ध्यान में भगवान को भोग लगाने की प्रार्थना भी करते हैं। पूजा के उपरान्त जब उनके नेत्र खुलते हैं तो देखते हैं कि बाल कन्हैया उनकी थाली में भोजन खाये जा रहे हैं।

"बड़ा नटखट लड़का है तू, आज मुझे भूखा रखेगा?"

"आप ऐसा क्यों कहते हैं? आप ही ने तो आँख मूँदकर मुझसे खाने को कहा है।"

"मैंने तुमसे खाने को कब कहा रे झूठे?" गर्गाचार्य कुपित होकर कहते हैं।

"आपने आँख मूँदकर कहा नहीं था, भगवान भोग लगाओ?" कन्हैया ने भोलेपन से कहा।

"वह तो मैंने नारायण को भोग लगाने को कहा था। तुझे कब कहा था?"

"फिर मैं कौन हूँ?"

भोलेपन से बाल कन्हैया, गर्गाचार्य जी से पूछते हैं।

गर्गाचार्य बाल कन्हैया की ओर देखते हैं तो उन्हें भी यशोदा माँ की भाँति सचराचर के स्वामी के दर्शन भगवान के नन्हें रूप में होते हैं। गर्गाचार्य गदगद हो जाते हैं। नेत्रों से अश्रु जलधारा प्रवाहित होने लगती है। बाल-कन्हैया को दण्डवत प्रणाम करते हैं। अपने हाथों से भगवान को भोग लगाते हैं।

वेदव्यास तुम्हारी इस मनोहारी कथा में मेरा अज्ञान, मेरे सामने उभर आया है। गोविन्द आत्मा होकर सबमें विराजते हैं। परन्तु, मैं तो उनकी मूर्ति के आगे झुकता रहा। इस जगत के भेदभाव को ही मैं पालता और बसाता रहा जबकि हर रूप में आत्मा होकर स्वयं नारायण ही विराजते हैं, ऐसा मैं गाता तो रहा हूँ। परन्तु मेरे आचरण, व्यवहार और विचारों में छुआछूत, जातिवाद, भेदभाव मेरी हर थाली को जुठाता रहा है। काश! तुम्हारी इस कथा में मैं भी गर्गाचार्य सी दृष्टि ही पाता। मैं नारायण का परम भक्त बनता। सम्पूर्ण सचराचर में उनको ही देखता। प्रत्येक रूप में उन्हीं को निहारता। उन्हीं को भोग लगाता। परम हर्षित होता। गर्गाचार्य के सुख से मेरा रोम-रोम पुलकायमान होता!

हरि ॐ! नारायण हरि!!

12

ऊखल-बन्धन लीला

वेदव्यास तुम्हारी! अमृतमय रहस्य लीलाओं में जनमानस बंधकर रह जाता है। परन्तु, तुम इतने से संतुष्ट कहाँ हो? जब तक तुम्हारी रहस्य लीला में तुम्हारा नायक, सम्पूर्ण सचराचर का स्वामी, सृष्टा न स्वयं बंधे, कथा अधूरी ही रहेगी। सोचता हूँ, बाल-कन्हैया की ऊखल बंधन की लीला जिसे तुम्हारे साथ ऋग्वेद के पहले ऋषि मधुच्छन्दा ने भी गाया है। उस कथा को जैसे का तैसा सुना दूँ। श्रीमद्‌भगवतगीता में आयी ऊखल बंधन की कथा से ये कथा थोड़ी सी हटकर है। परन्तु वही कथा है।

वर्तमान युग में किसी भी नाटक को तीन हिस्सों में खेलने की परिपाटी है। इससे कुछ हटकर परन्तु, ऐसी ही परिपाटी वेदव्यास की लीलाओं में भी मिलती है। यह लीला भी तीन खण्डों में प्रदर्शित होती है। प्रथम खण्ड में कथा का सूत्रपात करते हैं। दूसरे खण्ड में लीला प्रकरण है। तीसरे खण्ड में रहस्य का अनावरण सूत्रधार द्वारा होता है। ऊखल-बंधन लीला में भी सूत्रधार पहले संक्षेप में कृष्ण और कंस की कथा सुनाता है। कथा के सूक्ष्म विवरण के उपरान्त कथा का सूत्रपात करता है और फिर कथा आरम्भ होती है।

कल्पना करें आप नाटक देख रहे हैं। एक बड़ा आँगन है जिसके सामने एक बड़ा द्वार है, जो खुला हुआ है। द्वार के ठीक सामने आंगन के उस पार एक विशाल दलान में यशोदाजी बैठी दधि मंथन कर रही हैं। बाल कन्हैया को अपने पास बिठाये हैं। बाहर जाने नहीं देती हैं। एक तो पापी कंस और उसके असुरों का भय, दूसरी ओर बाल-कन्हैया के माखन चोरी की शिकायतें। माँ उन्हें बाहर नहीं जाने देती हैं।

माँ ने आदेश दिया है कि कृष्ण वहीं बैठकर खेलें। ढेर सारे खिलौने हैं उनके पास। लकड़ी का हाथी है, घोड़ा और ऊँट है, तरह-तरह के खिलौने हैं। नन्हें कन्हैया का बाहर जाने का मन है। माँ के भय से मन मसोसकर बैठे ललचाई आँखों से बाहर को देख रहे हैं। खुले हुए द्वार के बाहर मैदान में खेलते बालक भी बाल-कन्हैया के साथ खेलना चाहते हैं। कृष्ण के बिना मन उनका भी नहीं लग रहा है। वे उनको चुपके भाग आने का इशारा करते हैं। नन्हें कन्हैया इस लोभ का संवरण नहीं कर पाते हैं। धीरे-धीरे बाहर की ओर सरकने लगते हैं। माँ यशोदा इस बात से अनभिज्ञ दही बिलो रही हैं। नन्हें कन्हैया धीरे-धीरे बाहर की ओर सरक रहे हैं। जरा सी भी आहट नहीं करते हैं। जब वे काफी दूर निकल जाते हैं, तो उठकर दौड़ लगा देते हैं। उनके दौड़ने से पैरों के घुँघरू तथा कमर की घण्टियाँ बज उठती हैं। माँ यशोदा चौंक कर बाहर की ओर देखती हैं तो उन्हें भागते हुए गोविन्द दिखाई पड़ते हैं। वे दौड़कर उनका पीछा भी करती हैं। कन्हैया उनसे बचकर माँ को खिजाते रहते हैं। वे माँ की पकड़ में नहीं आते हैं। जब वे माँ को खूब परेशान कर लेते हैं, तो स्वयं ही यशोदा के हाथ में आ जाते हैं। यशोदा जी उनको पकड़कर ले आती हैं। पुनः अपने पास बैठाती हैं। डांटती भी हैं और प्यार से समझाती भी हैं। पुनः दही बिलोने का उपक्रम करती हैं, परन्तु खीझकर नन्हें कन्हैया उनकी रस्सी पकड़ लेते हैं। माँ उनसे रस्सी छुड़ाती हैं तो नन्हें कन्हैया रखा हुआ दही उठाकर उनके कपड़ों पर फेंकते हैं। मक्खन उनके मुंह पर फेंकते हैं। यशोदा जी दही और मक्खन को दूर हटा देती हैं। तो कृष्ण उस मटकी को ही फोड़ने चल देते हैं, जिसमें माँ दही बिलो रही हैं। यशोदा जी एक रस्सी लेकर कन्हैया को आंगन में ही रखे ऊखल में बांध देना चाहती हैं, परन्तु रस्सी छोटी पड़ जाती है। वे और रस्सी लाती हैं। इस बार रस्सी फिर छोटी पड़ जाती है। प्रत्येक बार रस्सी दो अंगुली छोटी हो जाती है।

यदि रस्सी के दोनो सिरे बंध जायें तो सचमुच ईश्वर बंध न जाये? क्योंकि दोनों सिरे आपस में जुड़ नहीं पाते। इसीलिए तो हर बार रस्सी खुल जाती है। जीवन, मृत्यु में बदल जाता है। जीव और आत्मा अलग-अलग दो सिरे की भाँति बिखर जाते हैं। यदि दोनों सिरें जुड़ जायें तो योग हो जाए। आवागमन से मुक्ति हो जाए। जीवन की ये गाँठ ही तो नहीं बन्ध पाती है, इसीलिए आत्मा हर बार देह का परित्याग कर देती है। रस्सी खुली की खुली रह जाती है।

यशोदा जी को परेशान देखकर भगवान ऊखल से बंध जाते हैं। बांधते समय यशोदा जी ऊखल के मध्य बाल कन्हैया को कमर के मध्य से बांध दिया। नन्हें कन्हैया के पैर भी धरती को नहीं छू रहे हैं। एक छड़ी लेकर यशोदा जी बाल-कन्हैया को डांटती भी हैं और मन ही मन मुस्करा भी रही हैं। माँ कहती हैं, "लाला अब

भागो बाहर!"

नन्हें गोविन्द कोई उत्तर नहीं देते हैं। ऊखल से बंधे सिर झुकाये हवा में पैर हिलाते रहते हैं। यशोदा जी मंद-मंद मुस्कराती हैं। पुनः जाकर दही बिलोने लगती हैं। बीच-बीच में गर्दन घुमाकर देख भी रही हैं। कहीं नन्हें गोपाल बहुत उदास तो नहीं हो गये। पुनः दही बिलोने लगती हैं। भजन गा रही हैं तथा दही बिलोये जा रही हैं। दही बिलोते, भजन में खोई यशोदा जी को कुछ समय तक कृष्ण की सुधि नहीं रहती है। कुछ समय के उपरान्त वे गर्दन घुमाकर वे ऊखल की ओर देखती हैं तो उनके हाथ से रस्सी छूट जाती है।

यशोदा जी क्या देखती हैं, कि वहाँ पर न तो ऊखल है और न ही कन्हैया हैं। माँ स्तब्ध रह जाती हैं। नन्हें कन्हैया कहाँ गये? ऊखल क्या हुआ? निगाहें घुमाकर वे द्वार की ओर देखती हैं तो उनके मुख से चीख निकल जाती है। माँ क्या देखती हैं कि ऊखल स्वयं एक विशाल देहधारी मनुष्य बन बैठा है। ऊखल के हाथ, पैर और सिर भी प्रकट हो गया है। देहधारी ऊखल पैरों से चलता ड्योढ़ी की ओर जा रहा है। नन्हें कन्हैया उसकी कमर से बंधे हवा में लटक रहे हैं। कन्हैया की आँखें बन्द हैं। वे हवा में पैर हिला रहे हैं। उन्हें सम्भवतः ये भी नहीं मालूम कि ऊखल उन्हें भगाये लिए जा रहा है।

यशोदा जी दौड़कर ऊखल के पास जाती हैं। झटककर, दौड़कर रस्सी को खोलती हैं और नन्हें कन्हैया को ऊखल से खोलकर, अपने सीने से लगा लेती हैं। भय से उनकी सारी देह थर-थर कांप रही है। वे खड़ी नहीं रह पाती हैं। कृष्ण को सीने से लगाए धरती पर बैठ जाती हैं।

माँ की चीख की आवाज सुन सारे ग्वाल-बाल और अनुचर दौड़े चले आते हैं। यशोदा जी को घेर लेते हैं। माँ से चीखने का कारण पूछते हैं, तो यशोदा जी उत्तर देती हैं, "अरे! मत पूछो कि क्या हुआ! जो आज देख न लेती, पकड़ न पाती, कन्हैया को अलग न कर पाती, तो गोविन्द कहाँ पाती? माँ फूट-फूट कर रोने लगती हैं, मैं समझी कि लकड़ी का ऊखल आंगन में पड़ा है। मुझे क्या पता था कि यह मायावी कंस का भेजा हुआ कोई पिशाच है। बालक जिद कर रहा था। बार-बार बाहर की ओर भाग रहा था। मैंने इसे ऊखल के साथ बांध दिया। मुझे क्या पता था कि ये कंस का भेजा हुआ असुर है। जो मौके की तलाश में खड़ा हुआ है। मैं ही बांध बैठी अपने लाल को। क्या देखती हूँ कि ऊखल ने विकराल रूप धारण कर लिया और मेरे गोपाल को भगाए लिए जा रहा था। जो न पकड़ पाती, जो न छुड़ा पाती तो कन्हैया को कहाँ पाती!" माँ फूट-फूट कर रोने लगी हैं।

"माँ! आप क्या कह रही हैं? आप तो ऊखल के पास ही बैठी हुई हैं। इसके

न सिर है और न पैर।''

ये जानकर कि ऊखल के बगल में बैठी हुई हैं, यशोदा छिटककर दूर दौड़ती हैं। पलटकर देखती हैं तो माँ आश्चर्य चकित रह जाती हैं। सचमुच वह एक लकड़ी का ऊखल है, उसके न हाथ है, न सिर है और न पैर। माँ को अपनी आँखों पर विश्वास नहीं होता है। वे पुनः बालकों को सचेत करती हैं, ''अरे? मेरी बात मानों। मैंने इसके सिर देखा है, हाथ और पैर देखे हैं। मैंने इसको पैरों के बल चलते भी देखा है। तुम्हीं बताओ ये दूर आंगन में पड़ा हुआ था। ये द्वार तक पंहुचा कैसे? नन्हें कन्हैया तो उसकी कमर से वन्धे थे। जिनके पैर भी ठीक से धरती पर नहीं लग रहे थे। फिर ये द्वार तक आया कैसे?''

बालक भी सोचते हैं कि माँ ने अवश्य कुछ विलक्षण देखा है तथा उनके प्रश्नों का उत्तर भी उनके पास नहीं है। माँ यशोदा पुनः कहती हैं, ''मैंने इसके हाथ-पांव देखे हैं, मैंने इसका सिर देखा है। मैंने इसे पैरों चलते देखा है। कन्हैया को चुराने में असफल होने के कारण इस पापी ने पुनः ऊखल का रूप धारण कर लिया है। यह पापी कंस का भेजा हुआ मायावी असुर है। ऊखल रूप धरे है।'' बालक तथा अनुचर माँ यशोदा की बातों को स्वीकारते हैं। सभीत उस ऊखल की ओर देखते हैं। माँ से पूछते हैं, ''माँ अब इस ऊखल का हम क्या करें?''

यशोदा जी कहती हैं, ''जल्दी से अभिमंत्रित वस्त्र लाओ। बांस और रस्सियां लाओ। वस्त्रों में लपेटकर इसे कसकर बांसों से बांध दो। फिर इसको उठाकर ले जाओ! गाँव के बाहर, यमुना नदी के किनारे, इसे लकड़ियां लगाकर, जलाकर राख कर दो!''

''माँ हम ऐसा ही करेंगे!'' बालक कहते हैं। कुछ बालक ऊखल को घेरकर उस पर पहरा देते हैं तथा शेष वस्त्रों को अभिमंत्रित करके ऊखल को लपेटते हैं और बांसों पर रस्सियों से कसकर बांधते हैं। फिर वे मिलकर उसे बांसों सहित कंधों पर उठाकर सावधानी पूर्वक घेरकर गाँव के बाहर चल देते हैं।

बालक को आंचल में समेटे माँ यशोदा उन्हें जाते हुए देख रही हैं। वे पुनः उनको रोकती हैं और कहती हैं, ''यह मायावी पिशाच है। यदि जलकर भी इसकी माया नष्ट न हुई, तो यह भस्मी से पुनः कोई दूसरा रूप धरकर गाँव आ जायेगा। इसलिए इसकी भस्मी को वहाँ से समेट लेना। बीच यमुना नदी में माँ यमुना से प्रार्थना करके समाधिस्थ कर देना! इसको जल समाधि ऋषि दुर्वासा के आश्रम के सामने ही देना। जहाँ तपस्वी रहते हैं, वहीं स्थान तीर्थ होता है। ऋषि समाधि में हैं। उनसे मौन होकर प्रार्थना करना, कि वे इस पापी ऊखल की माया को सदा-सदा के लिए नष्ट कर दें। माँ यमुना से भी प्रार्थना करना कि माँ तेरे लाल को, नन्हें गोपाल को, यह पापी

ऊखल बहुत-बहुत सता रहा है। माँ इस पिशाच की माया सदा-सदा के लिए नष्ट कर दें। तू इसे अपने अंक में निष्क्रिय करके समेट ले, फिर न सताए मुझे।''

''माँ हम ऐसा ही करेंगे!'' बालक कहते हैं। ऊखल को उठाकर गाँव से बाहर चल देते हैं। पुनः यशोदा जी के मन में कुछ विचार उठते हैं। वे दौड़कर उनके पीछे जाती हैं और रोक कर कहती हैं,

''ठहरो! ये पिशाच है, ये छूत बनकर भी लौट सकता है। गाँव आने से पूर्व तुम सब सवस्त्र नहाना। पवित्र होकर तथा नये यज्ञोपवीत धारण करके ही गाँव में प्रवेश करना।''

''माँ हम ऐसा ही करेंगे!'' बालक कहते हैं, और ऊखल को लेकर चले जाते हैं।

गाँव के बाहर यमुना के किनारे, सूखी लकड़ियों को बटोरकर बालक ऊखल को जलाते हैं। ऊखल जल कर राख हो जाता है। जब अग्नि पूर्णतः शान्त हो जाती है, तब बालक उसकी भस्मी को समेटकर नाव में रखते हैं। बीच यमुना नदी में, दुर्वासा ऋषि के आश्रम के सामने मौन होकर दुर्वासा तथा यमुना मैया से प्रार्थना करते हैं। भस्मी को जल में समाधि देते हैं। सभी बालक सवस्त्र स्नान करते हैं तथा नये यज्ञोपवीत धारण करके गाँव लौटते हैं।

पेड़ों की परछाइयां लम्बी हो रही हैं! सांझ का झुटपुटा है। सूर्यदेव अस्ताचल की ओर जा रहे हैं। सारा दिन इसी कार्य में लग गया है। लम्बी होती पेड़ों की परछाइयों के साथ वे गाँव में प्रवेश करते हैं तो ठिठक कर रह जाते हैं। देखते हैं माँ यशोदा को, जो गाँव के बाहर खड़ी उनकी प्रतीक्षा कर रही हैं। यशोदा जी के साथ में अनुचर हैं। एक अनुचर के हाथ में दो बड़े-बड़े थाल हैं। माँ यशोदा बच्चों को सम्बोधित करके पूछती हैं,

''तुमने उस पापी ऊखल को जलाया है?''

''हां माँ हमने उसे जलाकर राख कर दिया है! ''बालक उत्तर देते हैं।

''फिर क्या किया?'' माँ पूछती हैं।

''माँ आपके बताए अनुसार हमने उसकी भस्मी को ऋषि दुर्वासा के आश्रम के सामने यमुना में समाधिस्थ किया है। मौन होकर माँ यमुना तथा ऋषि दुर्वासा से प्रार्थना की है। सवस्त्र नहाये तथा पवित्र होकर नये यज्ञोपवीत धारण करके हम लोग आ रहे हैं।'' बालक उत्तर देते हैं।

''बालकों मुझे अभी भी संदेह है!'' यशोदा जी कहती हैं।

''माँ तुम्हें अब क्या संदेह है?'' बालक पूछते हैं।

वह पापी पिशाच इन्द्रियों का विषय बनकर भी लौट सकता है। इसीलिए मैं

अभिमंत्रित नीम की पत्तियां लाई हूँ, तुम्हारे लिए। तुम सब बालक उन पत्तियों को चबाओ, यदि वह पिशाच इन्द्रियों का विषय बनकर लौट रहा होगा, तो वह इन पत्तियों के प्रभाव से नष्ट हो जायेगा।''

सभी बालक थाल से नीम की पत्तियां लेकर चबाते हैं। यशोदा जी पुनः कहती हैं, ''वह मायावी पिशाच है, परछाई के साथ भी छूत बनकर लौट सकता है। इसीलिए मैं अभिमंत्रित मिर्चे भी लाई हूँ, उन मिर्चो को जलाकर सब बालक उसका धुआं लें। यदि वह परछाई के साथ आ रहा होगा तो नष्ट हो जायेगा।''

बालक मिर्चो का धुआँ भी लेते हैं। यशोदा जी अश्वस्त होती हैं। प्रसन्न होकर बच्चों से कहती हैं, ''रे बालको, मैं जान गयी! कंस का भेजा हुआ वह पापी पिशाच सदा-सदा के लिए हमसे दूर हो गया है। तुम सब गाँव में प्रवेश करो।''

यशोदा जी के साथ बालक गाँव में प्रवेश कर जाते हैं। लीला का समापन होता है। अब रहस्य-लीला का आरम्भ होता है। एक ओर बालक यशोदा जी के साथ जा रहे हैं। दूसरी ओर खाली मंच पर सूत्रधार के रूप में स्वयं भगवान वेदव्यास जी चले आ रहे हैं। जन मानस को सम्बोधित करते हुए कहते हैं, ''क्या जाने वह भोली माँ! वह बेचारा लकड़ी का ऊखल था। कंस का भेजा हुआ कोई भी मायावी पिशाच उसमें नहीं था। वह नितान्त लकड़ी का ही ऊखल था। तब क्या हुआ? माँ क्यों घबरा गयीं? ऊखल पैरों से चला कैसे?''

''बांध दिया था मां ने सृष्टा को जड़ ऊखल के साथ। पाकर पारस मणि का स्पर्श जैसे लोहा, सोना हो जाता है; उसी प्रकार सृष्टा, भगवान श्रीकृष्ण का स्पर्श पाकर जड़ ऊखल को भी जीवन मिल गया। कन्हैया की इच्छा पूर्ति के लिए, वह बन कन्हैया ड्योढ़ी से बाहर चल दिया।'' भगवान वेदव्यास कथा का रहस्य दर्शकों को समझा रहे हैं। पुनः स्पष्ट करते हैं वे, ''क्या देखता हूँ मैं, मेरे भक्त मित्रगण! जब माँ प्रकृति, आत्मा रूपी कृष्ण को, शरीर रूपी ऊखल के साथ बांध देती है। ये भी आदमी बन चलने लगता है। जीवन की नाना ड्योढ़ियों को पार करने लगता है। तुम्हीं बताओ शरीर तुम्हारा इन पेड़ों का अन्न और लकड़ी ही तो है। जड़ ऊखल ही तो है! जब पा लेता है स्पर्श आत्मा का तो ये चलने लगता है! बोलने लगता है! नाना जीवन लीलायें करने लगता है। जिस दिन माँ यशोदा, यह प्रकृति, आत्मा कृष्ण को इस शरीर से अलग कर देती है। घर के सारे स्वजन चिल्ला उठते हैं। ये हमारा पिता नहीं, ये हमारा भाई नहीं, बाबा नहीं। ये दादी नहीं, माई नहीं, ये मेरा कुछ भी नहीं लगता है। सारे स्वजन पुकार उठते हैं। ऊखल उसका नहीं वे सब इस ऊखल के भी नहीं। यह तो कंस का भेजा हुआ कोई मायावी पिशाच है। तुरन्त अभिमंत्रित वस्त्र लाओ, इसे लपेटो। बासों पर रस्सियों से बांधो इसे। अर्थी

बनाकर ले चलो इसे, गाँव से बाहर, नदी के किनारे! वहाँ इसे तिल-तिल कर जलायेंगे। ये हमारा नहीं! यह तो कोई कंस का भेजा हुआ मायावी पिशाच है।''
फिर गम्भीर गूंजती वाणी वेदव्यास की! खुलते रहस्य जीवन के! मौन स्तब्ध सुनती दर्शक मंडली! गुरू गम्भीर वाणी में वेदव्यास सुनाये जा रहे हैं।

''ले जाते हैं बनाकर अर्थी तुमको! संग-संग गाते हुए 'कृष्ण नाम सत्य है,'' ''राम नाम सत्य है,'' ''हरि का नाम सत्य है।''

सत्य तो वह राम हैं। हरि हैं, जो घट-घट वासी आत्मा होकर सबमें व्याप्त हैं। आत्मा हरि गये, फिर तू किसका? कौन तुम्हारा? बस पापी कंस का भेजा एक पिशाच ही तो है, जड़ ऊखल ही तो है। न तू किसी का और न कोई तेरा! जिन्हें कहता था तू अपना, वे ही आज लिए जा रहे हैं तुझे, सुनसान, बियावान में! तिल-तिल कर जलायेंगे तुझे। ज्येष्ठ-आषाढ़ की तपती दोपहरी सा चिता की लकड़ियों पर धूं-धूं कर जलेगा तू! न कोई तेरा, और न तू किसी का!

घर में यदि कोई अपवित्र पशु शूकर आदि प्रवेश कर जाए। घर धो दो! पवित्र हो जायेगा। परन्तु जिस घर से तू उठेगा रे ऊखल! तेरहवीं पर्यन्त छूत वास करेगी! आत्मा का स्पर्श मिटा तो तू महा अछूत, महा अग्राह्य है! आत्मा के हटते ही, न तू ब्राह्मण, न तू क्षत्रिय और न ही तू वैश्य है। अछूतों का भी अछूत है! अग्राह्यों का भी अग्राह्य है। पापी कंस का भेजा पिशाच है!

कल तक जो तेरे थे। तू भी उनका था। कल तक जो तेंरी चिन्ता करते थे। देरी हो जाने पर तुझे खोजने जाते थे। वे सब स्वजन तेरे, आज जलायेंगे तुझको। जिनके लिए तूने गोविन्द गँवाए! संसार बसाये! जिनके लिए तू समाज का शोषण कर धन बटोरता रहा। जिनके लिए तू हरि को नकार कर ऐश्वर्य समेटता, भटकता रहा। आज वे सब मिलकर जलायेंगे तुझे! जब तू अपनी ही अन्तरात्मा गोविन्द का न हुआ तो कोई भी तेरा न हुआ!

कल तक तू बहुत बेचैन था। मुझसे भी तो यहीं कह रहा था! स्वामी जी! मैं सत्संग में नहीं आ सकता हूँ! मेरा पौत्र मेरे बिना नहीं रहता है। आज जब आंगन में पड़ा है तू निर्जीव देह होकर! तेरी ही बहू ने तेरे ही पुत्र से कहा है कि जल्दी से हटा ले जाये तुझको! कहीं नन्हां देखकर डर न जाये।

तुझे चिन्ता थी नन्हें की! तेरे बिना रहता न था! आज सब भयभीत हैं, कहीं नन्हां तुझे देखकर डर न जाए। अरे मूर्ख! कब नन्हां तेरी गोद बैठा? नन्हां तो आत्मा गोविन्द की ही गोद बैठा था। आत्मा के हटते ही नन्हां फिर नहीं बैठता है गोद! काश! तू जान पाता सब गोविन्द की गोद बैठते हैं। सब गोविन्द के हैं। आत्मा गोविन्द के हटते ही कोई तेरा नहीं रहता है!

ले जाते हैं तुझको अर्थी बनाकर! राम और कृष्ण सत् गाते! गाँव के बाहर नदी के किनारे तुझे तिल-तिल कर जलाते हैं। सवस्त्र नहाते हैं, जैसे किसी बहुत गन्दे पापी को छू लिया हो। पवित्र होकर ही घर आते हैं। कड़वा ग्रास खाते हैं, नीम की पत्तियों का तथा मिर्चों का धुआं लेते हैं। कि कहीं तू प्रेत पिशाच बन उनके पीछे न पड़ जाए! अरे! कौन तेरा और तू किसका?

यदि स्वप्न में भी दिख गया तू किसी को, तो सारे घर में भय छा जाता है। सब भयभीत हो उठते हैं! कहीं दो-चार और न ले जाय तू! तांत्रिक-मांत्रिक बुलाते हैं। वे तुझसे पीछा छुड़ाने का उपचार करते हैं। पिण्डदान गयाए ब्रह्मकपाल के उपक्रम करते हैं। क्यों? जिससे तुझसे पीछा छूटे।" गरू गम्भीर गूंजती वाणी वेदव्यास! मौन स्तब्ध वैठी भक्त मण्डली! प्रत्येक चेहरा गम्भीर, प्रत्येक आंख बोझिल, अपने ही आने वाले कल को वर्तमान में खोजती हुई! भावावेश में वेदव्यास कहे जा रहे हैं, "रे भक्त मित्र! समय का जल, अंजलि से बूंद-बूंद कर टपक रहा है। रीती अंजलि, छूटा संग कन्हाई का! पापी कंस का भेजा पिशाच! जड़ ऊखल ही तो है बाकी।"

जिसके स्पर्श मात्र से, रे ऊखल! तू चल रहा है! सुन रहा है! देख रहा है! सोच-विचार कर रहा है! लौटकर उससे लिपट क्यों नहीं जाता? फिर बिछुड़ने की बात ही न हो! संसार में स्वयं को भटकाने वाले! अपने भीतर जा, अपनी ही आत्मा से योग कर, अद्वैत हो! मिटा कर स्वयं को कृष्ण में, तू कृष्ण हो!

हरि ॐ! नारायण हरि!!

13

ऊखल लीला ऋग्वेद में

वेदव्यास! बाल कन्हैया की ऊखल लीला में; सर्वत्र, अपने चहुँ ओर देख रहा हूँ। ऋग्वेद का पहला ऋषि मधुच्छन्दा जो तुम्हारी ऊखल लीला से अछूता नहीं है। वेद की ऋचाओं में तुम्हारी ऊखल लीला तथा लीला से उभरते मेरे क्षण! झूमकर गाता ऋग्वेद का पहला ऋषि मधुच्छन्दा! तुम्हारी रहस्य-लीला से रोमांचित होकर! मन होता है कि वह सूक्त गा दूँ। मन का पक्षी अतीत की उन वन और घाटियों में, समय के लम्बे अन्तरालों को पार करता, उड़ा जा रहा है! फिर-फिर मुझे रोमांचित एवं पुलकायमान करने लगता है। मेरे नेत्र युगों के अनगिनत अंतरालों को पार कर उस दृश्य में स्थिर हो गये हैं! हिमालय की सुरम्य गोद! हवाओं के साथ झूमते देवदार के वृक्ष उत्तरायणी गंगा का वह तट! वर्फ से ढकी पर्वतों की चोटियां! यज्ञ की ज्वालाओं से फैलता प्रकाश, मोहक सुगन्ध और धुआँ! विशालकाय गौर रक्ताभ ज्योतियों से दमकता, विशालनेत्रों वाला ऋषि मधुच्छन्दा और उसकी ऋचाओं का गान करती ऋषि की थिर गम्भीर गरू झंकृत करने वाली वाणी। पावन उपदेश के रूप में प्रकट होते ऋचाओं के रहस्य!

सुरूपकृत्नुमूतये सुदुधामिव गोदुहे।
जुहूमसि द्यविद्यवि।।1. 4. 1।।

(सुरूप) हे सगुण साकार को प्रकट करने वाले! (कृत्नु) कलाकार अर्थात् हे सम्पूर्ण सचराचर को प्रकट करने वाले कलाकार। (मूतये) बंधने वाले अर्थात् सम्पूर्ण साकार को प्रकट करने वाले। हे पावन! कलाकार और अपनी ही कृति में स्वयं बंध जाने वाले! आत्मा के रूप में आज तू अपनी प्रत्येक बनाई कृति में बंधा हुआ है।

ठीक वैसे ही बंधा है, जैसे यशोदा तुझे ऊखल से बांधती हैं। (सु) दिव्य अलौकिक। (दुघाम्) दुधारी गौवें। (इव) भांति। (गोदुहे) गौवों को दुहने वाले ग्वाले, अर्थात् हे सम्पूर्ण साकार को प्रकट करने वाले तथा अपनी ही बनाई कृतियों में स्वयं बंधने वाले हे आत्मा! हे कृष्ण! सम्पूर्ण सचराचर का आत्मा होकर गौवों की भांति गोदोहन करने वाली उस ज्योतिर्मयी, कान्तिमयी यज्ञमयी छवि (जुहूमसि) का मैं, (द्यविद्यवि) क्षण-क्षण, घट-घट चिन्तन करने लगा हूँ! हे गोविन्द! हे माधव! मैं हर घट में तुम्हारी उस कान्तिमयी छवि का दर्शन पाने लगा हूँ। हर रूप में छू जाता है तू! मिथ्या जगत के भ्रम के सारे बादल छोड़ गये हैं। अब तो तुझे ही देखने लगा हूँ। जब पा लिया है तुझको, दिख गया है तू! जब घूमी हैं निगाहें मेरी, मेरे ही भीतर, वहाँ भी तेरी ही मोहक छवि का दर्शन पाता हूँ। तो मेरा मन होता है।

उप नः सवनागहि सोमस्य सोमपाः पिब।
गोदा इद्रेवतोमदः।। 1. 4. 2।।

(उप) अर्थात् व्याप्त हो जाऊँ तुममें, खो जाऊँ तुममें। बनकर गोपी ब्रह्म ज्वालाओं के सम्मुख। हे आत्मा! वरण करूँ तुम्हारा! पति रूप में पाऊँ तुझे। इसलिए (उप) व्याप्त होने के लिए तुममें। (सवन) स्नान अर्थात् विवाह से पूर्व जब वधू नहलाई जाती है, तो उसे सवन स्नान कहते हैं। चिता की अग्नि से पूर्व मृत देह को नहलाकर पवित्र करते हैं, तो उसे सवन स्नान कहते हैं तथा नवजात शिशु का प्रथम सौर स्नान को भी सवन ही कहते हैं। (उप नः सवनागहि) तुझसे मिलने के लिए मैं इस देह रूपी दुल्हन को, हे पिया! तेरे जल से स्नान करा रही हूँ। यज्ञ पूर्व तेरी होने के लिए मैं इस तन रूपी सामग्री को सवन स्नान करा रही हूँ। मिथ्या जगत को अन्तिम रूप से त्यागने के लिए बाह्य जगत में मृत हो गयी हूँ। मेरी ही वृत्तियों को अन्तिम अग्नि देने हेतु मैं जीव रूपी दुल्हन सवन स्नान करा रही हूँ। कैसा है मेरा पिया? (सोमस्य सोमपाः पिव) स्नान के लिए जो मैंने जल लिया है वह सोम अर्थात् ज्योति है। ज्योतियों के लिए ज्योतियों के जल में तन रूपी दुल्हन को नहला रही हूँ मैं तथा ज्योतियों के जल का आचमन है आज। मेरा पिया। (गोदा) ज्योतियों को देने वाला ज्योर्तिमय सूर्य, वह सहस्त्रों सूर्यों को तेज देने वाला कृष्ण है। मेरा आत्मा है! उसी की रोशनी से सम्पूर्ण सचराचर प्रकाश मान हैं। उसके हटते ही एक सहस्त्र सूर्य भी मेरी मुर्दा आँखों को रोशनी नहीं दे पाते हैं। ज्योर्तिमय है पिया मेरा! ज्योर्तिमय है राह उसकी! ज्योतियों के जल का ही सवन है, ज्योति रूपी जल का ही आचमन है। (गोदा इद्रेवतो मदः) हे ज्योतियों को देने वाले ब्रह्म, हे गोविन्द! जिस प्रकार ज्योर्तिमय सूर्य के भंवर में फंसी ये धरती निरन्तर उन्मादिनी सी उसकी परिक्रमा करती रहती है। उसके हर ओर अंग प्रत्यंग नाचती, उसी के

चहुँ ओर मस्त झूमती रहती है। जिस प्रकार दुल्हन यज्ञ के सम्मुख पति के साथ भंवरों की कल्पना में सवन करती हुई आनन्दित और रोमांचित होती है। एक उन्नीदी सी, गुदगुदी भी, कल्पना का कुछ भोला सा अज्ञान! हल्का सा उन्माद है, अंग-अंग में मीठी स्फुरण है, रोम-रोम में रोमांच होता है। थोड़ा सा भय, थोड़ी सी उत्कंठा, नारी सुलभ लाज, कुछ अनिश्चितता के क्षण! सारे भाव आज मेरे रोम-रोम को झंकृत कर रहे हैं। जीव रूपी गोपी, ब्रह्म कृष्ण पिया को अंतर्मुखी हो, अपनी ही आत्मज्वालाओं में मिलने चली है। सदा-सदा के लिए गोविन्द की होने चली है। भांवरो की कल्पना में रोम-रोम झूम रहा है। अंग-अंग फड़क रहा है। राह गोविन्द की है । गीत गोविन्द का है!

अथा ते अन्तमानां विद्याम् सुमतीनाम्।
मा नो अतिख्य आगहि।।1. 4. 3।।

(अथा ते) यूँ रीझी थी तुझपर! ऐसे कथा शुरू हुई थी मेरी! झुकी थी मैं राह पर तेरी! (अन्तमानां विद्याम् सुमतीनाम्) सवन स्नान से पहले मैंने अंग-अंग में विद्या और सुमति का उबटन लगाया था, जैसे स्नान से पूर्व दुल्हन (तमा) अर्थात् हल्दी आदि के उबटन से सजाई जाती है। उबटन को लगाकर उसके तन के सारे मैल उतर जाते हैं। हे गोविन्द! मैंने भी इस तन के, मन के हर रंग को बहुत-बहुत बार उबटन से रगड़-रगड़ कर साफ किया है। वह उबटन था विद्या और सुमति का! (मा नो अतिख्य आगहि) विद्या और सुमति के उबटन से मैं अपना रोम-रोम मांजती रही हूँ! असत्य और अज्ञान को मिटाती रही हूँ। भौतिक उपलब्धियों और ख्यातियों से स्वयं को सदा अलग करती रही हूँ। विद्या और सुमति का उबटन में सदा संसारिक उपलब्धियों और ख्यातियों से स्वयं को विरक्त करती रही हूँ। मेरा मन विद्या और सुमति के उबटन के कारण कभी मोहान्ध कंस न बना था अस्ति और प्राप्ति न कभी बांध पायीं मुझे! विद्या और सुमति के इस उबटन ने मुझे इस योग्य बनाया कि आज हे पिया! तेरी ज्योतियों के जल से सवन स्नान कर रही हूँ। अब तो यज्ञ के सम्मुख भांवरों की कल्पना ही शेष है। मालूम है, तुमको कैसे पहुँची मैं तुझ तक?

परेहि विग्रमस्तृतमिन्द्रं पृच्छाविपश्चितम्।
यस्ते सखिभ्य आ वरम्।। 1. 4. 4।।

(परेहि) दूर हटाती रही संसार को स्वयं से! उस दुल्हन की तरह जो जानती है कल एक अजनबी ने आना है। अग्नि के सम्मुख वह अजनबी वरण करेगा उसका फिर वह उसकी ही हो जायेंगी। बाबुल का घर, ये खेत और खलिहान, ये बछड़े, मृग छौने सब छूट जायेंगे। उसे तो उस अजनबी के साथ जाना होगा। ये जानती

हुई वह अपनी मानसिकता को बारम्बार उन सब से अलग करती रही है। छूटने से पहले छूटने की मानसिकता को पुष्ट करती है। उसी प्रकार हे गोविन्द! मैं भी विद्या और सुमति के उबटन से अपनी प्रत्येक मानसिकता को मांजती रही हूँ। (विग्रम्) विगत करती रहीं विषय वासना रूपी (ग्रम) विष से। संसार की विषाक्त वासनाओं को स्वयं से हटाती रही हूँ। (पृच्छा विपश्चितम्) सम्पूर्ण अतीत को और उनकी स्मृतियों को नष्ट करती रही हूँ। उस सन्यासी की तरह, जो सन्यास से पूर्व अपने सम्पूर्ण अतीत की चिताओं को जलाता रहा है। नाते और रिश्तेदारों की स्मृतियों को भस्म करता है। अतीत के अपने स्वरूप भी जला देता है। लुटाकर सारे अतीत को, यज्ञ की ज्वालाओं के प्रतीक गेरूआ वस्त्र धारण कर अग्निवेश अर्थात् स्वयं अग्नि हो जाता है। हे गोविन्द! हे ब्रह्म! हे पिया! उस योगी की भांति ही मैं अपने सारे अतीत को झुठलाती, मिटाती रही हूँ। विद्या और सुमति के उबटन से मांजती रही हूँ। (ऋतम् इन्द्रम् स्थः) मिटा कर सारे अतीत को मनसा, वाचा, कर्मणा स्वयं को आत्म ज्वालाओं में ही स्थिर करती रही हूँ। आत्म ज्वालाओं के प्रकाश को ही सदा ओढ़ा है मैंने। सदा लिया है मैंने! मेरा प्रत्येक क्षण हे पिया! तेरी ज्योतियों में ही स्थिर रहा है। (यस्ते सखिभ्य आ वरम्) इसी से तो तेरा वरण करने का, यज्ञ की ज्वालाओं के सामने तुझको पाने का अधिकार पाया है मैंने! हे सखा! यूँ बीती है जिन्दगी मेरी! यूँ शुरू हुई थी कहानी मेरी और यूँ आ पायी मैं तुझ तक!

उत ब्रुवन्तु नो निदो निरन्यतश्चिदारत्।
दधाना इन्द्र इद्दुवः।। 1. 4. 5।।

(उत) संशय। (ब्रुवन्तु) बनावट, नाटक, ढोंग। (निदो) निंदा, भेदभाव, असत्य और अज्ञान इन सबसे होकर। (निरयंत्) अलग, दूर, बहुत दूर अर्थात् संशय बनावट, असत्य और अज्ञान से दूर हटकर बहुत दूर चली गयी। मिट गये सब संशय, मोह, अज्ञान और दिखावे मेरे! खो गयी मैं तुझमें! (चिदारत) एकी भाव में स्थिति! बस तुम्हीं को मैंने हर भाव में सजाया! हर भाव में रमाया! संदेह, चिन्ता, असत्य और अज्ञान सब मिट गये मेरे। तुम्हीं में मैं सदा-सदा के लिए अनन्य होकर स्थिति हो गयी हूँ। इसलिए हे आत्मा! हे प्रियतम! हे गोविन्द! (दधाना) मुझे स्वयं में वैसे ही धारण करो जैसे। (इन्द्र इद्दुवः) जैसे यज्ञ की ज्वाला यज्ञ की समिधा को धारण करती हैं। जिस प्रकार यज्ञ की ज्वाला समिधा से योगकर, समिधा को जलाकर, ज्वाला ही बना देती हैं। जैसे अग्नि में जाकर समिधा अपने रूप को मिटा अग्नि हो जाती है। हे प्रियतम! आज कुछ ऐसा मिलन हो तुम्हारा! बस समिधा सी जल जाऊँ तुझमें! सब कुछ अग्नि हो मैं तुम्हारी ही अग्नि बन जाऊँ! जैसे जल गयी समिधा अग्नि से अलग नहीं की जा सकती, अग्नि ही हो जाती है। उसका

योग अन्तिम, अभेद को प्राप्त होता है! आज कुछ ऐसा वरण करो। अपने में सदा-सदा के लिए मिला लो मुझे! बस एक हो जाएं! ''प्रेम गली अति सांकरी, जा में दो न समायं।''

उत नः सुभगां अरिर्वोचेयुर्दस्म कृष्टयः।
स्यामेदिन्द्रस्य शर्मणि।। 1. 4. 6।।

(उत) संशय। (अरिर्वोचयुः) सांसारिकता रूपी शत्रुओं को विषयान्धता और अज्ञान रूपी शत्रुओं को। (दस्म) नष्ट करके, आत्म ज्वालाओं की ज्योर्तिमय यज्ञ कुण्ड की ओर। (कृष्टयः) आकृष्ट हुई हैं। (नः) हम सब अर्थात् हे आत्मा! हे यज्ञ! हम जीव रूपी गोपियां सांसारिकता और विषयान्धता रूपी शत्रुओं को अपने अन्तर से विनाश कर, अन्तरात्मा रूपी यज्ञ कुण्ड की ओर आकृष्ट हुई हैं। आपको पाने के लिए, आपके द्वारा वरण हेतु। (स्यामेदिन्द्रस्य) हम सब आत्मज्वालाओं की स्निग्ध ज्योतियों के आनन्द की अधिकारिणी हैं। हे गोविन्द! हमें ग्रहण करो, हमें अपने ही अग्नियों में यज्ञज्योति बनाकर स्वयं में सदा के लिए समेट लें। हमें ज्योतियों के परम् सुख से वरद् करें। हमने मिटा दिये हैं, सम्पूर्ण संशय, अज्ञान अन्धकार रूपी शत्रु! जीतकर इन सम्पूर्ण शत्रुओं को ही आत्मज्वालाओं की ओर आकृष्ट हैं। हे आत्मा! हम एकी भाव में, अपने में स्थित हो चुकी हैं। हमें ब्रह्म ज्वालाओं के परमानन्द (शर्मणि) से युक्त करें। हमें अंगीकार करें। हमारा वरण करो!

एमाशुमाशवे भर यज्ञश्रियं नश्मादनम्।
पतयन्मंदयत्सखम्।।1. 4. 7।।

(एम) कच्चा। (आशुम्) चावल। (आशवे) आसव। (भर) व्याप्त होना। (यज्ञश्रियम्) यज्ञ के ऐश्वर्य से संयुक्त हो। (नृमादनम्) सबको आनन्दित करने वाले। (पतयन्त्) पतित जैसे लोगों को। (मंदयत) राजस मनुष्यों को। (सखम्) मित्र भाव रखने वाले! कच्चे चावलों का आसव जब पी लेता है पतित, तो आनन्दित होता है। कच्चे चावल की शराब उसे मदान्ध बनाती है। उसी कच्चे चावल को जब राजस व्यक्ति भोजन के रूप में ग्रहण करता है तो वही कच्चा चावल शरीर में बनकर आसव, शरीर को पुष्ट और आनन्दित करता है। उसी कच्चे चावल को जब तापस, मनीषी यज्ञ की ज्वालाओं में आहुति देते हैं, तो वही कच्चा चावल बनकर ज्योर्तिमय आसव, तापस को आनन्दित करता है। उसे ज्योर्तिमय सुखद आनन्द की अनुभूति होती है। सत, रज और तम तीनों को आनन्दित करने वाला चावल; न तो सत है, न रज है और न ही तम है। उसी चावल को तामसी वृत्तियों वाला व्यक्ति तामस भाव से ग्रहण करता है और आनन्दित होता है। उसी चावल को राजस व्यक्ति राजसी

भाव से ग्रहण करता है, तो परमानन्दित होता है। उसी चावल को सात्विक व्यक्ति यज्ञ की ज्वालाओं में आहुति देता है तो वह चावल, बनकर सत, ज्योतियों की राह जाने वाले को परमानन्दित करता है।

कच्चे चावल की भांति सात्विक राजस और तामस सभी को आनन्दित करने वाले हे आत्मा, हे श्रीकृष्ण! हे पतित पावन दीनबन्धु भगवान! कच्चे चावल से बने मेरे शरीर को आज यज्ञ की ज्वालाओं में ग्रहण करो! प्रभु अंगीकार करो! इसमें जो भी सत् है, रज है और तम है उस सबको जला दो। एक सात्विक यज्ञ की ज्योति बना दो। तन जले, मन जले सब कुछ जल जाए! होकर तुममें यज्ञ, मैं तुम्हारी ज्योतियों का आसव बन जाऊँ। और फिर

अस्य पीत्वा शतक्रतो घनो वृत्राणामभवः।
प्रावो वाजेषु वाजिनम्।। 1. 4. 8।।

(अस्य) इस प्रकार अपने ही तन के बने आसव को, ज्योतियों को। (पीत्वा) मैं पी जाऊँ। (शतक्रतो) प्रलयंकर रूद्र की भांति। (घनो वृत्राणामभवः) काले घने घुमड़ते बादलों के घटाकाश को नष्ट करती नीलाकश में, नीलाभ आकाश में निर्मल विचरूँ, होकर संदेह रहित! होकर मस्त। (प्रावो) व्यापकता से पूर्णता से। (वाजेषु) आत्मा रूपी यज्ञ में करके समर्पित स्वयं को। (वाजिनम्) यज्ञ हो जाऊँ, मिट जाऊँ!

जब हमारे तन का आसव बने ज्योर्तिमय! अपनी ही उन ज्योतियों के आसव को; हम! छिन्द मस्ता देवी की तरह पीकर मस्त हो जायें! अपने ही तन का आसव फिर ज्योर्तिमय नशा! अंग-अंग में ज्योर्तिमय हो! रोम-रोम प्रलयंकर रूद्र सा जगमग हो जाये! हम बनकर कौंधती बिजलियों का वज्र, घुमड़ते बादलों जैसे सम्पूर्ण अज्ञान, असत्य को नष्ट करती एक आत्मा रूपी यज्ञ में, एक ज्वाला में पूर्णतः और व्यापकता से बन सामग्री जल जायें! मिट जाये सब कुछ मेरा! मिट जाये मेरी और हमारी ये शाब्दिक परिभाषा! सब मिट जाये! सब खो जाये! हे गोविन्द! अपनी गोपियों को इसी प्रकार अंगीकार करो। सब कुछ हे गोविन्द! आप में ही शेष हो जाये! जीव और आत्मा का भेद मिट जाए! बस सब कुछ कृष्ण हो जाए! गोविन्द हो जाये! तब क्या हो?

तं त्वा वाजेषु वाजिनं वाजयामः शतक्रतो।
धनानामिन्द्र सातये।। 1. 4. 9।।

(तम्) तब। (त्वा) तुममें। (वाजेषु) यज्ञों में। (वाजिनम्) यज्ञ होकर। (वाजयामः) विष्णु सा सुन्दर और ज्योर्तिमय। (शतक्रतो) रूद्र सा प्रलयंकर और पवित्र स्वरूप प्रकट हो। (धनानाम्) ऐश्वर्य से। (इन्द्र) ज्योतियों से। (सातये) संयुक्त नूतन जन्म हो, वरद हो।

जब जल जाये तुममें! रूप मिट जाये हमारा! तब उस यज्ञ के कुण्ड से, यज्ञ रूपी गर्भ से एक अद्वैत संयुक्त स्वरूप प्रकट हो! विष्णु सा सुन्दर, रूद्र सा प्रलयंकर सर्व शक्तिमान। अंग-अंग ज्योतियों के आभूषणों से वरद हो, सुख से वरद हो! एक ऐसा अद्वैत स्वरूप मेरे जल जाने से प्रकट हो।

गोपी जो गोपाल हो गयी, उद्धव जो गोविन्द हो गया। जब मिट जाये रूप मेरा तो उस यज्ञ के कुण्ड से एक रूप हो हम प्रकट हों! अर्धनारीश्वर से! एक रूप एक रंग! बस एक! सिर्फ एक!

''एको कृष्ण, द्वितीयो नास्ति!''

यो रायोऽवनिर्ममहान्त्सुपारः सुन्वतः सखा।

तस्मा इन्द्राय गायत।। 1. 4. 10।।

अरे सुनों! हमारे गीत को सुनने वालो! (यो) जो। (रायों) शीघ्रता से आकर आत्मा रूपी। (अवनी) अर्थात् धरती पर। (महान्त्सु) अपनी महा अन्त्येष्ठि कर गया। जो आत्मा रूपी धरती पर, अपनी महा अन्त्येष्ठि कर आत्म-ज्वालाओं के गर्भ में व्याप्त हो गया वही। (पारः) पुनः प्रकट हुआ, बनकर ज्योर्तिमय विष्णु, ज्योतियों के गर्भ से। (तस्मा इन्द्राय गायत) उसके गीतों को अमर यज्ञ की ज्योतियों ने अपने दहकते हुए होठों से गाया है। यज्ञ की ज्वालाओं के ज्योर्तिमय होठों का वह गीत बन गया! लोक गीतों का वह नायक हुआ! जुड़कर गोविन्द से गोविन्द हो गया!

वेदव्यास! तुम्हारे गोविन्द को मैंने यज्ञ की ज्वालाओं के द्वारा अपने दहकते हुए होठों से गाते सुना है। वे ही तो गीत गोपियों के हैं! वे ही तो गीत गोविन्द हैं!

हरि ॐ! नारायण हरि!!

14

श्री राधा जी

वेदव्यास! तुम्हारी रहस्य लीलाओं के अमृत का मैं मौन पान किये जा रहा हूँ। तुम्हारे इस लीला दर्पण में मेरे भीतर, बाहर के स्वरूप मुझे स्पष्ट दिखने लगे हैं। मेरे ही सुर और असुर विचार, सुख और दुख, पुण्य और पाप; नाना पात्रों का रूप धरे मुझे मेरे ही जीवन के रहस्य दिखला रहे हैं। नन्हें कन्हैया की बाल सुलभ लीला, भोली मोहक छबि मुझे हर ओर दिखने लगी है। भगवान की ये मनोहारी छटा मेरी बाल सुलभ अवस्था को प्राप्त मेरी भक्ति का प्रतिबिम्ब है। भक्ति रूपी विचार को गर्भस्थ शिशु की तरह गर्भ में रहना पड़ता है। उसके उपरान्त ही भक्ति रूपी विचार नवजात शिशु की भांति जन्मता है। श्रीमद्भागवत कथा में शुकदेव ही पूर्ण समर्पण भक्ति का स्वरूप है। शुकदेव 16 वर्ष माता के गर्भ में रहता है अर्थात् भक्ति रूपी विचार जब सोलह वर्ष सत्संग के गर्भ में रहता है, तब कहीं उसका जन्म होता है। भगवान श्रीकृष्ण की बाल लीलाओं के रूप में मेरी बाल्यावस्था को प्राप्त समर्पित भक्ति के भोले रूप को तुम कृष्ण भक्ति के रूप में दिखा रहे हो। शुकदेव पूर्ण समर्पित भक्ति का स्वरूप है। वे सोलह साल तक भक्ति रूपी माता के गर्भ में रहते हैं। उसके उपरान्त ही उनका पूर्ण समर्पित भक्ति के रूप में जन्म होता है। ''शुक'' शब्द का अर्थ होता है ''तोता'' अर्थात् सोलह वर्ष तक निरन्तर प्रभु को तोते की भांति भजता रहूँ। हरि नाम के संकीर्तन को तोते की तरह रटता रहूँ, तभी मेरा जन्म तुम्हारे पुत्र शुकदेव के रूप में होगा!

बाल कन्हैया की लीलाओं पर सारा गाँव मुग्ध है। उनकी माखन चोरी की लीला, आइने में अपने ही रूप को देखकर उसे माखन खिलाना। मैया से चाँद को पाने

के लिए हठ करना। आदि मनोहारी लीलाओं से गोप और गोपियाँ धन्य हैं। यशोदा जी के सुख का कहना ही क्या। बाल कन्हैया तीन वर्ष और कुछ महीनों के हैं। माखन और मिश्री के लोभ में गोपियां उन्हें नचाती हैं तथा सचराचर के स्वामी माखन और मिश्री के लोभ में उनके सामने नाचते हैं। बाल लीलाओं के अमृतमय क्षण!

एक नयी नवयौवना, गाँव में आयी है। वृषभानु गोप की बेटी, नाम है राधिका। सर्वांग सुन्दर शरीर, चंचल, हंसमुख, नवयौवना गाँव की गोपियों के मन भा गयी हैं। बाल कन्हैया और राधिका, गोपियों के आकर्षण का केन्द्र है। पहले ही दिन राधा जब गाँव में निकली तो एक नन्हें सुकुमार ने उसका आंचल पकड़ लिया। घूमकर देखा, नन्हा सा सुन्दर सलोना सुकुमार! मोतियों से सजी मनोहर केश राशि! मोर पंख का मुकुट! छोटी सी चाँदी की बांसुरी, कमर में बंधी हुई! एक मुट्ठी कमर पर रखे दूसरे हाथ से राधिका जी के आंचल को पकड़े हुए हैं। उसके विशाल नेत्रों में राधा जी जैसे खो गयी हों।

''तुम मुझे बहुत अच्छी लगती हो क्या नाम है तुम्हारा?'' नन्हें कन्हैया ने पूछा,

''राधिका!''

''तुम मुझे बहुत अच्छी लगती हो, मेरी बनोगी?''

''हाँ कान्हा मैं तेरी ही हूँ!'' राधिका ने कहा और नन्हे सुकुमार को अपने सीने में भींच लिया। छोटा सा सपनों का जादूगर बाल-कन्हैया। ''मेरे साथ खेलोगी तुम?'' कन्हैया ने पूछा।

''हां कान्हा मैं सदा खेलूंगी तेरे साथ!'' राधा ने उत्तर दिया।

''तो सुनो जब मैं बांसुरी बजाऊँ तो समझ लेना मेरा खेलने का मन हो रहा है। तुरन्त चली आना, नहीं तो बहुत उदास हो जाऊँगा।''

बस इतना सा आदेश देकर नन्हा सा वह जादूगर चला गया। राधा न जाने कितनी देर वहीं पर खड़ी, उसी के विचारों में खोई, प्रथम मिलन के उन क्षणों को चूमती रही थी, राधे और कृष्ण की जोड़ी बनी। वृज का रस बन गयी! ये मनोहारी जोड़ी, छोटे से कन्हैया को अंक में भरे सारे गांव घुमाती राधिका और उसकी गोद में बैठे नन्हे प्रेमी, बाल कन्हैया! एक दृश्य का अवलोकन करें :-

राधिका जी का घर है। बाल कन्हैया डरे से बैठे हैं। बहुत सहमे हुए हैं! राधा जी कन्हैया को डांट भी रही हैं और सजा संवार भी रही हैं और कहती भी जा रही हैं।

''चोर कहीं का! आज तुझे बेचकर सारा घाटा वसूल करूँगी! जितना माखन तूने चुराकर खाया है और जितना अपने छोरों को खिलाया है, उसके पूरे दाम वसूलूंगी!''

राधा जी नन्हें कन्हैया को डांट भी रही हैं और साज संवार करने में भी लगी हैं। राधा के पिता तथा पति दोनों इस मनोहारी लीला का आनन्द ले रहे हैं और राधा को समझा भी रहे हैं कि क्यों बालक को भयभीत कर रही हो। बाल कन्हैया कह रहे हैं।

''देखो राधा मैंने माखन नहीं खाया है, तूने खुद ही मेरे मुँह में लगाया है। ऊपर से मुझे चोर भी बताती हो।''

''चल झूठे कहीं के, कल भी तू छोकरों के साथ सारा माखन चोरी करके खा गया था। मैं अब तुझे बेचकर ही दाम वसूलूंगी।'' राधा जी उसे डांटती हुई कहती हैं।

''जब तुम मुझे बेचना ही चाहती हो, तो साज संवार क्यों रही हो?'' बाल कन्हैया सहमते हुए पूछते हैं।

''अरे! इसलिए सजा रही हूँ कि जिससे दाम ज्यादा मिलें।'' राधा जी कन्हैया को सजाते हुए कहती हैं।

सुन राधा मुझे बेच मत? ''कन्हैया रूआंसे होकर विनय करते हैं।''

''क्यों न बेचूँ तुझे?'' राधा जी घूरते हुई हंसती हैं और पूछती हैं।

''मुझे कोई खरीदकर दूर ले गया तो फिर तू कहां मिलेगी?'' रूआंसे होकर कन्हैया कहते हैं।

''ले जाए कोई! मेरी बला से।'' राधा जी उत्तर देती हैं। राधा जी के पिता और पति उनकी इस ठिठोली का आनन्द भी लेते हैं और राधा जी को समझाते हैं और कहते हैं कि बालक को परेशान न करो। लेकिन राधा जी हैं कि मानती ही नहीं हैं। कन्हैया को डांट भी रही हैं तथा सजाती भी जा रही हैं।

''सुन राधा तू मुझे बेच मत। अपने यहाँ नौकर रख ले मुझे! सेवा करके तेरा सारा घाटा पूरा कर दूंगा!'' बाल कन्हैया विनती करते हैं।

''तुझको अपनी सेवा में रख लूँ? चोर को? न बाबा न! तुझे बेचकर ही दाम वसूलूंगी!''

कृष्ण को सजाकर गोद में उठाए, राधा जी गांव में पुकारती घूम रही हैं, ''एक माखन चोर बिकाऊ है! जिसे खरीदना हो, बोली लगाओ! चोर खरीदो चोर!''

राधा जी गलियों में पुकार लगाती घूम रही हैं। गोप और गोपियाँ उनकी लीला का आनन्द ले रहे हैं। भीड़ के साथ राधा जी कन्हैया को बेचने की आवाज लगाती हुई नन्द के यहाँ आती हैं। आवाज सुनकर यशोदा जी बाहर आती हैं!

''राधा! ये क्या कर रही हो, छोड़ो मेरे लाल को!''

''न री यशोदा मैया! आज ये तेरा लाल मेरा चोर है। ऐसे न छोड़ूँगी! इसे लेना

हो तो कीमत लगाकर खरीद लो। मैं तो बेच ही रही हूँ इसे!''

सब गोप और गोपियां हंस रही हैं। बेचारे नन्हें कन्हैया डर से सहमें हुए हैं। पता नहीं राधा किसको बेच देगी । नन्द बाबा हंसते हुए कहते हैं!

''ला मेरे को बेच दे?'' नन्द कहते हैं।

''पहले दाम लगाओ?''

''चार गाय दूंगा!'' नन्द बाबा हंसते हुए कहते हैं।

''चार गाय में तो मोतियों की लड़ी का एक मोती भी न आएगा। इतने में तो इसका मोर पंख भी न मिलेगा, नंदबाबा! इतना सस्ता नहीं है ये चोर, कुछ दाम और बढ़ाओ।''

राधा जी ठुमकती हुई कहती हैं।

नंदबाबा दाम बढ़ाते जा रहे हैं। परन्तु, राधिका जी उसे बहुत कम बतलाती हैं। नंदबाबा ने अपनी सारी गायें, नन्द महल और सब कुछ दाम पर लगा दिया है। राधिका जी उसे बहुत थोड़ा बता रही हैं। नन्दबाबा अपने तथा यशोदा जी के वस्त्र-आभूषण भी दाम के रूप में लगा देते हैं। ''इतने में तो लाला की बांसुरी भी न मिलेगी। बड़े कंजूस हैं आप नन्दबाबा ठीक से दाम लगाओ।'' राधा जी कहती हैं। गांव के सभी गोप-गोपियां अपनी गौवों को भी नन्द के साथ दाम पर लगा देती हैं। राधा उस मूल्य को भी बहुत कम बतलाती हैं।

''इतने कम मूल्य पर तो ये चोर बिकेगा नहीं!'' राधा जी उत्तर देती हैं।

''तब तू ही बता कि इस चोर की कीमत क्या है?'' हँसते हुए नन्दबाबा पूछते हैं!

''तब सुनो नन्दबाबा! इस चोर की कीमत है कि हम सब इसको बिक जायें! अपना सर्वस्व इस पर न्यौछावर कर दें! जीवन के हर क्षण को इसे समर्पित कर दो। ये सब मोल पर लगाओ तभी ये चोर बिकेगा!'' राधा जी उत्तर देती हैं।

चोर तो खरीदना ही है। नन्द बिकते हैं! यशोदा बिकती हैं! सब गोप-गोपियां बिकती हैं! राधाजी वृषभानु सब बिक जाते हैं! तब राधा जी कहती हैं कि अब कृष्ण का मूल्य लग गया है। ''अब दाम लग गये हैं, हम लोगों ने मिलकर इस चोर को खरीद लिया है। आज से हम सब इस पर न्यौछावर होते हैं और इस कीमत से चोर को खरीदते हैं।'' राधा जी ब्रज की आत्मा हैं! वे सबको समझाती हैं। ईश्वर तो सबमें हैं। हर ओर है! जिस रूप में भक्त भावना करता है, प्रभु उसी रूप में प्रकट हो जाते हैं। आओ आज हम सब बाल-कन्हैया के इस स्वरूप के साथ बिक जाएं। हम सब इस रूप में ही सचराचर के स्वामी का दर्शन करें। आज से हमारा

बाल-कन्हैया ही परम् ब्रह्म है। हम सब संकल्प पूर्वक उसी के होकर ही जियें! उसी में बसकर जियें! जीवन के प्रत्येक क्षण में उसी को बसाये रहें। सारा गांव राधा जी के शब्दों को ध्यान से सुनता है। वेद, वेदांगों का भी जो गूढ़ रहस्य है। राधा जी बड़ी ही सरल भाषा में गाँव के अनपढ़ लोगों को पढ़ा देती हैं। यूँ बिकते हैं माखन चोर! अपने को बेचकर सारा गाँव! बसा लेता है राधे और गोविन्द की जोड़ी को, "हे राधे! तुमने हमें दिखाया है कृष्ण! तूने ही बोली लगाई तथा उसको बेचकर ही सब अपने आप को अकेले माखन चोर ही नहीं उसको बेचने वाली को भी खरीद लेते हैं। राधा जी और गोविन्द की जोड़ी, हम सदा अपने मन में बसायेंगे। प्रत्येक क्षण इस जोड़ी को समर्पित होकर जियेंगे। कृष्ण के रूप में परमेश्वर का दर्शन कराने वाली तो तू है। तू हम सब की गुरू है। हम गोविन्द के साथ तेरी भक्ति करेंगे।" आत्म विभोर होकर नन्दबाबा कहते हैं।

राधे और गोविन्द की जोड़ी प्रत्येक गोप और गोपी के हृदय में विराज जाती है। दुःख, पीड़ा, व्यथा और अभाव में टूटते जीवन के क्षण, राधा और गोविन्द की मोहक जोड़ी धारण कर अमृतमय हो उठे। अब तो जो कुछ करना है, इस सुन्दर जोड़ी के लिए ही करना है! यही सब के मन में है जो कुछ भी है वह सब इस सुन्दर जोड़ी का है! हम सब तो इस जोड़ी के निमित्त सेवक हैं। हमें सेवा से मतलब! अच्छा बुरा सब, राधे-गोविन्द जाने! सभी के जीवन में निमित्त भाव का अमृतमय रस बस गया है। हर क्षण निश्चिन्तता का है, उन्मुक्तता का है। समर्पण का है। हर ओर अमृत बरस रहा है! गोधन, राधे-गोविन्द का है! खेत-खलिहान राधे-गोविन्द के हैं। प्रत्येक शरीर भी राधे-गोविन्द के हैं। हम तो बस राधे-गोविन्द के हैं! हमारे सुख, दुःख सब राधे-गोविन्द के हैं! हमने तो सब कुछ न्यौछावर करके, स्वयं को बेचकर, राधे-गोविन्द खरीदे हैं! राधे-गोविन्द बसाएं हैं। अब न कोई चिन्ता है न भय है! हमारे हर ओर अमृत बरस रहा है!

वेदव्यास! राधे और गोविन्द की जोड़ी में तूने सम्पूर्ण वेदों को सुन्दर मनोरम सरस बनाकर उतार दिया है। एक ऐसे सुखद भाव को दिया है, जो प्रत्येक भक्त को भगवान से मिला दे! भगवान बना दे!

हरि ॐ! नारायण हरि!!

15

वत्सासुर एवं बकासुर वध

गोकुल उस दिन उदास हो गया! नन्दबाबा अपने सभी साथियों के साथ श्रीकृष्ण और श्री बलराम को लेकर वृन्दावन की ओर चल दिये। गोकुल अनाथ हो गया। कंस के असुरों के बढ़ते प्रभाव के कारण नन्द जी को यह निर्णय लेना पड़ा। लीला नायक भगवान श्रीकृष्ण वृन्दावन पधार गये हैं। वन में सुन्दर गांव बस गया है। गोप और गोपियां, राधे और गोविन्द को मन में बसाये, राधे और गोविन्द के होकर, वृन्दावन में अपना स्थान बना रहे हैं। गोकुल छूटे! भले छूट जाये! राधे और गोविन्द एक क्षण भी दूर न हों।

वेदव्यास! तुम्हारी कथाओं का गोकुल ढूंढ़ लिया है मैंने! 'गो' अर्थात् इन्द्रियां तथा 'कुल' अर्थात् परिवार! इन्द्रियों के कुल में जब गोविन्द विराजें, तो सर्वांग सम्पूर्ण गोकुल हो जाये। इन्द्रियां ग ोकुल बनें प्रत्येक इन्द्रिय में राधे-गोविन्द की मनोहारी छवि विराजे! रोम-रोम गोपाल की ज्योतियों से नहा उठे! श्री राधा भी गोविन्द की ज्योतियों से अलग कहां हैं? राधा शब्द का अर्थ है 'ज्योति' 'राध' माने 'ज्योति' तथा राधा माने ज्योर्तिमय श्री राधा जी वृषभानु दुलारी हैं। 'वृष' राशि में भानू अर्थात सूर्य कब आते हैं? बारह राशियां हैं यथा- मेष, वृष, मिथुन आदि। वृषभानु में दो शब्द हैं। 'वृष' तथा 'भानु'! 'वृष' राशि में भानु अर्थात् सूरज, ज्येष्ठ, आषाढ़ माह में रहते हैं। अर्थात् ज्येष्ठ आषाढ़ की तपती दुपहरियों की भांति तपते तपस्वियों का तप ही तो श्री राधा है। इस प्रकार वृषभानु दुलारी श्री राधा जी आत्म ज्योतियों में तपते हुए तपस्वियों की ज्योर्तिमय तपस्या हैं।

"बिनु राधे, गोविन्द आधे!"

जब इन्द्रियाँ बने गोकुल तो स्वतः ही विचार वृन्दावन बन जाते हैं। 'वृन्दा' तुलसी जी का एक नाम है तथा 'वृन्द' शब्द का अर्थ झुण्ड और समूह भी होता है। 'वन' माने 'जंगल'। जब शरीर सर्वांग गोकुल हो जाए। सम्पूर्ण इन्द्रियां, राधे-गोविन्द हो जाए, तो विचारों के समूहों में मनोहारिणी भक्ति का अमृत विराजने लगता है। मेरे विचार वृन्दावन हो उठते हैं। विचारों में कृष्ण, राधे गोविन्द की मुस्कराती, मनोहारी छवि, प्यारी युगल जोड़ी? विचारों में गूँजती मधुर मुरली का अनहद नाद! स्मृतियों में उभरती मोहक लीलायें! परमानन्द और रोम-रोम पुलकायमान होने के सारे क्षण । देह बनी गोकुल, विचार हो गये वृन्दावन! एक अत्यधिक सुघड़ कलात्मक जीवन!

विचारों के इन झूमते हुए वनों में भी कंस के असुर उत्पात कर सकते हैं? अगली लीलाओं में भगवान ही उन्हीं असुर विचारों की ओर संकेत करते हैं। हमें यह भी न भूलना चाहिए कि असुर जन्मते ही विकराल होते हैं। हमारे गन्दे विचार जन्मते ही भयंकर और विकराल हो उठते हैं। असुर रूपी विचार हमारी सारी उपलब्धियों का विनाश करते हैं और हमारे सुख को भी मिटा देते हैं। भगवान गोविन्द! वन में गौवों को चराते हैं! हमारे विचार ही गौवें हैं, जो कल्पनाओं के जंगल में चरा करते हैं। असावधानी के क्षणों में असुर इन पर आक्रमण कर सकते हैं।

कंस को कृष्ण से भय है। उसके गुप्तचरों ने उसे सूचना दी कि नन्द गोकुल को छोड़कर चले गये हैं। नन्द के साथ सभी लोग जा चुके हैं। गोकुल वीरान्, जन विहीन हो गया है। कंस उद्विग्न हो उठा है! उसका काल श्रीकृष्ण भी नन्द के साथ लोप हो गया है। कंस उनका बाल भी बांका नहीं कर पाया है। कंस वत्सासुर को बुलाता है। वत्सासुर से कहता है कि वह शीघ्रता से पता लगाए कि कृष्ण कहां है तथा कृष्ण को किसी भी प्रकार से समाप्त कर दें।

वत्सासुर महा मायावी असुर है। पूतना और तृष्णावर्त की तरह ही वह भी अदृश्य होने, रूप बदलने तथा मन की गति से चलने में समर्थ है। वत्सासुर कृष्ण की शक्ति से परिचित भी है। वह जानता है कि कृष्ण ने तृष्णावर्त और पूतना को एक क्षण में ही मारकर धराशाई कर दिया है। कृष्ण की विभूतियों को भी वह सुनता रहा है। गोकुल में भगवान श्रीकृष्ण ने कुबेर के दोनों अभिशप्त पुत्रों का उद्धार किया था। कुबेर के दो बेटे नलकूवर तथा मणिग्रीव हैं जो अभिशप्त होकर यमलार्जुन रूपी दो पेड़ों के रूप में खड़े हैं। भगवान ने अभिशप्त यमलार्जुन के रूप में खड़े कुबेर के दोनों पुत्रों का उद्धार किया था। ये सब बातें भी वत्सासुर को मालूम हैं। इसलिए वह भगवान श्रीकृष्ण से भयभीत भी है। उनसे सीधा लड़ने का साहस भी उसमें नहीं

है। वत्सासुर कृष्ण की खोज में चल देता है।

वृन्दावन में भगवान श्रीकृष्ण, श्री बलराम जी तथा अन्य ग्वाल-बाल गौवें चरा रहे हैं। उनको खोजता हुआ वत्सासुर भी वहीं पहुँच जाता है। वत्सासुर कृष्ण को मारने के लिए बछड़े का रूप धारण करता है। वह बाकी बछड़ों के साथ मिलकर चरने लगता है। वह अवसर की तलाश में बछड़ा बन चर रहा है, कि किसी प्रकार मौका पाकर अपने सींगों और पैरों से वह श्रीकृष्ण को कुचल सके। सब बालक खेल रहे हैं। कृष्ण आँखें मूंदते हैं, बाकी बालक छिप जाते हैं। कन्हैया को, सबको ढूंढना है। बाकी बालक दूर-दूर जाकर छिप गये हैं। ऐसे समय में श्री कृष्ण अकेले बालकों को खोज रहे हैं। वत्सासुर उचित समय जानकर भगवान श्री कृष्ण पर आक्रमण करता है। श्रीकृष्ण उसकी मंशा को भांप लेते हैं, और उसे सींगों से पकड़कर दूर फेंक देते हैं। वत्सासुर पुनः उठकर आक्रमण करता है। भगवान श्रीकृष्ण तेजी से घुमाकर उसे पूंछ से पकड़कर पिछले पैरों के साथ हवा में उछालकर चट्टानों पर पटककर मार देते हैं। वत्सासुर मारा जाता है।

हे रहस्य-लीलाओं के जादूगर! वेदव्यास! वत्सासुर के रूप में, तुम मुझको मेरी संकीर्ण लिप्सा वृत्ति ही दिखला रहे हैं। 'मैं और मेरी के लिए, संकीर्ण होकर जीने की वृत्ति ही वत्सासुर है। 'वत्स' माने होता है 'बेटा' तथा असुर माने देवत्व से हीन विचार, गन्दा विचार। आज हमारा सारा समाज इस वत्सासुर वृत्ति से ग्रसित है। अपनी औलाद के लिए सारे समाज को नोच डालना चाहता हूँ। अपनी औलाद के लिए मैं पूजा, पाठ और भक्ति को छोड़ सकता हूँ। अपनी संतान के लिए मैं ईश्वरद्रोही भी हो सकता हूँ। वत्सासुर ही मेरा सब कुछ है। वत्सासुर के लिए मैं कृष्ण से भी दुश्मनी कर सकता हूँ। वत्सासुर आज सारे समाज को खाये जा रहा है। हम सबको अपना ही दुश्मन बनाये जा रहा है। इस वत्सासुर के कारण बारम्बार कृष्ण भक्त से कृष्ण द्रोही बन जाते हैं। न जाने कितनी बार औलाद की खातिर जीवन के स्वर्ण को गंवाकर, देवयान खोकर, चिता की लकड़ियों पर हम अपनी औलादों के द्वारा जलाये जाते हैं। हर बार हम आत्म द्रोही बनते हैं। कृष्ण की राह से भटक जाते हैं! काश! हम भी भगवान श्रीकृष्ण की भांति अपने भीतर छिपे वत्सासुर रूपी संकीर्ण विचार को पूरी तरह से मिटा पाये होते, विचार रूपी वृन्दावन फिर कभी भी न उजड़ता। विचार राधे-गोविन्द का संग करते। हर क्षण सुखमय होता!

वत्सासुर की मृत्यु की सूचना कंस तक आयी है। कंस तड़प उठा है। दूसरे मायावी बकासुर को बुलाता है। कंस बकासुर को बुलाकर कहता है कि वह शीघ्र वृन्दावन जाए। श्रीकृष्ण को जैसे भी हो मार डाले। साथ ही कंस बकासुर को सचेत

भी करता है, कि श्रीकृष्ण ने वत्सासुर को मार डाला है। वत्सासुर की मृत्यु की बात सुनकर असुर बकासुर क्रोध में उन्मत्त हो उठता है! कंस से आज्ञा लेकर बकासुर वृन्दावन की ओर चल देता है।

वृन्दावन का मनोहारी दृश्य है! गौवें चर रही हैं। बछड़े खेल रहे हैं! ग्वाल-बाल गौवों को चराते हुए नाना प्रकार के खेल और कौतुक कर रहे हैं। प्रकृति की मनोरम छटा है! खेल समाप्त करके सब लोग गौवों को और बछड़ों को इकट्ठा करते हैं! पानी पिलाने के लिए यमुना की ओर चल देते हैं। यमुना के किनारे आकर गौवें, बालक और बछड़े पानी पीने लगते हैं। श्रीकृष्ण की दृष्टि थोड़ी दूर पर बैठे पर्वताकार पक्षी पर पड़ती है! सारे ग्वाल-बाल आश्चर्य से उसको देखने लगते हैं। एक बहुत बड़ा बगुला है। पर्वताकार कायाधारी उस बगुले को देखने के लिए बालक आगे बढ़ते हैं। भगवान श्रीकृष्ण जान-बूझकर सबसे आगे हो लेते हैं। जब भगवान बगुले के पास पहुँचते हैं तो वह बगुला अपनी विशालकाय चोंच में श्रीकृष्ण को पकड़कर निगल जाता है! सारे ग्वाल-बाल स्तब्ध रह जाते हैं! भय के कारण उनके शरीर कांपने लगते हैं। बगुले के शरीर में पहुँचकर श्रीकृष्ण अपने रूप को बढ़ाने लगते हैं तथा शरीर को अग्निमय बना देते हैं। उनके शरीर की अग्नि को न सह सकने के कारण बगुला वेषधारी बकासुर उन्हें बाहर उगल देता है। कृष्ण धरती पर आ गिरते हैं। बकासुर, श्रीकृष्ण पर अपनी चोंच से प्रहार करता है। भगवान श्रीकृष्ण उसकी चोंच पकड़कर उसको चीर डालते हैं। बकासुर दो टुकड़ों में विभक्त होकर मर जाता है।

''बक'' शब्द का अर्थ है बगुला! बकासुर ने बगुले का ही रूप धारण किया हुआ है। ''बक'' शब्द का दूसरा शब्दकोष अर्थ है छल, कपट, दम्भ और ढोंग। बकासुर शब्द का अर्थ हुआ छल, कपट, दम्भ और ढोंग रूपी बगुला भक्ति वाले विचार हमें कभी ईश्वर तक नहीं ले जाते हैं। हमें ईश्वर द्रोही बना देते हैं। भगवान अपनी लीला में हमें यही दिखला रहे हैं कि बकासुर, श्रीकृष्ण का शत्रु है। अब निर्णय करें कि हम बकासुर के पक्ष के होकर जीना चाहते हैं अथवा भगवान श्रीकृष्ण के! ये नहीं हो सकता कि हम कुछ समय कृष्ण भक्त रहें तथा बाकी समय बकासुर बनकर रहें। दोनों ही विचार एक दूसरे के विपरीत हैं। दोनों विचार एक दूसरे के मारक हैं। ईश्वर भक्ति रूपी विचार भगवान श्रीकृष्ण हैं। छल, कपट, दम्भ और ढोंग बकासुर रूपी ये विचार गन्दी सांसारिकता है। दोनों पर एक साथ नहीं जिया जा सकता। यदि हमें कृष्ण के होकर जीना है, तो पूरी ईमानदारी से हम भी कृष्ण की भांति ही बकासुर रूपी विचार को अपने जीवन से मिटाना होगा। बकासुर वृन्दावन का विनाश है। हम बकासुर को मिटाकर कृष्ण भक्ति रूपी विचारों के वृन्दावन की

रक्षा पूरी सावधानी से करें!

आज सम्पूर्ण मानव चेतना वत्सासुर संस्कृति की बन्धुआ भर बनकर रह गयी है। मैं और मेरों के संकीर्ण हितों तक सीमित हो गयी मानव सोच कब तक सर्वहित जैसे बेमतलब वादों को सड़े मुखौटों के रूप में टांग पायेगी? वत्सासुर को व्यवहारिक रूप से जीने के लिये बकासुर की शरणागति भक्ति परमावश्यक है। छल, कपट, दम्भ और ढोंग तो जीवन की परम उपलब्धियां बन गयी हैं। वेदव्यास! अब किसी भी घटना पर आश्चर्य नहीं होता है। इस देश के प्रधानमन्त्री को भी राष्ट्रहित का होने से पूर्व स्वहित, स्वजनहित, गुटहित तथा पार्टीहित से दो चार होना पड़ता है। पहले वत्सासुर को पूरी खुराक मिले, उसके उपरान्त बकासुर सम्पूर्णता से तृप्त हो, तब कहीं राष्ट्र के विषय में चिन्तन का श्रीगणेश हो।

जब-जब कोई राष्ट्रीय नेता, प्रधानमन्त्री, मुख्यमन्त्री देश से भ्रष्टाचार को मिटाने की प्रतिज्ञा करता है तो अब आश्चर्य नहीं होता है। भला कोई सेतमेत में आत्महत्या थोड़े ही करेगा? जिस देश में थाने भी हर साल नीलाम होते हों, ऊँचे बोली लगाने वाले के नाम लिखे जाते हों, वहां भला भ्रष्टाचार का क्या काम? कानून, व्यवस्था और न्याय का ऐसा उत्तम स्वरूप और कहां मिलेगा?

उस दिन पुलिस विभाग के एक उच्चस्थ पदाधिकारी अनायास ही आत्म व्यथा से फट पड़े, "बाबा! अब तो मन करता है, कमरा बन्द करके, अपने सर्विस रिवाल्वर से खुद को गोली मार लें। कल तक जो हमें माहवारी देते थे, आज वही मन्त्री बनकर हमसे हफ्तावारी वसूल रहे हैं!" **वृत्सासुर बकासुर की जय!!**

अब कोई देवकी, कोई यशोदा क्यों चाहेगी कृष्ण को जन्मना, पालना? वेदव्यास हम कहां आ गये हैं? क्या लौट पायेंगे कभी? कंस और उसके मायावी असुर, यूँ, कब तक जीये जायेंगे? इस अन्धी अन्धेरी भयानक रात की कोई सुबह तो होगी?

हरि ॐ! नरायण हरि!!

16

अघासुर वध

भौतिकताओं के निर्धन, निर्धनता में भी सुख से जी लेते हैं। परन्तु विचारों के निर्धन कभी सुख से नहीं रह सकते।

वेदव्यास! तुम्हारी लीला हमें विचारों का महाधनी बनाती है। असुर विचार ही हमारी निर्धनता है। दुख, पीड़ा, व्याधि और अभाव में नष्ट हो रही जिन्दगी का प्रतीक हैं। सुर विचार मेरा महाधन है। सुखद्, वरद्, कलात्मक और सुघड़ जीवन का प्रतीक हैं। श्री राधा-गोविन्द की नयनाभिराम जोड़ी को पाकर व्रज भूमि धन्य हो गयी है। श्री राधा सबकी परम् गुरू हैं। श्री कृष्ण सबके आराध्य हैं। गोप और गोपियों का अभावपूर्ण जीवन भी सुखद् और वरद् हो रहा है। परमेश्वर सबमें वास करते हैं। बाल-कन्हैया ही हमारे परमेश्वर हैं। मन में बाल-कन्हैया की सुन्दर मुखाकृति बिठाये, सब कुछ उसको समर्पित करके, जीने का सुख ही कुछ और है। मन में गोविन्द को बसाये, राधा ही उनकी राह की परम गुरू हैं। पथ प्रदर्शक हैं।

बकासुर की मृत्यु की सूचना ने कंस और उसकी मण्डली को हिलाकर रख दिया है। सबके मन में श्रीकृष्ण का भय गहराइयों तक बैठ गया है। कंस, अघासुर को बुलाता है। अधासुर, पूतना आदि का भाई है। कंस उसको श्रीकृष्ण की हत्या के लिए भेजता है। अघासुर जो कि एक भयंकर मायावी असुर है। श्रीकृष्ण को मारने के लिए वृन्दावन की ओर चल देता है।

ग्वाल-बाल वृन्दावन में गौवें चरा रहे हैं, तथा श्रीकृष्ण के साथ खेल रहे हैं। वनप्रदेश, सुन्दर सुरम्य वातावरण से सुशोभित हैं। भगवान श्रीकृष्ण तथा बलराम

का सामीप्य और सानिध्य पाकर सारे देवता, ग्वालों और गौवों आदि का रूप धरे, भगवान के संग लीला का आनन्द ले रहे हैं। ऐसे समय में अघासुर आता है वहां पर। माया के द्वारा वह एक अति विशालकाय अजगर का रूप धारण कर लेट जाता है। उसने पर्वताकार रूप धारण किया हुआ है। उसका खुला हुआ मुँह एक गुफा के समान दिख रहा है। लम्बी लाल जीभ सड़क के सदृश्य दिखाई पड़ती है।

खेलते हुए ग्वाल-बाल जब अघासुर के समीप आते हैं, तो चकित रह जाते हैं। वे उसको ऊपर, नीचे हर तरफ से देखते हैं। परन्तु समझ नहीं पाते हैं। खेल-खेल में बालक उसके मुँह में प्रवेश कर जाते हैं। उसके पेट में जाकर सभी बालक मूर्छित होकर गिर पड़ते हैं। मरणासन्न हो जाते हैं। भगवान श्रीकृष्ण दूर से यह सब देख रहे होते हैं।

बालकों को सचेत करने के लिए वे शीघ्रता से आते हैं परन्तु तब तक बालक अजगर बने अघासुर के मुंह में प्रवेश कर मृत्योन्मुख हो चुके होते हैं। गोविन्द उनकी रक्षा के लिए स्वयं अघासुर के मुंह में प्रवेश कर जाते हैं। अघासुर को भगवान श्रीकृष्ण मार डालते हैं। ग्वाल-बाल तथा गौवों को पुनः जीवन प्रदान करते हैं।

अघासुर? अघ+असुर। **'अघ' माने अज्ञान, पाप, अंधकार और विष। 'असुर' माने जो सुरत्व अर्थात् देवत्व से रहित है। मेरा असत्य और अज्ञान रूपी गंदा विचार ही तो अघासुर है।** मोहान्ध मन कंस; स्वामित्व की संकीर्णता "अस्ति" तथा अधिक पाने की लिप्सा "प्राप्ति" है। मोहान्ध मन, संकीर्णताओं और लिप्साओं से उभरते नाना गन्दे विचार नाना असुर! अघासुर मेरे जीवन का सर्वनाश हैं। अघासुर जब तक मरेगा नहीं, कृष्ण भक्ति रूपी बाल सुलभ विचार सदा भयभीत और आतंकित रहेगा। असत्य, अज्ञान, पाप, अंधकार तथा इन्द्रियों के विषय रूपी विष, एक गहरी विषाक्त गुफा के समान हैं। जो व्यक्ति गलती से भी इस गुफा में प्रवेश करते हैं। वे लोग सदा-सदा के लिए भटक जाते हैं। दुर्व्यसन, लिप्साओं और वासनाओं से जब मनुष्य लिप्त हो जाता है, या पकड़ा जाता है तो व्यक्ति उनसे छूटने के बजाय, उनमें और अधिक लिप्त होता चला जाता है। इसी को रहस्य-लीला में भगवान वेदव्यास, गुरूकुल में छात्रों को दिखा रहे हैं।

असुर मर रहे हैं। कंस भयभीत है। वृन्दावन में आनन्द विराज रहा है। गोप-गोपियों के सुख का ठिकाना क्या! सब कृष्ण के दीवाने हो रहे हैं। गोपियां कन्हैया के पीछे ही बावली सी घूमती ही रहती हैं। उन्हें अपने काम की भी सुधि नहीं रहती है। घर के बड़े-बूढ़ों को क्या कहें, उन्हें अपने बच्चों की भी सुधि नहीं रहती है। वे सब की सब, गोपाल के लिए ही तड़पती रहती हैं। श्रीकृष्ण की मुरली की तान पर ही मदहोश, झूमती, नाचती रहती हैं। यहीं हाल गौवों और ग्वाल-बालों

का है। गोप-गोपियों का क्या कहें। गौवों की भी यही स्थिति है। गौवें भी अपने बछड़ों को भूल जाती हैं। अपने बछड़ों की उपेक्षा कर बैठती हैं। कृष्ण की मुरली की तान पर वे सब बेसुध हो जाती हैं। उन्हें चारा खाने की भी सुधि नहीं रहती है। नन्द और यशोदा की अवस्था भी सब लोगों जैसी ही है। विचित्र नशा सा सब पर छाता जा रहा है। उठते-बैठते, सोते-जागते सब बस एक गोविन्द की ही छवि में बसे हैं। उनके रूप, रस, रंग का नशा है! संसार भूल गया है! परिवार और संसार के कार्य और सुधि भूल गये हैं। सबके सब कार्यों से विमुख होकर एक कृष्ण में ही समाधिस्थ होते चले जा रहे हैं।

क्या ये सब गोविन्द को अच्छा लगता है? कर्म और भक्ति में कौन श्रेष्ठ है? भक्ति का सत्य स्वरूप क्या है?

हरि ॐ! नारायण हरि!!

17

ब्रह्मा जी की लीला

अघासुर को मारकर भगवान श्रीकृष्ण ने बालकों को पुनः सचेत किया है। मरे हुए अघासुर को देखकर बालक बड़े प्रसन्न हो उठते हैं। जब उन्हें पता चलता है कि वे लोग अघासुर नामक अजगर के मुँह में चले गये थे तथा श्रीकृष्ण ने ही उसको मारकर, उन्हें बचाया है तो वे बड़े प्रसन्न होते हैं और भगवान की स्तुति करते हैं। कन्हैया उनसे कहते हैं कि चलो नदी के तट पर भोजन करेंगे। वह सब प्रसन्नता पूर्वक नदी के तट पर भोजन के लिए आते हैं।

नदी के तट पर बाल कन्हैया तथा सभी ग्वाल-बाल बैठकर भोजन कर रहे हैं। श्रीबलराम जी उनके साथ नहीं हैं। वे नन्दवाबा के साथ किसी कार्यवश अन्यत्र गये हुए हैं। सभी बालकों के साथ भगवान भोजन कर रहे हैं। सभी बैठे, मिल बांट कर भोजन कर रहे हैं तथा एक दूसरे को भोजन खिला रहे हैं। सब बड़े प्रसन्न हैं। जहां बालक बैठे हुए हैं, उनके एक ओर गौवें चर रही हैं तथा दूसरी ओर बछड़े चर रहे हैं। ऐसे ही समय में भगवान ब्रह्माजी वहाँ पधारते हैं। उनकी दृष्टि बाल कन्हैया पर पड़ती है तो उनके मन में संशय हो उठता है। ब्रह्मा जी सोचते हैं, ''भला ये बालक कैसे विष्णु का अवतार हो सकता है? यह तो सभी बालकों के हाथ से उनका जूठा भोजन खा रहा है। इसे पवित्रता का जरा भी ध्यान नहीं है। भला यह कहीं विष्णु का अवतार हो सकता है? चलो आज इसकी परीक्षा लेते हैं!'' ब्रह्मा जी मन ही मन ऐसा विचार कर बछड़ों का अपहरण कर लेते हैं।

श्रीकृष्ण ने देखा कि बछड़े दिखाई नहीं पड़ते हैं, तो उन्होंने सबसे कहा कि वे लोग भोजन करें। कृष्ण बछड़ों को खोजने जाते हैं जो सम्भवतः दूर निकल गये हैं।

भगवान श्रीकृष्ण भोजन को छोड़कर बछड़ों को ढूंढ़ने के लिए दूर निकल जाते हैं। दूर-दूर तक उन्हें कोई भी बछड़ा नहीं मिलता है। बछड़े मिलते भी कैसे? बछड़ों के समूह को तो ब्रह्मा जी चुराकर ले गये थे।

जब कृष्ण बछड़ों को खोज रहे थे। उसी समय ब्रह्माजी ने भोजन कर रहे बालकों का भी अपहरण कर लेते हैं।

जब बछड़े नहीं मिलते हैं तो भगवान लौटकर आते हैं। जब नदी के तट पर आते हैं तो उन्हें बालक भी नहीं दिखाई पड़ते हैं। गोविन्द जान जाते हैं कि ब्रह्मा जी ने ही जानबूझकर ऐसा किया है। वे ही बछड़ों को चुरा ले गये हैं। साथ में गोपियों के बच्चे भी उठा ले गये हैं। भगवान श्रीकृष्ण जरा भी विचलित नहीं होते हैं। गोविन्द एक आलौकिक लीला करते हैं।

"एकोऽहम् बहुस्याम!"

श्रीकृष्ण एक से अनेक हो उठते हैं। भगवान स्वयं, लुप्त हो गये प्रत्येक बछड़े के रूप में प्रकट हो जाते हैं। चोरी चले गये बालकों में से प्रत्येक बालक के रूप में भी वह प्रकट हो जाते हैं। उनके साथ में उनके बच्चे और साथ में सारे ग्वाल-बाल भी चल रहे हैं। गाँव में पहुँचकर गौवें बछड़े और बालक अपने-अपने घरों को चले जाते हैं। किसी को जरा भी संदेह नहीं होता है। परन्तु एक विचित्र लीला होने लगती है।

वे गोपियाँ जो गोविन्द के लिए सब कुछ छोड़कर बावली सी भटकती थीं। अपने बच्चों के साथ उपेक्षित व्यवहार करती थीं। आज न जाने क्यों उन्हें अपने बच्चों के साथ भी गोविन्द जैसा प्यार उमड़ आया हैं यही स्थिति गौवों की भी है। गौवें भी बछड़ों को ऐसा प्यार करती हैं जैसे वे गोविन्द को करती हैं। वे सब क्या जानें? कि बछड़ों और बालकों के रूप में आज स्वयं नारायण ही उनके आंगन में खेल रहे हैं।

इधर ब्रह्मा जी बछड़ों और बालकों को लेकर ब्रह्मलोक में आते हैं। थके होने के कारण एक पल के लिए उनके नेत्र बन्द हो जाते हैं। ब्रह्माजी का एक पल, पृथ्वी के एक वर्ष के बराबर होता है। एक पल आँख मूँदने के कारण धरती पर एक वर्ष बीत जाता है। तभी ब्रह्माजी को आभास होता है। उन्होंने बड़ा अनर्थ कर डाला है। कृष्ण, नारायण हैं तो भी तथा नहीं हैं तो भी, ब्रह्माजी ने तो गलती कर दी है। एक पल नेत्र मूंद जाने के कारण उन्होंने पूरे एक वर्ष बछड़ों और बच्चों को सशरीर ब्रह्मलोक में चुराकर रखा है। जो कि सर्वथा अनुचित है। ब्रह्मा जी शीघ्रता से बालकों और बछड़ों को लेकर मृत्यु लोक में आते हैं। जब ब्रह्मा जी वृन्दावन में आते हैं तो आश्चर्य चकित रह जाते हैं। ब्रह्मा जी देखते हैं कि गौवों के साथ उनके बछड़े भी

हैं, तथा कन्हैया के साथ वे ही बालक बैठे भोजन कर रहे हैं। ब्रह्मा जी को कुछ समझ में नहीं आता है। वे पुनः योग दृष्टि से देखते हैं तो प्रत्येक बालक और बछड़ों में उन्हें भगवान श्रीकृष्ण के ही दर्शन होते हैं। ब्रह्मा जी को अपनी भूल पर पश्चाताप होता है। वे कन्हैया से क्षमा, प्रार्थना करते हैं। गोविन्द की स्तुति करते हैं। बालकों और बछड़ों को श्रीकृष्ण को अर्पित करके ब्रह्मा जी मुदित मन से ब्रह्मलोक को लौट जाते हैं। असली बछड़ों और बालकों के आने पर महाविष्णु, भगवान श्रीकृष्ण लीला द्वारा प्रकट हुए अपने स्वरूपों को स्वयं में समा लेते हैं। ढलती साँझ के साथ लौटते हैं बछड़े, गौवों के साथ। उनके साथ ग्वाल-बाल और बालक घर आते हैं। अपने घरों में जब बालक अपनी माताओं को बताते हैं कि वे सब एक वर्ष ब्रह्मा जी के अतिथि रहे हैं तो वे सब हंसती हैं तथा कहती हैं,

''तुम सबका दिमाग तो नहीं खराब हो गया है? अभी सबेरे रोटी बाँधकर गौवें चराने गये थे, और हमें बता रहे हो कि एक साल तक ब्रह्मा जी के अतिथि रहे हो? तुम सब के सिर तो नहीं फिर गये हैं?''

सभी बालक हठपूर्वक उनसे कहते हैं कि वे एक साल तक ब्रह्मा जी के यहाँ ही रहे हैं। गोपियां परेशान हो जाती हैं। वे सब श्रीकृष्ण के पास जाती हैं और उनसे कहती हैं, ''कन्हैया इन बालकों को क्या हो गया है? सबेरे ये गौवें चराने गये थे। शाम को लौटे हैं तो अजीब-अजीब बातें कर रहे हैं। पता नहीं ये बता रहे हैं कि एक वर्ष ब्रह्मा जी के अतिथि रहे हैं। ये सब क्या है?''

''सब बालक सच कह रहे हैं! ब्रह्मा जी, इनका और बछड़ों का अपहरण करके ले गये थे। एक वर्ष तक बछड़े और बालक ब्रह्मलोक में ही रहे हैं। जब ब्रह्मा जी बालकों और बछड़ों का अपहरण करके ले गये थे। तब मैं ही बालकों और बछड़ों के रूप में तुम्हारे पास था।'' भगवान श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया।

''नारायण ब्रह्मा जी ने हमारे बच्चों और बछड़ों का अपहरण क्यों किया? क्या हम सब से कोई अपराध हो गया है?'' विनीत होकर गोपियां पूछती हैं।

''नहीं! ब्रह्मा जी तुमसे कुपित नहीं हैं! तुम लोगों ने ब्रह्मा जी के प्रति कोई अपराध नहीं किया है।'' गोविन्द उत्तर देते हैं।

''तब फिर ब्रह्माजी ने हमारे बालकों और बछड़ों का अपहरण क्यों किया?''

''मेरी इच्छा से! मैंने ही ब्रह्मा के मन में संदेह उत्पन्न किया था। जिससे उन्होंने बछड़ों और बालकों का अपहरण किया!''

भगवान श्री गोविन्द ने रहस्यमय मुस्कराहट के साथ उत्तर दिया।

''नारायण आप ने ब्रह्माजी के मन में संदेह क्यों उत्पन्न किया?'' गोपियां पूछती हैं। भगवान श्रीकृष्ण उनके प्रश्नों का उत्तर नहीं देते हैं। मौन खड़े मुस्कुराते रहते

हैं।

"इसका उत्तर मैं तुम सबको दूँगी!" श्रीराधाजी गोपियों से कहती हैं।

गोपियां राधिका से पूछती हैं, तो राधिका जी उन्हें बताती हैं,

"तुम सब गोविन्द की दीवानी हो। उनके प्यार में तुम अपने कर्तव्यों का निर्वाह नहीं करती हो। गोविन्द के प्रेम में तुम सब अपने परिवारजनों की तथा बच्चों की उपेक्षा करती हो। भगवान श्रीकृष्ण तुम्हारी इस भक्ति से प्रसन्न नहीं हैं। **गोविन्द तो घट-घट वासी हैं! भगवान उनकी ही भक्ति को स्वीकारते हैं, जो सबमें ईश्वर का आभास करे। जो सबमें गोविन्द को देखता है, वही सच्चा भक्त है। गोविन्द का अनन्य प्रेमी है! यदि गोविन्द के प्यार को पाना है, तो आज संकल्प कर लो! सभी में तुम्हारे बाल-कन्हैया ही विराजते हैं! हम सदा इसी भाव को ही रखेंगे! गोविन्द सबमें हैं, ऐसा जानकर सबसे प्यार करेंगे! सबकी सेवा कृष्ण भाव में करेंगे! हम किसी की उपेक्षा कदापि नहीं करेंगे!** इसी सच्ची भक्ति को पढ़ाने के लिए श्रीकृष्ण ने ब्रह्माजी के मन में अपने लिए संदेह उत्पन्न किये! सम्पूर्ण सचराचर में अपने कन्हैया को ही देखो! यही सच्ची कृष्ण भक्ति का स्वरूप है!"

राधिका जी सब गोप और गोपियों को गोविन्द भक्ति का सूक्ष्म अमृतमय ज्ञान देती हैं। श्री राधिका जी उन सबको समझाती हैं, कि ईश्वर की सच्ची भक्ति प्राणी मात्र में ईश्वर का दर्शन करने में है। जब घर में काम करो, तो कल्पना करो कि तुम्हारा घर-आंगन, श्रीकृष्ण की वृजभूमि है। तुम जो भी कर रही हो, अपने गोविन्द के लिए ही कर रही हो! तुम जो भी कुछ करो गोविन्द की होकर करो! पति में भी श्रीकृष्ण भाव लाओ! सास, ससुर में भी आत्मा स्वरूप श्रीकृष्ण ही विराजते हैं! सदा ऐसे अमृत विचार बनाये रखो! गोविन्द तुम्हें अतिशय प्यार करेंगे!

गोपियां, श्रीराधा जी के अनुपम उपदेश रूपी अमृत का पान करती हैं। राधिका जी पुनः कहती हैं,

"हमारे श्रीकृष्ण सब पर अतिशय कल्याण करने वाले हैं। उन्होनें अपनी सच्ची भक्ति के स्वरूप तो हमें इस लीला में पढ़ाया ही है। ब्रह्मा जी के संदेहों का भी निवारण किया है।"

"सो कैसे?" गोपियां पूछती हैं!

"ब्रह्मा जी ने जब देखा कि गोविन्द, बच्चों के गन्दे हाथों से उनका जूठा भोजन छीनकर खा रहे हैं। उसे देखकर ही ब्रह्मा जी के मन में संदेह उत्पन्न हुआ। परम पुनीत महाविष्णु हैं। भला वह इन बच्चों का अपवित्र भोजन क्यों कर लेंगे? भगवान ने इस संदेह के साथ ब्रह्मा जी के भ्रमों का भी निवारण कर दिया है। परमेश्वर आत्मा

रूप में प्रत्येक शरीर में जीवधारियों का जूठा भोजन ही रक्त में बदलते हैं। श्रीरामचन्द्र के रूप में भी अवतरित होकर भगवान ने शबरी के जूठे बेर खाये थे। महाविष्णु ने श्रीराम रूप में जो लीला की थी, उसका ध्येय भी यही था। आत्मा होकर, घट-घट वासी राम आज भी जीव रूपी शवरी की जूठन को ही रक्त में बदलते हैं। प्रत्येक शरीर में वे आज भी हर शबरी के जूठे बेर ही खाते हैं। इसी असत्य और अज्ञान को मिटाने के लिए ही भगवान ने बच्चों के हाथ के जूठा भोजन छीनकर खाया था। जिससे तथा कथित पवित्रवादियों का संदेह निवारण हो सके।''

काश! हम भी गोविन्द की इस लीला के अमृत का पान कर पाए होते। काश! हम भी जा़त-पात, छुआछूत जैसी निकृष्ट, अधम और अपवित्र वृत्तियों से अपना उद्धार कर पाये होते! हर क्षण अमृतमय हो उठता! हर रूप में वे ही मुस्कराते हैं! इस विचार के साथ हमारा शरीर अमृतमय गोकुल होता! विचार वृन्दावन हो जाते! अमृत बरसता! रस बरसता! सब कुछ रसमय हो जाता!

हरि ॐ! नारायण हरि!

18

श्रीमद्भागवत्महापुराण!

वेदव्यास! श्रीकृष्ण की अनुपम लीलाओं का अमृतमय चिन्तन करते समय तुम्हारा अनमोल ग्रंथ श्रीमद्भागवत मेरे मानस पटल पर उभर आया है। श्रीमद्भागवत में ही तुमने भगवान श्री वासुदेव की लीलाओं को दशम् स्कन्ध में दर्शाया है। तुम्हारी लीला के रहस्यों को मैं निरन्तर पी रहा हूँ। तुम्हारी कथाएं भक्ति, ज्ञान और वैराग्य की त्रिवेणी हैं। आज भक्ति मार्ग, ज्ञान मार्ग, वैराग्य मार्ग तथा नाना मार्ग एक दूसरे के विपरीत जाकर खड़े हुए हैं। धर्म-प्राण समाज के नाना मार्गों में भटककर रह जाता है। तुमने अपने लीला-ग्रंथों में इन सभी मार्गों का सहज समन्वय किया है। श्रीमद्भागवत महा-ग्रंथ की प्रथम महात्म कथा संशय रहित रूप से ग्रंथ के उद्देश्य को स्पष्ट कर देती है। आरम्भ की कथाओं में ही कथा के उद्देश्यों को स्पष्ट करने की परिपाटी आदिकाल से रही है। तुमने अपनी कथा का सूत्रधार नारद को बनाया है।

''नारद'' शब्द का अर्थ होता है, ''किसी एक केन्द्र के चहुँ ओर वृत्ताकार नाचना।''

आदिकाल में धूप घड़ी होती थी। सूर्य की परछाई से समय का भान होता था। वृत्ताकार नाचने वाली इस परछाई का नाम नारद है। सूर्य घड़ी की परछाई, ढाई घड़ी से अधिक रूक नहीं सकती। यदि परछाई नियमित रूप से नाचेगी नहीं तो समय का भान नहीं होगा। नारद ऋषि भी अभिशप्त हैं। ढाई घड़ी से भी अधिक नारद कहीं नहीं रूक सकता। नारद की कल्पना सम्भवतः जीव को बिम्वित करने के लिए प्रतीकात्मक रूप में ग्रहण की गयी है। आत्मा रूपी धुरी के चहुँ ओर, जीवन

और मृत्यु की परिक्रमाओं में नाचता जीव भी तो नारद है। क्योंकि कथा का उद्देश्य जीव का उद्धार करना है। जीवन, मृत्यु का भाव तथा अवागमन के रहस्यों का स्पष्टीकरण ही कथाओं का मूल उद्देश्य है। सम्भवतः इसीलिए प्राचीन कथाओं की परिपाटी में नारद जी कथा के सूत्रधार के रूप में आते हैं। रामायण में भी नारद जी कथा के मुख्य सूत्रधार बनते हैं।

श्रीमद्भागवत ग्रंथ के आरम्भ में ही देवर्षि नारद मृत्युलोक में विचरण कर रहे हैं। नारद जी, महाविष्णु के अनन्य भक्त हैं। वे ज्ञान और वैराग्य से पुष्ट भक्ति का स्वरूप है। वीणा-पाणि, स्वांस-स्वांस में हरि नाम स्मरण करते हैं। ऐसे परम् पुनीत देवर्षि नारद धरा पर विचरण करते हुए नदी के किनारे आते हैं, तो एक चौंका देने वाला दृश्य उन्हें बरबस अपनी ओर खींच लेता है। नारद जी क्या देखते हैं कि एक बहुत ही सुन्दर रूपसी, नवयौवना फूट-फूट कर रो रही है। बहुत सी अन्य युवतियां भी उनके साथ रोती हुई उसे ढांढ़स बंधा रही हैं। उसके समीप दो बहुत बूढ़े से व्यक्ति अन्तिम सांसे लेते-लेटे हुए हैं। उनके चेहरे झुर्रीदार और निस्तेज हैं। बड़ी मुश्किल से वे सांस ले पा रहे हैं। उनकी पलकें बन्द हैं। देखने से लगता है कि अधिक समय तक वे जीवित नहीं रह पावेंगे।

नारद जी जिज्ञासा वश उस स्थान पर आते हैं। रो रही उस सुन्दरी से पूछते हैं, ''देवि! तुम कौन हो? इस प्रकार करूण-विलाप क्यों कर रही हो? तुम्हें ऐसी कौन सी असह पीड़ा है, जिसके कारण तुम्हारे धैर्य के बांध टूट गये हैं?''

''हे देवर्षि नारद! मैं आपको प्रणाम करती हूँ। मैं भक्ति हूँ। इस कलियुग में आकर में असहय पीड़ा और दुख में व्याप्त हो गयी हूँ!''

''देवि! कलियुग में आकर तुम्हारे दुख का कारण क्या है? ये दोनों बूढ़े व्यक्ति कौन हैं?''

''हे देवर्षि नारद! ये दोनोँ बूढ़े व्यक्ति ही तो मेरे दुख और पीड़ा के कारण हैं! हे नारद! मैं ही इन दोनों पुत्रों की युवा माता हूँ। ये दोनों मेरे ही पुत्र हैं। ज्ञान और वैराग्य! इन दोनों की अवस्था मुझसे देखी नहीं जाती है। तुम्हीं बताओ? जिस युवा माँ के बेटे उसकी आँखों के सामने जरावस्था को प्राप्त होकर जीर्ण-शीर्ण हो मृत्योन्मुख हो जायें, उस माता की क्या स्थिति होगी। हे नारद! मैं तो अभी युवा बैठी हूँ। परन्तु मेरे पुत्र, मेरे सामने ही मृत्योन्मुख पड़े हैं। यही मेरी असह दुख और व्यथा का कारण है।''

वेदव्यास! हे रहस्य-लीलाओं के अनुपम जादूगर! तुम्हारा ये चित्र मुझे भीतर बाहर झकझोर देता है। भक्ति तो सदा युवा रहती है। हम सब भक्त हैं। हम सब युवा भक्ति को प्राप्त हैं। भले ही हम नारायण के भक्त न हों। विषय-वासनाओं

की तो युवा भक्ति हमारे पास है। हम कृष्ण के न सही, सारे संसार के तो परम् भक्त हैं। जीवन सदा किसी न किसी स्तर पर भक्ति की युवावस्था में ही व्याप्त रहता है। भौतिकताओं की भक्ति, वासनाओं की भक्ति, मकान-दुकान की भक्ति, धन, ऐश्वर्य की भक्ति, संतान पत्नी की भक्ति! भक्त तो मैं सदा ही हूँ! मेरी भक्ति हर काल में युवा रहती है! परन्तु जब हम सब ज्ञान और वैराग्य का तिरस्कार करते हैं। विषय-वासनाओं की ही लिप्त भक्ति में फंस जाते हैं। भक्ति तो युवा रहती है, ज्ञान और वैराग्य मेरे जीवन में जीर्ण-शीर्ण हो मृत्योन्मुख हो जाते हैं। तुम्हारे इस चित्र में स्वयं को देखकर मैं अत्याधिक भयभीत हो उठा हूँ। लगता है इस दुखिया संसार का आधारभूत कारण इस चित्र में मुझको स्पष्ट हो गया है।

''नानक दुखिया सब संसार!''

नानक का दिलाया दुखिया संसार और दुख तो मैं हर ओर देखता रहा हूँ। मेरे साथ का सारा संसार उसे न जाने कब से देख रहा है। परन्तु उसका आधारभूत कारण सम्भवतः हम सब नहीं खोज पाए। तुम्हारे इस चित्र ने आज उस कारण को मेरे सामने एकदम स्पष्ट कर दिया है।

जिस माँ के लाल, हमारे द्वारा जीर्ण-शीर्ण और नष्ट किये जा रहे हैं। भला वह माँ भक्त हो पर क्योंकर बरद होगी? भक्त रूपी माँ अपने दोनों पुत्रों ज्ञान और वैराग्य के हत्यारों को यदि दण्ड न भी दे तो भी आशीर्वाद तो कभी न देगी!

नारद के सामने रो रही भक्ति की पीड़ा, प्रत्येक मनुष्य की कहानी है। अपने ही जीवन के विनाश का कारण हमारा ज्ञान और वैराग्य से विमुख होना ही है।

ज्ञान और वैराग्य से युक्त भक्ति ही सार्थक जीवन का हेतु है!

ज्ञान और वैराग्य से रहित भक्ति अभिशप्त जीवन का मूल कारण है!

नारद जी पुनः भक्ति से पूछते हैं, ''देवि मैं तुम्हारी पीड़ा का कैसे समाधान कर सकता हूँ?''

''हे नारद! मेरे दुख का तो एक ही समाधान है, मेरे पुत्र जिस प्रकार भी हो पुनः स्वस्थ हो तथा आनन्द को प्राप्त हों। हे नारद! आप इनके उद्धार का उपाय करें। तभी मैं मृत्युलोक में प्रसन्नता से रह सकती हूँ!''

भक्ति माँ हैं! ज्ञान और वैराग्य उनके दो पुत्र हैं। भक्ति उसी पर प्रसन्न होती है, जो उसके पुत्रों को भी उचित सम्मान दे। नारद जी कई प्रकार के उपाय करते हैं। जिससे भक्ति के दोनों बेटे ज्ञान और वैराग्य पुनः स्वस्थ हो सकें। वेद के मंत्रों का पाठ भी करते हैं। उनके कानों के पास जाकर मंत्र फूंकते हैं। नारद जी के ऐसा करने से ज्ञान और वैराग्य में प्राणों का संचार होता है। ज्ञान और वैराग्य के नेत्र खुलने लगते हैं। परन्तु थोड़ी ही देर में वह पुनः निस्तेज हो जाते हैं। नारद

जी भक्ति के दुख का समाधान करने में सफल नहीं हो पाते हैं। नारद जी सभी देवताओं के पास जाते हैं। सारे देवता अपनी असमर्थता प्रकट कर देते हैं।

हम भी तो अपने जीवन में समाधान ढूंढ़ने के लिए देवी और देवताओं के मन्दिरों में जाते हैं। पूजा, पाठ, व्रत, यज्ञादि सब कुछ करते हैं। यह सब करने के बाद भी हम अपने जीवन में भक्ति के दोनों पुत्रों, ज्ञान और वैराग्य को स्थायित्व नहीं दे पाते हैं। नारद जी इस समस्या का समाधान, ब्रह्माजी, महेश आदि भी नहीं कर पाते हैं। नारद जी की भेंट सनतकुमारों से होती है। सनत, सनक, सनंदन तथा सनातन कुमार सदा बाल्यावस्था में रहते हैं। वे ही नारद जी को भक्ति की समस्या का समाधान दे पाते हैं।

ईश्वर के सामने जो स्वयं को बाल्यावस्था में रखते हैं। उन्हीं को समाधान मिलता है। जो विद्वता के पाखण्ड को लेकर स्वयं को बहुत बड़ा मानने लगते हैं, उनकी स्थिति दशानन रावण के समान होती है। भगवान वेदव्यास, सनतकुमारों से ही समस्या का समाधान करके, हमें ईश्वर भक्ति में नयी बाल्यावस्था को प्राप्त होने का अनुपम उपदेश दे रहे हैं। प्रभु के सामने सदा विनम्र बालक बनकर जाओ!

1 - ज्ञान वही है जो वैराग्य से भरा हो, तथा भक्ति ही उसकी माँ हो।

2 - वैराग्य वही है जो ज्ञान से पुष्ट हो तथा भक्ति ही उसकी माँ हो।

3 - सच्ची भक्ति वही है जिसके पास स्वस्थ और मुस्कराते हुए उसके पुत्र, ज्ञान और वैराग्य हैं।

जहाँ तीनों एकत्र हैं, वहीं कुम्भ का महा प्रयाग है। वहीं पर अमृत बरसता है। वहीं नारायण वास करते हैं।

भक्ति के पुत्रों को पुनः जीवित करने के लिए, स्वस्थ तथा सुखद करने के लिए सनतकुमार उपाय बताते हैं। वे नारद जी से कहते हैं, कि नारद जी श्रीमद्भागवत की कथा करावें। उसी कथा के द्वारा ज्ञान और वैराग्य को पुनः जीवन मिलेगा। वे पुनः स्वस्थ और युवा हो जायेंगे!

हम सब की व्यापक धारणा है कि श्रीमद्भागवत केवल भक्ति का ग्रन्थ है। जबकि इस ग्रन्थ की पहली कथा में, भागवत कथा के उद्देश्य को स्पष्ट किया गया है। भागवत की कथा ज्ञान और वैराग्य को पुनर्जीवित, युवा और स्वस्थ करने के लिए है। जिससे उसकी माता भक्ति भी प्रसन्न हो सके। अपनी इस कथा में वेदव्यास ने स्पष्ट किया है। श्रीमद्भागवत की कथा ज्ञान और वैराग्य को जीवन में पुनर्जागृत करने के लिए है। जिससे मनुष्य सही अर्थों में पूर्ण भक्ति को प्राप्त हो सके।

नारद जी प्रसन्न होकर मृत्युलोक में आते हैं। नारद जी भागवत कथा सप्ताह

की व्यवस्था करते हैं। कथा श्रवण हेतु नाना देवता पधारे हुए हैं। जीर्ण-शीर्ण मृतप्राण ज्ञान और वैराग्य के समीप कथा का आरम्भ होता है। जैसे-जैसे श्रीमद्‌भागवत की अमृतमयी कथा का ज्ञान और वैराग्य श्रवण करते हैं। उनमें पुनः जीवन संचार होने लगता है। कथा समापन के समय वे पुनः युवा और स्वस्थ होकर उठते है। भक्ति बहुत ही प्रसन्न होती है। वह नारद आदि सभी ऋषियों को आशीर्वाद देती हुई, अपने दोनों पुत्रों के साथ यथास्थान प्रस्थान करती है।

वेदव्यास! भागवत की पहली कथा ही हमारे मन के सभी संशयों और भ्रमों को अन्तिम रूप से समाप्त कर देती है। सारे भ्रम और संदेह मिट जाते हैं। काश! हम भी अपने जीवन में ज्ञान और वैराग्य को जीवन्त और स्वस्थ तथा युवा बना पाए होते!

यही कथा श्रीरामचन्द्र की लीलाकथा का सूत्रपात करती है। वहां भी नारद ही कथा के सूत्रधार बनते हैं। ब्रह्मचारी नारद अपने तप के दम्भ के कारण प्रभु परीक्षा का पात्र बन जाते हैं। विश्वमोहिनी के मोहपाश में बन्ध, बन्दर का रूप, श्रीहरि से प्राप्त कर जग हंसायी के पात्र बन अपमानित होते हैं। मोहासक्ति वशीभूत होकर अपने ही आराध्य श्रीमहाविष्णु को शापित कर बैठते हैं। क्या कोई सच्चा भक्त अपने आराध्य को शाप दे सकता है? आसक्ति में फंस गयी भक्ति और भक्त ऐसा निश्चय ही कर सकते हैं!

यही महाविष्णु की लीलावतार का सूत्र बनता है। इस कथा का विस्तार ''सरयु के तट'' ग्रन्थ में विस्तार से स्पष्ट किया गया है।

हरि ॐ! नारायण हरि!

19

धुंधुकारी!

श्रीमद्भागवत की दूसरी महात्म कथा धुंधुकारी की है। धुंधुकारी, धुंधली का बेटा है। धुंधली बहुत ही नीच प्रवृति की, अपने पति का विरोध करने वाली नारी है। सदा पति से द्वेष करती है। झूठ, कपट, छल, प्रपंच, दूसरों की निंदा तथा दूसरों को पीड़ा देने में उसे अत्याधिक सुख की प्राप्ति होती है। वह निःसंतान है।

धुंधली के पति एक तपोनिष्ठ सन्यासी के दर्शन पाते हैं। वह सन्यासी से संतान की कामना करते हैं। सन्यासी उसे एक फल देता है। उस फल को पत्नी को खिलाने के लिए कहता है। सन्यासी से फल लेकर ब्राह्मण देवता अपनी पत्नी धुंधली के पास आते हैं। उस फल को खाने के लिए कहते हैं तथा साथ में उद्देश्य भी बतलाते हैं। धुंधली फल लेकर अपने पास रख लेती है। फल को खाती नहीं है।

धुंधली की मनोवृत्ति बिना किसी कष्ट और पीड़ा के सुख उठाने की है। वह सभी प्रकार के सुखों को अनधिकार हथियाना चाहती है। किसी भी सुख प्राप्ति के लिए वह कुछ भी त्याग नहीं करना चाहती है। धुंधली सोचती है कि यदि उसने फल खा लिया तो उसके गर्भ रह जायेगा। यदि गर्भ रहेगा तो उसे पीड़ा होगी। धुंधली की सुन्दरता भी उससे नष्ट हो जायेगी। उस बालक की सेवा में भी व्यर्थ समय गंवाना पड़ेगा! वह सोचती है कि उसे पालना भी पड़ेगा। यह सोचकर वह उस फल को आंगन में बंधी गाय को खिला देती है। पति से झूठा बहाना कर कहती है कि उसने फल खा लिया है। उसके जैसी ही उसकी एक बहिन भी है। धुंधली उससे कहती है कि वह उसके लड़के को गोद लेगी! फल खाने तथा धुंधली गर्भवती होने

का झूठा नाटक करती है और कुछ महीनें तक अपने पति से खूब सेवा करवाती है। समय आने पर बच्चा जनने का बहाना करके अपनी बहन के यहाँ चली जाती है। उसकी बहन के जो बच्चा होता है। उसी को अपना पुत्र बताकर ब्राह्मण देवता को धोखा देती है।

उधर गाय ने जो फल खाया है, उससे गाय को प्रसव हो जाता है। प्रसव काल के उपरान्त गाय एक बालक को जन्म देती है। जिसके कान बड़े-बड़े हैं। ब्राह्मण देवता गाय के द्वारा जन्में मनुष्य के बालक को गोकर्ण नाम प्रदान करता है तथा धुंधली के बेटे का नाम धुंधकारी रखा जाता है।

गोकर्ण बहुत ही सत्यनिष्ठ, विवेकशील, मननशील तथा धर्मात्मा बालक है। दूसरी ओर धुंधकारी अपनी तथा कथित माता धुंधली की तरह ही चोर, उचक्का, लम्पट, आवारा, झूठा, बेईमान, मक्कार है।

गोकर्ण बहुत ही सुन्दर बालक है। वह विद्या अध्ययन के लिए वाराणसी चला जाता है तथा वहां वह मन लगाकर वेद-वेदांगों का नियमपूर्वक अध्ययन, मनन करता है। गोकर्ण बहुत ही मननशील, मेधावी, तपस्वी तथा चरित्रवान बालक है। गुरूजी उसे अत्यधिक प्यार करते हैं तथा सम्मान करते हैं।

धुंधकारी बहुत ही आतताई है! वह अपने माता पिता को भी लूटता और मारता है। शहर में चोरियां करता है। वेश्यागामी है। वेश्याओं के घर में ही पड़ा रहता है। धुंधकारी, धुंधली को तथा अपने पिता को भी बहुत सताता है। दुख और पीड़ा के कारण पिता की मृत्यु हो जाती है। धुंधकारी अपनी मां धुंधली को भी मार डालता है और घर का सारा सामान बेचकर वेश्याओं को दे आता है।

एक बार धुंधकारी राजा के यहां चोरी करता है। राजा के खजाने से बहुमूल्य रत्न, आभूषण आदि लेकर उन्हें वेश्याओं को देता है। जब वेश्याओं को पता चलता है कि धुंधकारी ने राजा के यहां चोरी की है तो वे वेश्यायें भयभीत हो जाती हैं। सब मिलकर आपस में विचार करती हैं। ''अहो! इसने राजा के यहां चोरी की है, अब यह जरूर पकड़ा जायेगा! राजा के सैनिक जब उसे दण्ड देंगे तो वह अवश्य हम लोगों के नाम भी बता देगा। तब हम सबको भी भयंकर दण्ड और यातनाएं झेलनी पड़ेंगी।''

सोते समय धुंधकारी को वे सब वेश्यायें मिलकर मार डालती हैं। उसका मुँह भी जला डालती हैं। जिससे कि उसकी पहचान न हो सके। अकाल मृत्यु को प्राप्त हो जाने के कारण धुंधकारी प्रेत बन जाता है। प्रेत होकर वह वेश्याओं को तथा सभी लोगों को सताने लगता है।

विद्याध्ययन के उपरान्त जब लौटकर गोकर्ण घर में आते हैं तो प्रेत बना धुंधकारी

उनको भी सताने का प्रयास करता है। गोकर्ण उससे पूछते हैं।

''कौन हो तुम?''

''मैं तुम्हारा भाई धुंधकारी हूँ। अकाल मृत्यु के कारण मैं प्रेत हो गया हूँ! यहाँ मुझे बड़ी घुटन हो रही है तथा असह वेदना है। मैं अपने पापों के कारण अत्यधिक कष्ट पा रहा हूँ।''

''धुंधकारी तुम मुझसे क्या चाहते हो?'' गोकर्ण ने पूछा।

''भैया गोकर्ण! मेरा प्रेत योनि से उद्धार करो!'' धुंधकारी ने कहा।

''तुम्हारा उद्धार मैं किस प्रकार कर सकता हूँ?'' गोकर्ण ने पूछा।

''मेरे उद्धार के लिए हे भाई तुम भागवत सप्ताह करवाओ। भागवत कथा द्वारा ही मेरा उद्धार होगा!'' धुंधकारी ने कहा।

''भाई! तुम्हारे उद्धार के लिए मैं भागवत सप्ताह ही करूंगा!'' गोकर्ण ने कहा!

गोकर्ण पूरे विधि-विधान से भागवत सप्ताह की व्यवस्था करता है। शुभ वार, तिथि तथा मुहूर्त्त का विचार करके भागवत अनुष्ठान करता है। उस समय गोकर्ण प्रेत बने धुंधकारी से पूछता है कि कथा श्रवण हेतु वह किस आसन पर विराजेगा? धुंधकारी अपने भाई गोकर्ण से कहता है कि वे आंगन के मध्य सात गांठ का एक बांस गाड़ दे। धुंधकारी उसी बांस पर बैठेगा। गोकर्ण ऐसा ही करता है। उसके उपरान्त वह धुंधकारी से पूछता है कि उसे किस प्रकार पता चलेगा कि धुंधकारी भागवत कथा सुनकर मुक्त हो गया है? धुंधुकारी इसका प्रमाण क्या होगा? धुंधकारी ने उत्तर दिया। जिस समय उसकी मुक्ति होगी वह बांस के सामने पड़ने वाली दीवार को गिराकर चला जायेगा।

भागवत सप्ताह आरम्भ होता है। प्रति दिन कथा के उपरान्त सात गांठ वाले बांस की एक-एक गांठ टूटती चली जाती है। सातवें दिन बांस की सातवीं गांठ भी टूट जाती है तथा दीवार को गिराकर धुंधकारी मुक्त होकर चला जाता है।

वेदव्यास की इस कथा में हममें से प्रत्येक व्यक्ति कभी धुंधकारी बनता है तो कभी गोकर्ण! विषय-वासनायें, विषाक्त संसारिकताओं में फंसा जीव ही एक निकृष्ठ स्तर का संसारिक है। इन्द्रियां ही वेश्याएं हैं। इन्द्रियों में लिप्त इनका संग करने वाला जीव ही धुंधकारी है। इस विषयान्ध मन का अंधा धूम्रमार्ग पितृयान है। इसकी अवस्था प्रेत योनि है। हमारे सामने दो रास्ते हैं। एक जो धूम्रमार्ग है, जिसका पितृयान है। जहां जीव की प्रेतावस्था होती है।

सनातन-धर्म ने आदिकाल से प्रकृति को ही धर्म-ग्रन्थ माना है। प्रकृति ही मूल धर्म-ग्रन्थ है, प्रत्येक व्यक्ति इसका एक अक्षर है। शेष सभी ग्रन्थों को अध्यात्मिक विश्व-विद्यालय की भाष्य पुस्तकों की संज्ञा दी गयी है। चौरासी लाख योनियां ही

प्रकृति रूपी पुस्तक के धर्मग्रन्थ के चौरासी लाख अध्याय हैं। इन अध्यायों को पढ़ने के उपरान्त मनुष्य का जीवन वार्षिक परीक्षा के क्षण हैं। वही परमेश्वर, जो नाना योनियों में आत्मा होकर जीव का पथ-प्रदर्शक है, मनुष्य की योनि में परीक्षक हो जाता है इस प्रकार मृत्यु को परीक्षा फल के रूप में ग्रहण किया गया है। जो जीव उत्तीर्ण हो जायेगा वह मोक्ष को प्राप्त होगा। जो अनुत्तीर्ण होगा, उसे पुनः चौरासी लाख अध्याय पढ़ने नाना योनियों में भटकने के लिए जाना होगा। एक तीसरी अवस्था भी है। थोड़े अंकों से फेल हो गया छात्र कुछ समय के उपरान्त पुनर्परीक्षा के लिए बुलाया जाता है। जिसे कम्पार्टमन्ट कहते हैं। धर्म ने भी इस तीसरी अवस्था की कल्पना की है। पुनर्परीक्षा हेतु आया छात्र बारह योनियों के उपरान्त पुनः मनुष्य योनि पायेगा। बारह योनियों का प्रतीक है, बारह जन्मों का स्वरूप। बारह दिन का सूतक अर्थात बरहा मनाने की परम्परा आज भी भारतीय समाज में व्याप्त है। जो पुनर्परीक्षा का प्रतीक है।

पैदा हुए तो बारह दिन का सूतक अर्थात बरहा मनाया था। जब घर में मृत्यु को प्राप्त हो गये तो एक जन्म का प्रतीक एक दिन का सूतक जन्मकाल के बारह दिनों में जुड़ गया। इस प्रकार जब मरे तो तेरहवीं मनाई गयी। अर्थात् पुनः जन्मकाल के शूद्र से अब महाशूद्र हो गया।

जिन फलों से उसका शरीर बना था उन्हीं फलों के पेड़ों को पितृयान की संज्ञा दी गयी। पेड़ों की लकड़ियों की चिता बनाकर उसे धूम्रमार्ग से, पितृयान से गमन कराया गया। वह धुंधकारी है। बर्हिमुखी होने के कारण आत्मा से अद्वैत नहीं कर पाया। धूम्रमार्ग से, पितृयान से, सकाम मार्ग से बनकर धुंधकारी चिता की लकड़ियों के साथ जलकर प्रेतावस्था को जा रहा है।

उसका पुत्र उसकी कपाल क्रिया करता है। बालक अपने पिता की कपाल क्रिया करता है, तथा अग्नि देता है। उसके घर के लोग भी उसका स्पर्श नहीं करते हैं। उसके पुत्र की परछाई से भी दूर रहते हैं। वह घर के बाहर बरामदे में तेरहवीं पर्यन्त एक तखत पर रहता है। भोजन आदि भी उसे दूर से ही फेंककर दिया जाता है। दसवां पर्यन्त वह श्रीमद्‌भागवत, गीता और गरूड़ पुराण आदि का श्रवण करता है। इसके पीछे भावना क्या है।

जिसे कपाल-क्रिया करके, इसने देह से अलग किया है, वहीं इसका पिता, इसकी आसक्तियों के कारण प्रेत बनकर इसकी देह में वास करेगा। अपने पुत्र की ही देह में रहता हुआ, इसकी इन्द्रियों द्वारा श्रीमद्‌भागवत, गीता तथा गरूड़ पुराण आदि का श्रवण करके प्रायश्चित करेगा। तब यथा योनि गमन करेगा। वह तो श्रीमद्‌भागवत का धुंधकारी है। जो भस्मी चिता की इकट्‌ठा कर लाते हैं। दसवें के

उपरान्त उसमें देखते हैं कौन सा चित्र बना तथा वह किस योनि में गया आदि। उससे भी स्पष्ट है कि दसवां पर्यन्त वह अपने पुत्र की ही देह में वास करता था। यह धुंधकारी की गति है। यहीं धूम्रमार्ग है जिसका पितृयान है। मरते ही प्रेत योनि अनिवार्यता है।

"गो" अर्थात् ज्योतियों की राह जाना ही गोकर्ण है। यह शुक्ल मार्ग है, जिसका देवयान है तथा मोक्ष इसकी गति है। तत्त्वमसि धारणा है जिसकी, तेजोऽसि ध्यान तथा जीवन का परम लक्ष्य है। एकोब्रह्म द्वितीयो नास्ति जिसकी अटल समाधि है, अहम् ब्रह्मास्मि जिसका आत्मस्थ यज्ञ हैं तथा सोहऽम् जिसका मोक्ष मार्ग है; गोकर्ण के रूप में दिखाया गया है।

(इसका विस्तार **सनातन दर्शन के नौ अध्याय,** आदिधर्म-सनातन धर्म, **ज्योतिर्वेद के विभिन्न सोपान** तथा ऋग्वेद भाष्यों के ग्रन्थों में देखें।)

धुंधकारी सात गांठ के बांस पर बैठता है। जिसने जीवन में स्वयं को सप्त वासनाओं में बांध रखा है वही धुंधकारी है। सप्त वासनाओं से बंधा जीव सात गांठ के बांस पर ही भागवत की कथा में बैठता है। जब तक असत्य, अज्ञान और मोहान्धता रूपी दीवार ढहती नहीं, गोकर्ण भी नहीं जान पाता कि धुंधकारी का उद्धार हुआ अथवा नहीं? श्रीमद्भागवत् की दूसरी महात्म कथा हमें इस अमृतमय ग्रन्थ में धुंधकारी की राह से हटाकर गोकर्ण की राह ले जाने के लिए है। श्रीमद्भागवत का तीसरा अनुपम उद्देश्य है। हम धुंधकारी न बनें। तो हम सब गोकर्ण हो जायें।

इस कथा से भी स्पष्ट है कि श्रीमद्भागवत् हमारा सांस्कृतिक, सामाजिक, आध्यात्मिक तथा धर्म की परम्पराओं को पुष्ट करने वाला दिव्य ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की भक्ति, ज्ञान और वैराग्य से पुष्ट होकर हमें सर्वांग पवित्र करती हुई गोकर्ण बना देती है।

हरि ॐ! नारायण हरि!

20

धेनुकासुर वध!

उत्तरायण का शिशु सूर्य थकने सा लगा है। सांझ की खामोशी भीतर बाहर हर ओर छाती जा रही है। भक्त समूह तथा उनका शोर दूर होते-होते गहरी खामोशी में बदल गया है। मौन स्थिर होकर मुझमें समा गया है। हवा में प्यारी सी ठंडक है। दूर-दूर तक खामोशी है। जब संसार नहीं होता है पास मेरे, मैं अनायास तुम्हारे बहुत समीप हो उठता हूँ। आश्रम की नीरवता मुझे तुम्हारा सामीप्य देती है। पेड़ों के झुण्ड में, सांझ के झुटपुटे में, एक बार फिर तुम्हारी रहस्य-लीलाओं के रूप उभरने लगे हैं। रहस्य-लीलाओं का जादू और नशा मुझे मेरी कल्पनाओं के सागर में उतारे लिए जा रहा है। वृन्दावन की मोहक सांझ मेरी कल्पनाओं की आँखों में तैर आयी है। गांव की सांझ के खनखनाते कहकहे, खिलखिलाती हंसी, झोंपड़ियों से उठता हुआ धुंआ, गायों के गलों बन्धी की घण्टियों की गुनगुन! गोपियों के पैरों की पायल की छनक! और पाता हूँ मैं स्वयं को इन सबके बीच में! आज वृन्दावन का प्रत्येक घर-आंगन कृष्णमय हो उठा है।

श्री राधिका जी के तत्वमय अमृत उपदेश से गोपियां धन्य हो गयी हैं। ब्रह्माजी की लीला कथा उन्हें भीतर तक छू गयी है। कल तक वह बावली सी भागती थी कन्हैया के पीछे। आज उन्हें हर ओर कृष्ण ही कृष्ण दिख रहा है। अंतर्मन में उनकी बांसुरी का अनहद नाद है। रोम-रोम पुलकायमान है। अंग-अंग में कृष्ण रस बरस रहा है। सास और ससुर भी उन्हें राधे-गोविन्द की जोड़ी सरीखे दिख रहे हैं। पति में भी गोविन्द भाव उतर आया है। अपने बालकों को देखती हैं तो मोहक कन्हैया की छवि उन्हें अपने पुत्रों में भी नजर आती है। बारम्बार गोपाल के दर्शन पाकर

आत्मविभोर हो उठती हैं। गोपियों की झोपड़ियां गोविन्द का परमधाम बन गयी हैं। दुख, चिन्ता, ईर्ष्या, द्वेष, अभाव, अपमान आदि के विचार न जानें कहां जलकर भस्म हो गये हैं। अब तो एक रस गोविन्द रस बरस रहा है। अपने परिवार के लिए रसोई बना रही हैं। अंतर्मन में असीम सुख पा रही हैं। सबमें गोविन्द ही हैं। वे तो गोविन्द की रसोई बना रही हैं। भोजन पकाने में भी उसे हरि नाम जैसी भक्ति का परमानन्द प्राप्त हो रहा है। सबको भोजन खिला रही हैं। उसे हर ओर प्रभु को भोग लगाने का परमानन्द मिल रहा है। चेहरे पर खुशी की चमक है, नेत्रों में उमड़ रहा प्यार का अथाह सागर! जूठे बर्तनों को मांज रही हैं तो उन्हें मन्दिर में चन्दन घिसने का सा सुख मिल रहा है। श्रीराधा जादूगरनी! तूने उन पर जाने कैसा जादू कर दिया है! प्रत्येक कर्म, धर्म की आस्था बन गया है।

सांझ ने रात्रि की काली चादर ओढ़ ली है। गोपी के हर ओर प्रकाश है। उसके भीतर, बाहर! श्रीकृष्ण रूपी नीलाभ ज्योतियां प्रकाशित हैं। कृष्ण में खोई, गंवार ग्वालिने, गोविन्द सी जगमग हैं। उनके जीवन में अब रात का अंधियारा भी अंधेरा नहीं कर सकता है। वह तो स्वयंप्रभा हो गयी हैं। सबकी सेवा करके बिस्तर पर लेटती हैं तो पलके मूंदते ही विचारों में कृष्ण विराज जाते हैं। स्वप्न संसार में गोविन्द के संग झूम रही हैं। नाच रही हैं! खेल रही हैं! जाने कब रात बीत गयी है! नयी सुबह हो गयी है! भक्ति के सत्य स्वरूप को पाया है उन्होंने! अब तो गोपियां भी गोपाल हो गयी हैं।

गोपियां अपने बालकों को गौवें चराने के लिए तैयार कर रही हैं। श्रीबलराम जी नन्हें कन्हैया को संग लिए गौवों के साथ चल दिये हैं। बाल मण्डली गौवों को चराने के लिए वन की ओर चल देती है। बालक मुदित मन से भगवान गोविन्द का सामीप्य सुख लेते, खेलते हुए वन में चले जा रहे हैं। गौवों के गलों में पड़ी घन्टियों की गुनगुन, गौवों के खुरों से उठती बृज की पवित्र माटी की धूल, कान्हा-कान्हा चिल्लाते ग्वालों के समूह, करील के कुंजों से लिपटती, झूमती, गुनगुनाती सुगन्धित हवायें, दूर-दूर तक फैले मोहक वन, सम्मोहक दृश्य उत्पन्न कर रहे हैं।

ग्वाल-बाल बलराम जी से तालवन की चर्चा करते हैं। वे श्री बलराम को बताते हैं, कि उन्होंने ताल के पेड़ों का एक बहुत ही सुन्दर वन खोज निकाला है। उस वन में असंख्यों ताल के वृक्ष हैं, उनमें बड़े ही सुन्दर पके रसीले तालफल लगे हुए हैं। पक-पक कर फल धरती पर भी गिरते हैं। परन्तु बालक उन्हें उठाकर खा नहीं सकते। तालवन का रक्षक एक महा मायावी असुर है। जिसका नाम धेनुकासुर है। धेनुकासुर एक विशालकाय गधे के रूप में रहता है। उसके साथ और भी बहुत से

असुर गधों के रूप में रहते हैं। अब भी कोई व्यक्ति फल खाने के लिए जाता है तो पापी धेनुकासुर उसको लातों से मारता है। बच्चों के सिर फोड़ देता है। मनुष्य को भी फल नहीं खाने देता है तथा स्वयं भी नहीं खाता है।

बालक श्रीबलराम जी से विनती करते हैं कि वे उस असुर को वहां से भगा दें, जिससे बालक उन रसीले फलों को खा सकें। बालकों के कहने पर बलराम जी तालवन में प्रवेश करते हैं। बलराम पेड़ों को हिला-हिला कर पके हुए फल गिराने लगते हैं। जिसकी आवाज सुनकर धेनुकासुर अत्यधिक क्रोधित होकर बलराम जी पर आक्रमण कर देता है। श्रीबलराम जी उसको उठाकर पेड़ों पर पटक देते हैं। धेनुकासुर मर जाता है। बाकी गधे भी डरकर भाग जाते हैं।

वेदव्यास! तुम्हारी इस रहस्य-लीला में तुम, मुझको मेरे भीतर बैठे धेनुकासुर को दिखा रहे हो। कितनी विलक्षण कथा है तुम्हारी! हमने तो सदा देखा है कि आदमी ही गधे पर बैठता है। लेकिन तुमने अपनी कथा में मुझको दिखाया है कि एक ऐसा गधा भी है जो हर आदमी पर बैठा हुआ है। धेनुकासुर गधे के रूप में रहता है। ''धेनुक'' शब्द का अर्थ होता है ''गधा''। गधा तालफल नहीं खाता। धेनुकासुर भी न तालफल खाता है और न किसी भी मनुष्य को खाने देता है।

न तो खुद खाना न किसी को खाने देना! गधे की तरह उपलब्धियों को पीठ पर लादे रहना। यहीं तो धेनुकासुर वृत्ति है।

आज हम सब इस वृत्ति को प्राप्त हो गये हैं। हममें प्रत्येक व्यक्ति भविष्य के लिए बटोर रहा है। ये और इकट्ठा कर लें, तो फिर सुख से जियेंगे। इसी इकट्ठा करने में हम सब दौड़ रहे हैं। हम सिर्फ बटोरने में लगे रहते हैं। मौत की काली चादर हमें उठा ले जाती है। हम सिर्फ भविष्य के सुख का इन्तजाम किया करते हैं। सुख से जीने का अवसर कभी आता ही नहीं है। धेनुकासुर की तरह न खाते हैं और न खाने देते हैं किसी को। सिर्फ बटोरा करते हैं! आदमी पर गधा लद गया है।

सेठ जी करोड़ पति हैं। करोड़ों की सम्पदा उनके पास है। डाक्टर ने उनकी खुराक बांध रखी है। मीठा और नमकीन दोनों नहीं खा सकते हैं। क्योंकि उन्हें मधुमेह अर्थात डाइबिटीज भी है और उच्च रक्तचाप भी। इसलिए उनका मीठा और नमक दोनों ही बन्द हैं। लीवर भी गड़बड़ है। जरा सी उबली हुई सब्जी, दो सूखी रोटी, एक इंजेक्शन सुबह और एक इंजेक्शन शाम को। साथ में एक दर्जन रंग-बिरंगी गोलियां। यही खुराक सेठ जी की है। रीढ़ की हड्डी भी खराब हो गयी है। आर्थराइटिस एवं स्पोंडिलाइटिस का रोग है उनको। इसलिए कीमती मुलायम गद्दे पर भी नहीं सो सकते हैं। डाक्टर ने उन्हें तख्त जैसे सख्त बिस्तर पर लेटने

की हिदायत दी है। बेचारे को एलर्जी भी है, इसलिए सूती वस्त्र ही पहन सकते हैं। बड़ी ही सादा जिन्दगी उन्हें जीनी पड़ती है। करोड़ों रुपये उनके पास हैं। धेनुकासुर बने सम्पदा को तो लादे हुए हैं। धेनुकासुर की तरह न खा सकते हैं, न पहन सकते हैं, और ना ही भोग सकते हैं। माया में उनके प्राण बसे हैं। अपनी सम्पदा को दूसरों को बांट भी नहीं सकते हैं। गधा न खाता है, न खाने देता है, बस लादे घूमता है।

कभी शिक्षा की देवी सरस्वती थी। सरस्वती वीणा लिए हाथ में हंस वाहिनी थी? स्वतंत्रता के पचास वर्ष बाद भी शिक्षा की देवी सरस्वती के स्थान पर नीरसवती ही हैं। इस देवी का वाहन अब हंस नहीं, धेनुकासुर है। हमने शिक्षा में हंसवाहिनी सरस्वती का परित्याग कर दिया है। अब हमारी शिक्षा की देवी गंदर्भवाहिनी, नीरसवती बन गयी हैं। सरस्वती वीणा की मनोरम ध्वनि झंकृत करती हैं। तो आधुनिक देवी नीरसवती जी पूतना की तरह बस डकारा ही करती हैं।

कल की शिक्षा का उद्देश्य था बालक सरस्वती का वरद पुत्र बने। वह धरती का भगवान हो। प्राणी मात्र के हित में समर्पित होकर जिये। हर होंठ की मुस्कान हो, हर आंख की रोशनी हो। कल की शिक्षा में शिक्षा का केन्द्र-बिन्दु छात्र को ही माना गया था।

आधुनिक शिक्षा में, शिक्षा का केन्द्र बालक न होकर धेनुकासुर का भौतिक भटकाव ही मूल उद्धेश्य है। आज अच्छी नौकरी, बढ़िया तनख्वाह, मोटी घूस के लिए ही प्रत्येक पिता अपने पुत्र को पढ़ा रहा है। इसी उद्देश्य के लिए इस देश का शिक्षा-विद, शिक्षा मन्त्री और प्रधान मन्त्री सभी लगे हुए हैं। मैं कौन हूँ? मै क्या हूँ? मैं क्यों हूँ? प्रकृति और पुरूष मुझे बारम्बार चिता की राख से बालक क्यों बनाते हैं? मैं क्यों चन्द मुट्ठी राख में छितरा जाता हूँ? मनुष्य होकर मेरा समाज के प्रति, देश के प्रति परिवार के प्रति तथा प्राणी मात्र के प्रति क्या धर्म है? आज इन प्रश्नों का उत्तर वर्तमान शिक्षा में कहीं नहीं है। पेट भर रोटी के लिए हर एक बाप अपनी औलाद को पढ़ा रहा है। जबकि भारत के सारे पशु-पक्षी पेट भर खाना खा रहे हैं। सड़क का कुत्ता भी पेट भर लेता है, उसे किसी स्कूल में पढ़ने नहीं जाना पड़ता है। परन्तु आदमी के बेटे को पेट भर रोटी के लिए पढ़ना जरूरी है। आदमी का बेटा आज कुत्ते से भी कहीं नीचे चला गया है। धेनुकासुर हमें मिटाये जा रहा है।

धेनुकासुर वाहिनी इस शिक्षा में, छात्र और शिक्षा सदा अलग-अलग रहते हैं। कुछ वर्ष पहले की बात है मैं दिल्ली गया हुआ था। एक डाक्टर साहिबा मिलने के लिए आयीं। डाक्टर साहिबा पी. एच. डी. हैं। मनोविज्ञान की डाक्टर हैं। उनकी

डिग्री का विषय भी बालक की देख भाल रहा है। उन्होंने बच्चों की देखभाल पर एक शोध ग्रन्थ भी लिखा है। थोड़ी देर बाद उन्हीं डाक्टर साहिबा के पति मेरे पास आकर रोने लगे। उन्होंने बताया कि वह अपनी पत्नी से बहुत दुखी हैं। कारण? डाक्टर साहिबा के एक ही संतान है। डाक्टर साहिबा उसे इतना मारती हैं कि लड़का बेहोश हो जाता है। उनके पतिदेव कहने के अनुसार कभी सप्ताह में दो बार, तो कभी सप्ताह में एक बार ऐसा अवश्य घटित होता है। आप ही बताइये उनकी डिग्रियां, उनकी शिक्षा उनका शोध ग्रन्थ उनके ऊपर गधे के बोझ की तरह ही तो लदे हुए हैं। आप अपने चारों ओर देखें। शिक्षा का यह महाकाय धेनुकासुर आपको हर ओर दिखाई पड़ेगा। हम भले अपनी शिक्षा से अद्वैत न कर पाएं, परन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि हम सबने व्यापक रूप से धेनुकासुर से अद्वैत किया हुआ है। अब तो हम आदमी कम और धेनुकासुर ज्यादा नजर आते हैं।

धेनुकासुर हमारे अमृतमय जीवन का विषाक्त अन्त है। धेनुकासुर हमारे सारे सुख का विनाश कर देता है। गोविन्द ही सुख हैं! धेनुकासुर हमारा सर्वनाश है। काश! हम इस सत्य को अन्तिम रूप से ग्रहण कर पाते। अपने जीवन में पवित्र कन्हैया को बसाते! बृज के गोप और गोपियों की भांति अनन्त सुखी होते।

गुरूकुल शिक्षा में अमर उज्जवल इतिहास को अध्यात्मपरक बनाकर प्रत्येक को छात्र उज्जवल अमर व्यक्तिव प्रदान कर धरती का ईश्वर बनाने के साथ ही शिक्षा को सरल, सरस, सहज ग्राह्य बनाकर छात्र को सुशिक्षिम करने की अद्भुत कल्पना हमें इन लीला कथाओं में मिलती है।

धेनुकासुर एक विकृत मनोवृत्ति है। यदि बाल्यकाल में ही इसका निरोध नहीं किया गया तो धरती का मनुष्य पिशाच बन, अपना तथा सबका जीवन नरकतुल्य बना देगा। सम्पूर्ण मानव जाति दिशाहीनता को प्राप्त हो जायेगी। मन के खाली घड़े बाल्यकाल में ही गुरूकुल शिक्षा के अमृत से भरे जा सकते हैं। भरे घड़ों को बिना खाली किये भरना असम्भवप्राय हो जाता है। उस काल के विद्वत् चिन्तक, मनीषीजन, ऋषि एवं विचारक इस तथ्य से भली भांति सुपरिचित हैं।

इसीलिये शिक्षा का स्वतन्त्र तथा निष्कन्टक अधिकार सुदूर वन में स्थापित ऋषि तथा उसके आधीन गुरूकुल को ही प्रदान किया गया। राजा, राज्य अधिकारियों तथा राजनीतिज्ञों को इसका अधिकार नहीं प्रदान किया गया। बालक को कोमल बाल्यावस्था में ही नगर, समाज तथा परिवार से दूर कर, सुदूर वन के निर्मल ऋषिकुल में स्थापित किया गया। बालक किताब अथवा पुस्तक मात्र से ही शिक्षित नहीं होता, वरन वातावरण तथा प्रियजनों के आचरण व्यवहार तथा प्रदर्शन का आस्था एवं भक्तिपूर्वक मनन चिन्तन करता है। इसलिये उसे आसक्त जगत प्रभाव

से तब तक दूर रखना परमावश्यक है जबतक स्वतन्त्र निर्णय की अवस्था को वह प्राप्त न कर लें। अनिर्णय की अवस्था में वह निश्चय ही विषयों की चमक तथा भोली जिज्ञासा के कारण गलत दिशा का चुनाव करेगा ही। आधुनिक सोच इसके विपरीत है। बच्चों को यौन सम्बन्धी ज्ञान समय से पूर्व ही करवा देने की सिफारिश के स्वर हर ओर सुनाई देने लगे हैं। कोमल बाल्यावस्था में स्वच्छन्द यौनाचार की ओर बढ़ती बालशिक्षा सम्भवतः आधुनिक समाज की सबसे बड़ी उपलब्धि होंगे।

अच्छी नौकरी, चोखी बढ़िया तनख्वाह और ऊपर से तगड़ी घूस आधुनिक शिक्षा का केन्द्र बिन्दु तो बन ही चुका है। अब स्वच्छन्द यौनाचार भी युनिवर्सिटी से उतर कर स्कूल की शिक्षा का रोचक विषय बनाने की कमर कसी जा रही है।

इन्द्रियोचित भ्रमित विषयान्धता के स्थान पर आत्मा के अमिट, असीम तथा परम सुखद एवं सृजक तथा लक्ष्यपरक भाव को भी शिक्षा का आरम्भिक सूत्र बनाया जा सकता है। यह कल्पना हमें अतीत की गुरूकुल शिक्षा में मिलती है।

अभी हाल ही में दिल्ली विश्वविद्यालय पर एक शोध देखने को मिला। गुप्तरोग (वी.डी.) पर शोध में दर्शाया गया कि आम आदमी में यह रोग तीन प्रतिशत के आसपास हैं। पुलिस के सिपाहियों तथा इसी प्रकार की नौकरियों में इसका अनुपात दुगने से भी कहीं अधिक है। यूनिवर्सिटी के छात्रों में इसका अनुपात आठ से दस गुना तक है। यह यूनिवर्सिटी की डिग्री भी नहीं है, जिस पर छात्र गर्व कर सके? अभी हमारे शिक्षाविद्धों और वैज्ञानिकों को शिकायत भी है कि यौन शिक्षा को?

मनोविज्ञान की दृष्टि से भी कोमल बाल्यावस्था में इसे सहज स्वाभाविक नहीं माना जा सकता। यह एक मनोविकृति ही कहलायेगी। सम्भावना इसकी अधिक रहेगी कि छात्र इसके शोषण का अधिक शिकर हो। शातिर तथाकथित व्यक्तियों की पिपासा का शिकार हो जाये। यह व्यक्ति उसके तथाकथित शिक्षाविद्ध भी हो सकते हैं। ऐसा ही मेरे उन मित्रों का भी विचार है जो चिकित्सा विज्ञान से जुड़े हुए हैं तथा उन्हें इन्हीं विसंगतियों की पीढ़ा से उन भोली जिन्दगियों को चिकित्सीय राहत देनी पड़ी है।

भले ही देर से सही, मनुष्य यदि मनुष्य है तथा शाश्वत मानव मूल्यों के प्रति जागरूक है तथा मौलिक जीवन उद्धेश्य के प्रति सावधान है, जीवन विसंगतियों को कभी शाश्वत जीवन मूल्य के रूप में नहीं स्वीकार सकता। प्रकृति ने यौन सम्बन्धों को उत्पत्ति के हित में ही सभी भूत प्राणियों को वरद किया है। यह कहना कि यौनेच्छा का स्वच्छन्द व्यवहार स्वाभाविक है, किसी भी दृष्टिकोण से ग्राह्य नहीं हो सकता। ऐसा कहने का औचित्य एक ही अवस्था में सम्भव हो सकता है। कोई व्यक्ति लम्बे समय तक भारी मदिरापान करता रहा हो, मदिरा की से भारी लत लग

गयी हो। अब उसकी सहज स्वाभाविक अवस्था क्या होगी? जब पी लेगा तो सहज स्वाभाविक लगेगा। नहीं पीयेगा तो असहज होकर किसी कोने में मुर्दे सा पड़ा होगा। स्वच्छन्द यौनाचार जीते तथाकथित विद्वान यह क्यों भूल जाते हैं कि शूकर से लेकर सम्पूर्ण जीवधारी इसे उत्पत्ति के हित में ही ग्रहण करते हैं। स्वच्छन्द निरंकुश यौनाचार आपसी सम्बन्धों की पवित्रता को नष्ट करता सारी, सामाजिक व्यवस्थाओं को समाप्त करता, कुल, समाज तथा राष्ट्र की कल्पना को भी ध्वस्त कर देगा। इस पिशाच को बोतल में बन्द जिन्न के रूप में जानना चाहिये तथा इसे बोतल में ही मर्यादित रहने देना चाहिये। श्रीमद् भगवतगीता में स्वयं भगवान श्रीकृष्ण ने कहा, ''सभी भूत प्राणियों में मैं शास्त्रोक्त मर्यादित कामदेव हूं।''

हरि ॐ! नारायण हरि!

21

कालिया नाग

शरीर गोकुल हो तथा विचार वृन्दावन हों, तभी मैं सच्चा भक्त होऊँ। विचारों का वृन्दावन धेनुकासुर द्वारा उजड़ जाता है। धेनुकासुर को मारे बिना हम कभी भी समर्पित परम भक्ति को प्राप्त नहीं हो सकते हैं। भगवान वासुदेव की कथाओं में धेनुकासुर की कथा है। इससे पूर्व महाविष्णु के श्री रामावतार लीला कथा में कबन्धासुर की कथा आती है। गुरूकुल शिक्षा में अमर उज्जवल इतिहास को अध्यात्मपरक बनाकर प्रत्येक को छात्र उज्जवल अमर व्यक्तिव प्रदान कर धरती का ईश्वर बनाने के साथ ही शिक्षा को सरल, सरस, सहज ग्राह्य बनाने के लिये ही गुरूकुल शिक्षा में अमर इतिहास को अध्यात्म का रूप प्रदान किया गया था।

भगवान श्री रामच़न्द्र जी, लक्ष्मण जी के साथ जानकी खोज में भटक रहे हैं। तभी कबन्धासुर नाम का एक विचित्र असुर उन्हें मिलता है। असुर कबन्ध के न तो सिर है, और न ही पैर, केवल धड़ है। उसके धड़ में ही उसका सिर घुसा हुआ है, उसकी छाती में एक आंख है। पेट में ही मुंह है। असुर कबन्ध के दो बहुत लम्बी-लम्बी मायावी भुजाएं हैं। वह अपने शिकार को अपनी भुजाओं में पकड़ता है तथा पेट में बने मुंह में निगल लेता है। कबन्धासुर अपने मायावी हाथों से श्रीरामचन्द्र तथा वीरवर लक्ष्मण को भी पकड़ लेता है। तब श्री राम चन्द्र की मन्त्रणा पर लक्ष्मण तथा श्रीराम चन्द्र उसकी भुजाओं को काटकर मुक्त होते हुए उसका विनाश करते हैं। भगवान श्रीराम चन्द्र जी असुरराज कबन्ध का उद्धार करते हैं। श्रीराम कथा भी भगवान श्री कृष्ण की कथा की भांति ही रहस्य-लीलाओं से भरपूर है।

कबन्धासुर कौन है? बता दूँ आपको! कबन्धासुर हर व्यक्ति के साथ रहता है। कबन्धासुर प्रत्येक व्यक्ति के मन में अदृश्य होकर रहता है। घर या दुकान पर रखी

तिजोरी तो आपने देखी ही होगी? तिजोरी के सिर नहीं होता है। कबन्धासुर के भी सिर नहीं है। तिजोरी के पैर नहीं होते हैं। कबन्धासुर के भी पैर नहीं हैं। तिजोरी के पेट में ही मुंह होता है, उसके दोनों पल्ले। कबन्धासुर के पेट में ही मुंह है। कबन्धासुर की छाती पर एक आंख है। तिजोरी की छाती पर एक आंख है, जिसमें चाबी लगती है। कबन्धासुर कहीं आता जाता नहीं है। तिजोरी भी कहीं आती जाती नहीं है। कबन्धासुर अपनी लम्बी-लम्बी भुजाओं से दूर-दूर के जीव पकड़कर खा जाता है। तिजोरी भी अपनी लम्बी अदृश्य भुजाओं से बम्बई, कलकत्ता और दुनियां भर से माल मंगाकर पेट में भर लेती है। इस प्रकार ये मायावी तिजोरी ही कबन्धासुर है, तथा तिजोरी के संग में, तिजोरी हो गया प्रत्येक व्यक्ति कबन्धासुर है। श्रीराम कथा का कबन्धासुर ही, श्री कृष्ण कथा का धेनुकासुर है। जो इनसे बच जाता है, वही शबरी सी अनन्य भक्ति को पाता है। श्री राम कथा में पूर्ण भक्ति स्वरूपा मां शबरी है।

परमेश्वर ने मनुष्य को कन्धों के ऊपर सिर प्रदान किया है। यह इसकी सहज स्वाभाविक अवस्था है। कभी कभी यह सरक कर छाती में घुस कर दम्भ और मिथ्याभ्मिान का कारण बन जाता है तो कभी पेट में सरक कर कबन्धासुर बन बैठता है। यह पेट से नीचे भी सरक सकता है। मनुष्य को पतित विषयान्धता में भटका देता है। इससे नीचे भी सरक लेना इसके लिये सम्भव है। यह घुटनों तथा टखनों तक भी सरक सकता है। उस अवस्था में सगा सौतेला अथवा अपना पराया भाव भी नष्ट हो जाते हैं। आदमी, आदमी का बैरी बन उनके खून का प्यासा हो उठता है। क्या आज यह अधिकतर हर घर की व्यथा कथा नहीं है?

मथुरा में मुर्दनी छायी हुई है। कंस हताश हो गया है। उसे अपने मित्र और सहयोगियों पर भी विश्वास नहीं रहा है। दूसरी ओर वृन्दावन की माटी गोविन्द को पाकर महक उठी है। भगवान श्री कृष्ण ने धेनुकासुर का वध किया है। ब्रज की नर-नारियों में भी संचयवृत्ति रूपी धेनुकासुर मारा गया है। संचयवृत्ति ही धेनुकासुर है। गरीब गोप और गोपियों के पास तो पहले भी संचय के नाम पर कुछ भी नहीं था। अब जब से धेनुकासुर मारा गया है। विचारों से भी संचय की वृत्ति समाप्त हो गयी है। अब तो एक कृष्ण हैं! एक गोविन्द हैं! संचय के नाम पर उनका रूप और उनकी भक्ति सम्पत्ति है!

यमुना के किनारे है कालीदह! वहां कालियानाग रहता है। कालिया नाग इतना विषैला है, कि उसके विष के प्रभाव से सारा जल विषाक्त हो जाता है। यदि गौवें और बछड़े कालीदह पर पानी पी लेते हैं, तो उनकी तत्क्षण मृत्यु हो जाती है। सारे ब्रजवासी इस बात को जानते हैं। इसलिए गौवों और बछड़ों को कालीदह में पानी

पीने नहीं देते हैं।

कालियानाग अतीत में 101 (एक सौ एक) फनों वाला भयंकर विषैला नाग रहा है। एक बार उसने पक्षीराज गरूड़ से अति भयंकर युद्ध किया था। वह गरूड़ से बुरी तरह पराजित हुआ। गरूड़ ने युद्ध में उसके इक्यानबे सिर काट दिये। गरूड़ के भय से भयभीत होकर अपने बाकी दस सिरों के साथ कालियानाग, कालीदह में आकर छिप गया। पक्षीराज गरूड़ श्रापवश कालीदह में नहीं आ सकता है। इसलिए कालियानाग ने अपनी पत्नियों के साथ कालीदह में शरण ली हुई है।

कालीदह के समीप ही बालक गेंद खेल रहे हैं। भगवान श्रीकृष्ण मन ही मन विचार करते हैं। यही उचित समय है। क्यों न कालियानाग का उद्धार कर दिया जाये। गोविन्द जान-बूझकर गेंद को कालीदह में फेंक देते हैं। गेंद को पाने के लिए बालक श्रीकृष्ण से जिद करते हैं। गोपाल कालीदह में छलांग लगा देते हैं। कालीदह में नन्हें कन्हैया का कालियानाग से युद्ध होता है। कालियानाग बाल-कन्हैया से पराजित होता है। भगवान श्रीकृष्ण कालिया नाग को नाथ लेते हैं, तथा उसके फन पर नृत्य करते हैं। कालियानाग स्वयं को भगवान श्री कृष्ण को समर्पित करता है। भगवान श्रीकृष्ण कालिया को अभय प्रदान करते हैं। कालियानाग अपनी पत्नियों के साथ कालीदह का परित्याग कर चला जाता है। कालीदह का विषैला जल पुनः निर्मल हो उठता है। नन्द, यशोदा तथा ब्रजवासियों को परमानन्द की प्राप्ति होती है।

वेदव्यास तुम्हारी इस पतित पावनी रहस्य-लीला रूपी धाराओं में हमारा रोम-रोम पवित्र हो रहा है। मेरे ही गन्दे रूपों, असुरों को मैं तुम्हारी इन मधुर कथाओं में संशय रहित होकर पहचान पाया हूँ। कालियानाग के एक सौ फन ही मेरे जीवन की असंख्यों अतृप्तियां, इच्छायें और वासनायें ही तो हैं। संयमित और आत्मस्थ योगी यदि जीवन में गरूड़ की भांति अतृप्तियों और वासनाओं का सिर कुचल भी दे, तो भी दस सिर ऐसे रह जाते हैं, जिन्हें वह कुचल नहीं सकता। मिटा नहीं सकता! वे दस सिर ही उसकी दसों इन्द्रियां हैं। गरूड़ भी कालियानाग के इन दस सिरों को नहीं काट पाया था। इन दस इन्द्रियों को मिटाया नहीं जा सकता है। गोविन्द की राह चलकर केवल इन इन्द्रियों को नाथा जा सकता है। दस इन्द्रियों का निग्रह करना ही कालिया के दसों सिरों को नाथना है।

''काल'' अर्थात् ''समय'' की दह ही कालीदह है। दसों इन्द्रियां मुझे इस कालीदह में दस फन वाला कालियानाग बनाकर उतार देती हैं। दसों इन्द्रियां जब दस मुंह बन जाती हैं तो मेरा स्वरूप दस मुंह वाले कालियानाग जैसा ही हो उठता है। दस मुंह से अर्थात् दस इन्द्रियों को दस मुंह बनाकर मैं अपने ही चारों ओर

के वातावरण को विषाक्त बनाता हूँ तथा अपने चारों ओर के समाज और लोगों के लिए भी विषधर बन जाता हूँ। श्रीराम की कथा में भी दश इन्द्रियों को रथने अर्थात् लगाम लगाने वाला दशरथ है (दश+रथ) दश (दस) इन्द्रियों को दश (दस) मुंह बनाने वाला दशानन रावण है। कृष्ण की कथा में दस मुंह वाला कालियानाग, दस इन्द्रियों को, दस मुंह बनाने वाला विषधर, बनाने की कहानी है। जिस दिन दस इन्द्रियों वाला, यह दस फन वाला कालियानाग नाथ लिया जाये, सम्पूर्ण शरीर सदा-सदा के लिए गोकुल हो, तथा विचारों का वृन्दावन अनन्त हो जाये। जिसने दसों इन्द्रियों को नाथ लिया वही कालियानाग के फनों पर नृत्य करता है। वही भक्त है! नित्य सुखी है!

गुरूकुल शिक्षा में अन्य विषयों के साथ अत्याधिक महत्वपूर्ण व्यापक विषय है - छात्र स्वयं! उसका सम्पूर्ण जीवन! व्यापक अनन्त यात्राओं सहित!

आपसे एक जिज्ञासा करना चाहूंगा। सोच समझ कर ही स्वयं को उत्तर दें। क्या इस मनुष्य योनि से पहले आप नहीं थे? क्या यह आपका पहला और अन्तिम जन्म मात्र ही है? न पहले ही आप कभी किसी योनि में जन्में थे तथा मृत्यु के उपरान्त अब कभी किसी रूप में जन्मेंगे भी नहीं? क्या आप ऐसा मानते हैं? यदि नहीं! आप मानते हैं कि जीव बारम्बार जन्म लेता है तथा यही नियति का खेल है, तब एक जन्म को ही सबकुछ मानकर जीना, कहां की समझदारी है?

जीवात्मा तो अनन्त की राह का यात्री है। जहां योनि मात्र क्षणिक पड़ाव, ठहराव है। आज यात्रा यहां पृथ्वी पर मनुष्य योनि में क्षणिक पड़ाव कर गयी है। कल ब्रह्ममुहुर्त्त में कारवां फिर कूच कर जायेगा। यात्रा फिर गगन की राह होगी। जीव तो यात्री भर है।

क्या कोई यात्री क्षणिक पड़ाव के हित में सारी यात्रा बरबाद कर देगा? हम सब क्या कर रहे हैं? क्या आप इसे समझदारी मानेंगे?

कल्पना करें क्षणिक आराम के लिये, रात्रि बिताने लिये कारवां ने डेरा किया है। कुछ आराम कर लें, कुछ बना खा लें! फिर ब्रह्ममुहुर्त्त की पहली किरण के साथ कूच करेंगे। एक यात्री हमारे जैसा ही, आराम के स्थान पर मेले ठेले को निकल गया। मेले में झगड़ा हुआ। राजा के सैनिक उसे भी पकड़ ले गये और कारागार में डाल दिया। कारवां तो अगली भोर आगे बढ़ गया। भटकता फिर रहा है अब वह। शायद हम सब! क्या शिक्षा को सम्पूर्ण यात्रा के हित में नहीं सोचना चाहिये था?

हरि ॐ! नारायण हरि!

22

प्रलम्बासुर वध

जीवन उसी का है, जिसने दस इन्द्रियों रूपी दस फन वाले कालियानाग को नाथ लिया है। इन्द्रियों का निग्रह किये बिना कभी भी मनुष्य जीवन सुखद नहीं हो सकता। सद्‌ग्रन्थ कहते हैं कि मनुष्य के घर जन्म ले लेने मात्र से तुम मनुष्य नहीं हो सकते। मनुष्य तभी होता है जब वह स्वयं को पहचानने तथा अपनी इन्द्रियों का स्वामित्व को प्राप्त कर ले। उन पर नियंत्रण करता, इन इन्द्रियों रूपी फनों पर नृत्य करे। मनुष्य जब तक स्वयं को नहीं जानता, उसका जीवन सर्वाधिक निकृष्ट तथा पीड़ादायक होता है।

आपके घर में कुत्ता है। क्या कुत्ते को लड़की की शादी की चिन्ता है? जितना सुख और आनन्द कुत्ते को तथा अन्य सभी पशुओं को है, क्या उसका सवां हिस्सा सुख भी मनुष्य को प्राप्त है? सद्‌ग्रन्थ कहते हैं, मनुष्य की योनि देव दुर्लभ है। अपने चारों ओर हम देखते हैं कि मनुष्य योनि के अतिरिक्त सभी योनियों में सुख भी है और शान्ति भी। तब ये कैसी देव दुर्लभ योनि है? इसका यही उत्तर है कि जब मनुष्य स्वयं को पा लेता है। दस इन्द्रियों रूपी फन वाले कालियानाग को नाथ लेता है। मनुष्य योनि के स्वरूप को पूरी तरह से पहचान लेता है, तभी वह मनुष्य योनि में प्रवेश पाता है। इन्द्रियों रूपी दस फन वाले कालियानाग के फन पर; मस्त, निश्चिन्त, उन्मुक्त तथा परमानन्दित हो जीवन के हर क्षण में नृत्य करता है। जब तक मनुष्य स्वयं को नहीं पहचानता तब तक उसकी तथाकथित मनुष्य योनि, पशु-पक्षी तो क्या, प्रेत और पिशाच से भी निकृष्ट होती है। प्रेत योनि तथा पिशाच योनि में गये जीव दूसरों को सताते हैं। परन्तु भ्रमित मनुष्य तो सारी उम्र अपने

को भी सबके साथ सताया करता है। कहावत है कि डाइन भी ढ़ाई घर छोड़कर आक्रमण करती है। परन्तु भटका हुआ मनुष्य न तो घर छोड़ता है न स्वयं को पीड़ा देने से बाज आता है। जिसने दस फन वाले कालियानाग को नाथ लिया, उसका जीवन धन्य है।

ब्रज में रस बरस रहा है। राधिका जी की कृपा से ब्रज के गंवार गोप और गोपियों ने मनुष्यता के सही स्वरूप को पाया है। पीड़ा और अभाव भी उन्हें छूते नहीं हैं। कल की चिन्ता भी उन्हें नहीं है। अपने और पराये का भेद भी मिट गया है। हर ओर राधे-गोविन्द की मनोहारी झांकी का दृश्य है। असुर रूपी विचारों को इस मनोहारी झांकी ने उसके जीवन से मिटा दिया है। मानवीय मूल्य प्रकट होकर देवत्व से जुड़ गये हैं। धरती पर स्वर्ग उतर आया है। काश! हम भी इस सुन्दर मनोहारी जोड़ी को अपने जीवन में सजा पाते। काश! अपने जीवन में असुरत्व को मिटाकर दस इन्द्रियों रूपी दस फन वाले कालियानाग को नाथ, इन्द्रियों की अतृप्तियों से ऊपर उठते हुए इन पर नृत्य कर पाते।

जैसे-जैसे समय बीतता जा रहा है। कंस का भय और चिन्ता निरन्तर बढ़ती जा रही है। कंस प्रलम्बासुर को बुलाता है तथा उसे वृन्दावन में जाकर कृष्ण और बलराम की हत्या का आदेश देता है। प्रलम्बासुर असुर राज जरासंध का अत्याधिक बलशाली तथा विश्वास प्राप्त दुर्दान्त असुर है। प्रलम्बासुर वृन्दावन की ओर चल देता है।

जब जीव सुमति को प्राप्त होता हुआ अपनी इन्द्रियों पर नियंत्रण कर सुखद् कलात्मक जीवन को प्राप्त हो जाता है तो मन रूपी राजा के अधिपत्य टूटने लगते हैं। सुमति को प्राप्त जीव अजेय मन को भी जीत सकता है। अजेय मन का यही भय है कि विषयान्धता और अज्ञानता से ऊपर उठ गया जीव, जो कल तक उसकी दया का पात्र था, अब अजेय बलवान राजा रूपी 'मन' पर भी राज्य करने लगेगा। मन रूपी राजा अपने राज्य को अक्षुण्ण रखने के लिए नाना प्रकार अतृप्तियों, लिप्साओं और वासनाओं को जन्मता है। ऐसी ही अवस्था आज मथुरा नरेश कंस की भी है।

वृन्दावन का मनोहारी दृश्य है। एक ओर गौवें चर रही हैं, तो दूसरी ओर बछड़े। बालक दो दलों में बंट गये हैं। एक दल भगवान श्रीकृष्ण का है, तथा दूसरा दल श्री बलराम का है। दोनों दल स्पर्धा से खेलने की तैयारी में हैं। शर्त भी लगी है कि जो दल हारेगा वह जीते हुए दल के लड़कों को पिट्ठू देगा। हारे हुए दल के लड़के विजयी हुए दल के लड़कों को अपनी पीठ पर बैठाकर घुमायेंगे। उसी समय ग्वाले का रूप धारण करके प्रलम्बासुर भी प्रकट होता है। कृष्ण और बलराम से

प्रार्थना करके वह भी खेल में शामिल हो जाता है। प्रलम्बासुर श्रीकृष्ण की टोली का सदस्य बन जाता है। खेल शुरू होता है। बलराम की टोली जीत जाती है। गोपाल की टोली पराजित होती है। नियम के अनुसार हारे हुए दल के लड़कों को जीते हुए दल के लड़कों को अपनी पीठ पर उठाना है। गोविन्द, श्रीदामा को अपनी पीठ पर उठा लेते हैं। प्रलम्बासुर शीघ्रता से बलराम के समीप जाता है और श्री बलराम को अपनी पीठ पर उठा लेता है। इस प्रकार हारे हुर दल के प्रत्येक सदस्य जीते हुए दल के एक-एक सदस्य को अपनी पीठ पर उठाकर सब एक साथ दौड़ रहे हैं। तभी प्रलम्बासुर अपने विकराल रूप में प्रकट हो, बलराम को पीठ पर उठाकर हवा में उड़ा ले जाता है। सारे बालक भयभीत होकर चिल्लाने लगते हैं। तभी बलराम जी भी सचेत होते हैं। श्रीबलराम पाते हैं कि वह एक महा बलशाली असुर है जिसकी पीठ पर बैठे हैं। जो उन्हें हवा में ऊँचे से ऊँचा उठाये लिए जा रहा है। श्री बलराम जी स्वयं में अतुलित बल का संचार करते हैं। वे अपने भार को अत्याधिक बढ़ाने लगते हैं तथा असुर पर घूसों से प्रहार करने लगते हैं। श्रीबलराम जी शेषनाग के अवतार हैं। शेषनाग के रूप में वह सारी धरती को अपने फनों पर धारण करते हैं। उनकी शक्ति के प्रहार से प्रलम्बासुर मृत्यु को प्राप्त होता हुआ धरती पर आ गिरता है। इस प्रकार प्रलम्बासुर मारा जाता है।

"प्रलम्ब" शब्द का अर्थ दूसरों पर अवलम्बित होकर जीना है। परावलम्बी होना। भौतिकताओं को ही सब कुछ मानकर जीना। भौतिकताओं के सहारे जीना! परावलम्बन की पीठ पर बैठे जीव को प्रलम्बासुर नष्ट कर देता है। जो स्वावलम्बी अर्थात् आत्मा पर अवलम्बित होकर जीने वाले हैं। वे ही अपने जीवन में प्रलम्बासुर को मारकर सुखी हो पाते हैं।

धर्म यह नहीं कहता कि मकान, दुकान आदि न बनाओ। धर्म भौतिक सुखों को एकत्र करने तथा भोगने से भी मना नहीं करता है। कथा का मात्र इतना ही उद्देश्य है कि सहारा मात्र आत्मा का रखो। इसी कथा को भगवान श्री राम की कथा में भी दर्शाया गया है।

जानकी जी को खोजते हुए वानर, सागर के किनारे आये हैं। सम्पाती ने बताया है कि सागर के बीच में एक द्वीप है। जिसमें लंका नाम की एक सुन्दर नगरी बसी है। अशोक वाटिका में जानकी जी वहां पर विराज रही हैं।

प्रश्न उठता है, कि लंका तक कोई जाए कैसे? सारे वानर अपनी सामर्थ्य बता रहे हैं। कोई कहता है कि वह छः योजन तक उड़ सकता है। किसी ने दस योजन की बात की है! अंगद जी का कहना है कि वह उड़कर लंका तो पहुँच सकते हैं पर उन्हें लौटने में संदेह है। वह लौट नहीं पायेंगे। सारे वानर हनुमान जी से पूछते

हैं। हनुमान तुम भी मौन तोड़ो, अपनी सामर्थ्य हमको बताओ! हनुमान जी उत्तर देते हैं, "जो सामर्थ्य आप सब ने बताई है, मुझमें तो उतनी भी सामर्थ्य नहीं है। परन्तु जिन भगवान श्रीराम के चरणों में मैं समर्पित हूँ, उनके चरणों की कृपा से मैं उड़कर जा भी सकता हूँ, और आ भी सकता हूँ।"

पवनसुत हनुमान जी हवा में उड़ चले। जब वे सागर के ऊपर से उड़ते हुए जा रहे होते हैं, तब राह में उन्हें पर्वतराज मैनाक प्रकट हो जाते हैं, मैनाक पर्वत ने श्रीहनुमान जी से कहा, प्यारे हनुमान! मुझे सेवा का अवसर दो! मेरी पीठ पर तुम विश्राम करो, मैं स्वयं उड़कर तुम्हें लंका पहुँचा दूंगा। "मित्र! तुम्हारे पिता वायु देवता का मुझपर बहुत बड़ा उपकार है। जब इन्द्र सभी पर्वतों के पंख काट रहा था। तब तुम्हारे पिता, वायु देवता की कृपा से मैं उड़कर सागर में छिप गया, जिससे मेरे पंख कटने से बच गये। तुम क्यों व्यर्थ में श्रम कर रहे हो। आनन्द से मेरी पीठ पर बैठो, मैं तुम्हें उड़ाकर लंका पहुँचा देता हूँ।"

वीरवर हनुमान ने बड़ी विनम्रता से पर्वतराज के अनुरोध को अस्वीकार कर देते हैं। हनुमान कहते हैं, "हे पुनीत मैनाक! मैं आपकी भावना का अति सम्मान करता हूँ। परन्तु मित्र मैं आपका सहारा नहीं ले पाऊँगा!"

ऐसा क्यों हनुमान? पर्वतराज मैनाक पूछता है।

"इसलिए कि यदि तुम्हारा सहारा ले लिया तो वह सहारा छूट जायेगा, जिसके सहारे मैं अब उड़ रहा हूँ। मित्र! एक सागर तो तुम पार करवा दोगे, लेकिन जीवन यात्रा के नाना भवसागर फिर कौन पार करवायेगा? तुम्हारे इस मित्रवत व्यवहार के लिए मैं तुम्हारा अत्यधिक आभारी हूँ। परन्तु मुझे उन्हीं के सहारे ही उड़ने दो, जिनके सहारे मैं अब उड़ रहा हूँ।"

इस कथा में हनुमान, जीवन का एक अमृतमय उपदेश दे रहे हैं।

तुमने भले ही उपलब्धियों के पर्वत बटोर लिए हों, फिर भी सहारा अपनी आत्मा अनन्त का ही रखना। उपलब्धियों के पर्वत न तो जीवन को एक क्षण दे पाते हैं, न ही एक सांस और न ही कुछ धड़कनें। भौतिकताओं पर अवलम्बित होने वाले ईश्वर को खो बैठते हैं। अंजाने ही प्रलम्बासुर की गोद में जा बैठते हैं, जो उन्हें निगल जाता है। सहारा हो तो अपनी अन्तरात्मा गोविन्द का!

जो कुछ भी उपलब्धियों के पर्वत हैं! जो कुछ भी है वह उसी का है! जो स्वामी है संसार का! जब ये संसार मेरा नहीं तो इससे जुड़ा संसार और उपलब्धियों का पर्वत भी तो मेरा कहां है? मैं तो मात्र निमित्त हूँ! निमित्त भाव में जीना ही प्रलम्बासुर से बचना है। ईश्वर को अर्पित होकर जिन्होंने प्रभु के निमित्त होकर जीना सीख लिया है। प्रलम्बासुर उनका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता है।

वेदव्यास! तुम्हारी इस कथा का अमृत हमें अमर राह दे रहा है। तुम्हारे नायक भगवान श्रीकृष्ण की नीलाभ ज्योतियों का स्पर्श सुख मैं भी अपने विचारों में पाने लगा हूँ। काश! हम भी परावलम्बन से स्वावलम्बन की ओर बढ़ पाते। एक सहारा होता आत्मा का! गोविन्द का!

आधुनिक शिक्षा, शिक्षाविद्, शिक्षापद्दति एवं शिक्षा के मूल उद्देश्य सबकुछ बहुत ही बौने होकर रह गये हैं। शिक्षा का मूल सूत्र, मात्र एक जन्म की तथाकथित भौतिक उपलब्धियाँ भर ही रह जायें? क्या मनुष्य कभी भी मनुष्यत्व को प्राप्त हो पायेगा? मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा के साथ जुड़कर स्वाभिमान पूर्वक निज स्वरूप को पहचानता, प्रकृति एवं पुरूष प्रदत्त लक्ष्य को धारण कर पायेगा?

आपने रामलीला नाटक तो देखे ही होंगे। श्रीरामलीला कथा अब टेलीविज़न पर भी दिखायी जाती है। कल्पना करें आप रामलीला के नाटक में एक पात्र हैं। नाटक के डायरेक्टर आपको आपका पार्ट याद करवाते हैं। आपको अभिनय का यथा अभ्यास करवाते हैं। आपको अभिनय के अनुरूप परिधान, किरीट मुकुट, अस्त्र शस्त्र आदि प्रदान करते हैं। नाटक के उपरान्त आपको सबकुछ लौटा देना आवश्यक है। आप अपने साथ अपने घर नहीं ले जा सकते। जो संवाद आपने रामलीला में दूसरों से कहे हैं, उन्हें मंच से हटने के उपरान्त आप नहीं की सकते। क्या आप अपनी पत्नी का अभिनय कर रहे कलाकार को मंच के उपरान्त भी पत्नी मानने का साहस कर सकते हैं? कदापि नहीं! मारपीट तक की नौबत आ सकती है।

ठीक! इसी प्रकार ही जब आप जीवन रूपी नाटक खेलने जीव रूप में धरा पर प्रकट हुए तो आत्मा ने ही आपको शरीर रूपी परिधान प्रदान किया। माता अथवा पिता अपने ही शरीर का कोश बना सकने में समर्थ नहीं हैं। वे भी आपकी ही भांति जगत लीला कमेटी में माता पिता का अभिनय भर ही कर रहे हैं। आत्मा ही जगत रामलीला कमेट का डायरेक्टर है।

जब आप जीवन के नाटक को खेल चुके अर्थात जीवन नाट्यशाला से बाहर होने का समय आ गया। आप से भी कहा गया सम्पूर्ण परिधान, अस्त्र शस्त्र, भौतिक तथा बौधिक उपलब्धियों को चिता की लकड़ियों पर परित्याग करते अपने घर अथवा गन्तव्य की ओर प्रयाण करें। जीवन नाटक के संवाद, नाते रिश्ते नाटक तक ही सीमित होकर रह जाते हैं।

क्या आधुनिक शिक्षा, शिक्षाविद्, प्रणाली तथा प्रणेता कभी इस ओर भी ईमानदार होंगे?

हरि ॐ! नारायण हरि!

23

चीर-हरण!

वेदव्यास! तुम्हारी रहस्य-लीलाओं के अमृत को अधिकारी ही पा सकता है। ब्रज की गोपियों की रास लीलाओं का आनन्द केवल अधिकारी को ही मिल सकता है। तुम अपनी कथाओं के द्वारा हमें गोविन्द की लीलाओं का अधिकारी बना रहे हो। कृष्ण की मधुर रास लीलाओं के, आनन्द के अधिकारी सांसारिक कदापि नहीं हो सकते हैं। सांसारिक शब्द से मेरा तात्पर्य उन लोगों से है, जिन्होंने अपने जीवन की डोर मिथ्याभिमानी मन कंस के हाथ में सौंप दी है। पूतना के पूत हैं जो! तृष्णावर्त, अघासुर, बकासुर आदि नाना असुरों को जिन्होंने अपने जीवन में ईश्वर से ऊपर सम्मान दिया हुआ है। जो कंस और कंस की पत्नियों के परम चहेते हैं। वे कदापि भगवान गोविन्द की रसमाधुरी के भी अधिकारी नहीं हैं। वे ही अधिकारी हैं जिन्होंने अपने जीवन के प्रत्येक क्षण में गोविन्द को ही सर्वोच्च स्थान दिया है। जिन्होंने अपने जीवन में सारे असुरों को समाप्त कर राधे-गोविन्द की पवित्र झांकी बसायी है। तुम्हारी लीलाओं ने मुझे मेरे अदृश्य, अपवित्र स्वरूपों से मेरा परिचय कराया है। मेरे जीवन में व्याप्त हो रहे अपवित्र विचार रूपी असुरों को समाप्त करने का अनुपम ज्ञान दिया है। तुम्हारी कथा ही हमें भगवान गोविन्द की प्रेम रस माधुरी तथा गोपियों की लीला का अधिकारी बनाती है। धन्य है बृज की पावन माटी! धन्य हैं बृज की गौवें, गोप, गोपी तथा ग्वाल-बाल! धन्य हैं वहां के वन, उपवन, सरिता, कूल तथा खग-मृग! भगवान वासुदेव की लीलाओं का परमानन्द है। प्रत्येक क्षण कृष्णमय उन्नीदा सा मदहोश है! हर सांस और धड़कन कृष्ण के प्रेम रस में पगी

सी! नेत्रों में बसी राधे-गोविन्द की अति पावन मोहक मनोरम झांकी! कल्पनाओं में फिर-फिर उभरती गोप और गोपियों की गोविन्द के संग पावन रास लीलाएं! रोम-रोम में लहराता रोमांच! पुलकित मन और हरिनाम संकीर्तन की मधुर धाराएं! धन्य हैं वे जो तुम्हारी इन पवित्र कथाओं के द्वारा कृष्ण दर्शन के अधिकारी हो जायें!

भगवान गोविन्द के संग गौवें चराते बाल-गोपाल जंगल की अग्नि में फंस जाते हैं। गौवें और बालक रक्षा के लिए भगवान गोविन्द को पुकारते हैं। बाल-कन्हैया अद्भुत लीला करते हैं। जंगल की उस भयानक आग से सभी ग्वाल-बाल और गौवें सकुशल बाहर आ जाते हैं। जीवन के जंगल में वासनाओं और लिप्साओं की दहकती हुई अग्नियों में हमें गोविन्द ही उबारते हैं। अन्यथा जीवन में वासनाओं की ज्वाला प्रचण्ड होती जाती, चिता की ज्वाला बन हम सभी को भस्मसात कर देती है। हमारे मित्र स्वजन भी, "राम नाम सत्य है" "हरि का नाम सत्य है।" गाते हुए हमें उन्हीं ज्वालाओं में झोंक देते हैं। जो राम और हरि के न हुए, उन्हें फिर समय के दावानल निगल ही जाते हैं।

भगवान गोविन्द साढ़े छः वर्ष के हैं। वर्षा का सुहाना मौसम है। चारों ओर प्रकृति में सौन्दर्य और सुगन्ध फैल रही है। सावन के झूले पेड़ों पर पड़े हैं। सुन्दर सुघड़ सजी हुई गोपियां मनोरम गीत गाती वर्षा ऋतु का आनन्द ले रही हैं। गोविन्द का संग है। अंग-अंग में कृष्ण रूपी मस्ती विराज रही है। कृष्ण रस बरस रहा है। ऐसे ही समय में जल में नहा रही गोपियों के वस्त्र भगवान चुरा ले जाते हैं। जल में नहा रही गोपियां निर्वस्त्र ठगी सी रह जाती हैं।

कृष्ण के सामने गोपियां नंगी! सच ही तो है! आत्मा के सामने यह जीव रूपी गोपी सदा ही नंगी रहती है। साड़ी, ब्लाउज, पेटीकोट तथा कमीज, पैंट और धोती बाहर से ही तो मेरे तन को ढक सकते हैं। गोविन्द तो आत्मा होकर मेरे भीतर विराजते हैं। जो मेरे भीतर बैठकर मुझे विशाल आंखों से निर्वस्त्र देख रहे हैं। उनके सामने हम सब नितान्त नंगे ही तो हैं। काश! हम इस सत्य को पहचान पाते तो कम से कम अपनी अन्तरात्मा को तो धोखा न देते! हमने तो अपनी आत्मा के सामने भी मुखौटे लगाये हैं। हममें साहस ही कहां है, कि हम अपनी आत्मा के सामने कभी निर्वस्त्र खड़े हो सकें। दूसरों को धोखा देते-देते, अब हममें इतना भी साहस नहीं है कि हम मूंदकर आंख स्वयं अपनी आत्मा का सामना कर सकें। काश! गोविन्द हमारे इन मुखौटों को अपने से अलग करने का साहस दे पाये होते! हम तो अपना दोष मुखौटों में छुपाते हैं। अन्तरात्मा कृष्ण के सामने भी मुखौटे ही लगाकर जाते हैं। दूसरों के दोष गिना करते हैं।

बड़ी भाग्यवान हैं वे गोपियां जो कृष्ण के सामने निर्वस्त्र हो सकती हैं। अपनी

अन्तरात्मा के सामने वही निर्वस्त्र हो सकता है जो निष्पाप है, पवित्र है, निर्मल है! इसीलिए हे पावन वेदव्यास! तुम्हारी इस रहस्य-लीला को ऋग्वेद का पहला ऋषि मधुच्छन्दा भी गाते हुए नहीं अघाता है।

नि येन मुष्टिहत्यया नि वृत्रा रूणधामहै।
त्वोतासों न्यर्वता।। 1. 8. 2।।

(नि येन मुष्टिहत्यया) कृष्ण वह हैं जिनकी मुट्ठी में है अमृत! जो मुष्ठि प्रहार से मृत्यु को भी मारने वाला है। जीव को अमर करने वाला है। जो असत्य। **(नि वृत्रा रूणधामहै)** जो हमारे असत्य और अज्ञान का विनाश करने वाला है। जो असत्य और अज्ञान रूपी घुमड़ते बादलों जैसे असुरराज वृत्रासुर को भी धूल धूसरित करने वाला है। **(त्वोतासो न्यर्वता)** वही जो जीव को जड़त्व से अलग करने वाला है। जो उसे देह रूपी भौतिक वस्त्र से निर्वस्त्र कर पीताम्बरी ज्योतियों का आवरण देने वाला है, कौन है वह?

ऐन्द्र सानसिंरयिं सजित्वानं सदासहम्। वर्षिष्ठमूतये भर।। 1. 8. 1।।

(ऐन्द्र) हे इन्द्रियों के पुत्र! इन्द्र के बेटे अर्थात् मन की इन्द्रियों से उत्पन्न रे बुद्धि! रे जीव! अर्थात् रे जीव आज पहचान ले उसको! **(सानसिम्)** अजर-अमर ज्योतियों को देने वाला! जीवन की हर विजय को दिलाने वाला अर्थात् **(सजित्वानम्)** तेरा ही अन्तरात्मा! गोविन्द घट-घट वासी कृष्ण। **(सदासहम्)** अर्थात् जो तेरा नित्य साथ करने वाला है। मत भूल उस क्षण को, जिस क्षण तेरे घर और द्वार तेरा साथ छोड़ देते हैं। चल देता है, तू बनकर अर्थी! कुछ चलते हैं संग तेरे! कुछ राह में छूट जाते हैं! चिता की लकड़ियों पर शरीर भी साथ छोड़ देता है! उसकी परछांई भी उसे छोड़ जाती है। परन्तु फिर भी रे जीव! जिस-जिस योनि में तू प्रायश्चित के लिए, भटकने के लिए जाता है वह तेरा संग करता है। आत्मा होकर फिर-फिर तेरा संग करने आता है। तुझे वहन करने आता है। **(रयिम्)** शीघ्रता से तत्क्षण। **(वर्षिष्ठम्, ऊतये)** उसकी महानतम रश्मियों से, ज्योतियों से, अपने अन्तर के घट। **(भर)** भर ले! उस गोविन्द को जान! तू सदा निर्वस्त्र खड़ा है उसके सामने! वही तुझे जीवन को देने वाला है! वहीं तेरे असत्य और अज्ञान का नाश करने वाला है! वही तेरा सदा वहन करने वाला है। उसी का हो जा! उसी में खो जा! निर्वस्त्र जा सामने उसके, जिससे पहचान सके तू अपने ही मन के कोने अंधेरे! न उसके सामने मुखौटे लगा! उसके सामने नितान्त नंगा हो जा! वही उतारे तेरे इस आवागमन के रूप को और पुनः अपनी पीताम्बरी ज्योतियों से सवस्त्र कर, ज्योर्तिमय स्वरूप दे!

श्रीमद् भागवतमहापुराण के महान रचयिता! रहस्य लीलाओं के विलक्षण जादूगर!

गुरूकुल शिक्षा प्रणाली की अमर आत्मा! तुम्हारे पुत्र शुकदेव का रहस्यमय स्वरूप अनायास स्पष्ट हो उठा है। शुकदेव जी आपके पुत्र हैं। सदा निर्वस्त्र रहते हैं। नंगे ही घूमते हैं। कौन हैं यह महानायक? इनकी माता की चर्चा कहीं नहीं आयी है। यह अपनी माता के गर्भ में सोलह (16) वर्ष तक रहते हैं।

मैं आज यह स्पष्ट कर पाया हूं कि भागवत महापुराण ही आपके पुत्र शुकदेव की जननि है। दूसरी माता की कल्पना भी नहीं हो सकती। हे रहस्यवाद के चतुर चितेरे! तुमने शुकदेव के रूप में प्रत्येक भक्त मात्र के निर्वस्त्र विवेक को रहस्यमय ढंग से उभारा है।

शुक शब्द का अर्थ है - तोता! देव शब्द देवत्व से अर्थात अध्यात्म को इंगित करता है। शुक देव अर्थात आध्यात्मिक तोते की तरह श्रीमद् भागवत महापुराण के गर्भ में 16 वर्ष तक रहते हुए रटो। तब कहीं तुम्हें नंगे शुकदेव के रूप में जीवन सत्य रूपी विवेक शुकदेव की प्राप्ती होगी। निर्धूम नग्न सत्य को जानना तथा जानकर निष्ठापूर्वक जीना? क्या आधुनिक युग और शिक्षा में सम्भव हो सकता है?

धन्य हैं बृज की गोपियां! भीतर बाहर एक ही शुकदेव भक्ति में जी लेती हैं। वे किसी गुरूकुल में पढ़ने भी नहीं जाती हैं। श्री राधा ही उनकी गुरू हैं। बृन्दावन ही गुरूकुल है। श्री कृष्ण ही सम्पूर्ण पाठ्यक्रम है।

जीवन एक अनन्त यात्रा का नाम है, जीवात्मा एक नित्य यात्री है। योनि तो मात्र यात्रा का एक क्षणिक ठहराव भर है। थोड़ा रूक लें, कुछ सुस्ता लें, कुछ खा पी लें, कुछ ताज़ा दम हो लें। फिर भोर की पहली किरण के साथ अपनी यात्रा पर चल दें। यात्रा का क्षणिक ठहराव तो यात्री का परिचय नहीं होता। काश! आज का मनुष्य स्वयं को पहचान पाता!

एक समय की चर्चा है। एक महादानी सबकी सेवा करता था। जो भी यात्री उसके पास से गुज़रते उनकी निष्काम भाव से समर्पित सेवा करता। एक बार दो विशालकाय पक्षी, थके हारे धरती पर उतरे। दानी दौड़कर उनकी सेवा के लिये उनके समीप गया। उन्हें भोजन तथा आवश्यक इच्छित सेवायें अर्पित करके उनके समीप जिज्ञासावश बैठकर पूछने लगा," देव! लगता है आप बहुत लम्बी यात्रा करके क्लान्त हो गये हैं! आगे भी यात्रा लम्बी है! कहें तो कुछ साथ में बन्धवा दूं?" "तब तो हम उड़ थी न पावेंगे हे दानी! उत्तर मिला।

हरि ॐ! नारायण हरि!

24

यज्ञपत्नियों पर कृपा!

गौवों को चराते हुए ग्वाल-बाल भगवान वासुदेव और श्रीबलराम जी के साथ बहुत दूर निकल गये हैं। खेल-खेल में गौवों को चराते, आगे बढ़ते बालकों के समूहों को समय का ध्यान नहीं रहा है। वे बहुत दूर यज्ञीय ब्राह्मणों की बस्तियों के समीप जा पहुँचे हैं। बालक बहुत भूखे हैं। वन में कोई जंगली फल आदि भी नहीं हैं, जिससे वे क्षुधा तृप्ति कर सकें। भगवान श्रीकृष्ण और बलराम जी बालकों को सलाह देते हैं। वे जाकर ब्राह्मणों से विनम्रता पूर्वक भोजन की इच्छा करें। गोविन्द उन्हें समझाते हैं कि प्रभु की राह जा रहे व्यक्ति जो सबमें ईश्वर का भाव लाते हैं। वे कदापि उन्हें भोजन देने से मना नहीं करते। ऐसे तपोनिष्ठ ब्राह्मण तो सब में ब्रह्म का भाव रखते हैं।

बालक तपस्वी ब्राह्मणों के पास जाकर क्षुधा तृप्ति हेतु भोजन की कामना करते हैं। वे उनसे श्रीकृष्ण और बलराम का परिचय देकर भोजन मांगते हैं। तपोनिष्ठ ब्राह्मणों के समूह बालकों की उपेक्षा करते हैं। ''हाँ'' अथवा ''न'' किसी में उत्तर नहीं देते हैं। बालक निराश होकर लौट आते हैं।

वेदव्यास! देह मात्र में ब्रह्म को अवतरित करने वाले! तुम्हारी यह कथा युग-युग की कहानी है। इस कथा के साथ भक्तों की उमड़ती हुई भारी भीड़ में उभरते वे तपोनिष्ठ चेहरे; अचानक मेरे मानस पर उभर आये हैं। भागवत की कथा आत्मविभोर होकर सुनने वाले, कृष्ण की कथा में कथा सुनाते समय अविरल अश्रु बहाने वाले, बहुत से चेहरे मेरे सामने उभर आये हैं। मंच पर कथा सुनाते समय वे साक्षात् शुकदेव जी के अवतारी नजर आते हैं। लगता है कि गोविन्द ही उनमें

उतर आये हैं। गोविन्द की कथा में भक्त मात्र उनके कथा प्रवाहों में धुलता और पवित्र होता है। उनकी अमृतमय कथा में सबमें गोविन्द देखने का विलक्षण अमृतमय भाव रहता है। परन्तु यदि कोई छू भी ले, तो वे तपोनिष्ठ कथा वाचक अपवित्र हो जाते हैं। कई-कई दिन तक उपवास करते हैं। प्रायश्चित करते हैं। भक्त समाज को तो वे यहीं सुनाते हैं कि सबमें गोविन्द देखो, परन्तु स्वयं जात-पात के अतिरिक्त कुछ भी नहीं देख पाते। इस लीला में तपोनिष्ठ ब्राह्मणों को लाकर तुमने इस युग के चलन की तथाकथित भक्ति के मुखौटे उतारे हैं। वेदव्यास तुम्हारी यह कथा पतित पावनी गंगा है। तुम्हीं सत्य के रूप सनातन पुरूष हो तुम्हारे द्वारा दिया गया धर्म ही सत्य रूप में ''सनातनधर्म है।''

ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य सभी घरों में जब बालक जन्मता है, बारह दिन का सूतक मनाते हैं। नाल काटने आज भी हरिजन दाई ही आती है। छटी पर्यन्त जच्चा-बच्चा उस हरिजन दाई के हाथ का ही छुआ खाते हैं। ब्राह्मण परिवार में जबतक बालक का यज्ञोपवीत संस्कार नहीं होता वह शूद्र ही माना जाता है। यज्ञोपवीत से रहित बालक ब्राह्मण के घर में भी वेद मंत्रों का उच्चारण नहीं कर सकता। उसे मूर्ति का स्पर्श और धोने का अधिकार नहीं होता। जब तक उसका यज्ञोपवीत संस्कार नहीं होता, वह ब्राह्मणोचित सभी कर्मों का भी अधिकारी नही हो सकता। यह हर घर की कहानी है। परन्तु मोहान्ध मन कंस के दास हम सब, तुम्हारी प्रत्येक परम्परा का निर्वाह करते हुए भी मानवता के नाम पर ऊँच-नीच, छुआछूत और भेदभाव का कलंक और कीचड़ बनकर चिपक जाते हैं। काश! हम इस धरती की सुगन्ध बन पाये होते! सत्य रूप में ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण होते! ब्रह्ममय धरती को जानते! सबमें ब्रह्म ही विराजते हैं, ऐसा जानकर ब्रह्ममय सचराचर को आचरण और व्यवहार में भी उतारते। काश! ऐसा हो पाता! हम सब ईमानदार ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण बन पाते। ब्राह्मण वही होता है जो ब्रह्म को समर्पित हो। ब्रह्म की भांति ही सचराचर से प्रेम करे। सम्पूर्ण सचराचर को ब्रह्ममय जाने! अपने शरीर और इन्द्रियों को भी ब्रह्म का धरोहर जानता ब्रह्म के लिए ही प्रयोग करे। उसी को सच्चा ब्राह्मण कहते हैं।

भगवान श्रीकृष्ण ने उन बालकों को यज्ञपत्नियों के पास भेजा कि वे जाकर उनसे भोजन मांगकर लायें। बालक पुनः ब्राह्मण पत्नियों के पास जाते हैं। उन्हें कृष्ण जी ब्रह्ममय अमृत वचनों को सुनाते हैं। क्षुधा तृप्ति के लिए वे उनसे भोजन की कामना करते हैं। यज्ञपत्नियां उन बालकों को सांत्वना देती हैं। उन्हें अमृतमय भोजन देकर भगवान श्रीकृष्ण और बलराम जी के दर्शन की इच्छा करती हैं।

आदिकाल से भारत और भारती ने नारी और पुरूष के भेद को नहीं माना है।

ब्रह्मा, विष्णु और महेश के रूप में जब परमेश्वर की कल्पना हुई, तथा नर रूप में ब्रह्मा, विष्णु और महेश के मन्दिर बनाए गये, वहीं नारी को भी पूर्णरूपेण सहभागी बनाया गया। उसे नव दुर्गा बनाकर परमेश्वर के रूप में प्रकट किया तथा प्रत्येक मन्दिर में उनकी प्रतिमायें विराजी गयी। असुर धर्मावलम्बियों ने नारी को पुरूष की भोग्या मात्र माना था। उसे धर्म स्थान तथा पूजा करने से वर्जित कर दिया था। नारी दूषित कहलाती थी। दुर्भाग्य से, गलती से यह अवधारणा ब्रह्ममार्गियों में भी प्रवेश कर गयी थी, आज भी उनमें व्याप्त है। वे नारी को वेद के उच्चारण से वर्जित करते हैं। उसे ''ॐ'' शब्द के उच्चारण का भी अधिकार नहीं हैं पुरूष को जन्मने वाली नारी तथा ईश्वर को भी प्रकट करने वाली नारी व्यासपीठ पर नहीं बैठ सकती। जबकि अदृश्यन्ति, लोपामुद्रा, गार्गी और मैत्रेई आदि आदि बहुत सी महान नारियों ने धरा पर वेद उतारें हैं। वे वेद की मंत्रदृष्टा मानी जाती हैं। ब्राह्मण पत्नी भी होकर उनमें और एक अछूत में कोई अधिक अन्तर नहीं होता है। जबकि सनातनधर्म ने यज्ञ का पहला अधिकार नारी को दे रखा है। भौतिक जीवन में बायें बैठने वाली नारी, जब तक यज्ञ में दायें नहीं बैठेगी, पुरूष को यज्ञ करने का अधिकार नहीं होगा। श्रीराम की कथा में जानकी जी के न होने के कारण ब्राह्मणों ने ही उन्हें यज्ञ से निषिद्ध किया था। तब जानकी जी की मूर्ति बनाकर राघवेन्द्र के दायें बैठाया गयी। तभी उन्हें अश्वमेघ यज्ञ का अधिकार हुआ था। कभी-कभी सत्य के विलोम भी पर्यायवाची हो जाते हैं। कृष्ण की कथा में भगवान श्री वेदव्यास परोक्ष रूप से इन्हीं भ्रांतियों को उजागर करके इनके इनका निराकरण कर रहे हैं। जब सबमें ब्रह्म है, तब नारी और पुरूष में भेद कैसा?

वेदव्यास! हे अमृतमय ज्ञान के दाता! तेरी इस भागवत कथा को सुनाने वाले अधिकारी, परम कृष्ण भक्त भी तेरे इस रहस्य को नहीं जान पाते हैं मेरे ही सामने कुछ ऐसे ही घटनाक्रम एक बार फिर उभर आये हैं। भागवत कथा के अद्‌भुत कथाकार की कथा को सुनकर उस विदुषी ने स्वयं को उनके चरणों में समर्पित कर दिया था। समर्पित भक्त की जीवंत मूर्ति थी वह! भागवत के संत को पाकर उसने अपने जीवन को परम धन्य माना था। उसके पति भागवत की कथा के कथाकार ही नहीं, भागवत कथा के साक्षात् श्रीकृष्ण थे। वह भक्तिमयी उन्हें पाकर सदा अपने को धन्य मानती थी। सबमें कृष्ण का भाव जो उसके पति भागवत की कथा में सबको सुनाते थे, उस भाव की वह अनन्य भक्त थी। अद्‌भुत पतिपरायण, परम भक्त विदुषी आत्म विभोरता के क्षणों में, पति की अनुपस्थिति में व्यास पीठ पर बैठकर घर में भागवत का पाठ करने लगी। उसी बीच पतिदेव मुझको लिए हुए अपने घर में आये थे। व्यासपीठ अपनी पत्नी को बैठी देखकर वे क्रोध से पागल

हो उठे। क्रोध के आवेश में उनके अन्तर के उद्‌गार जो नारी के प्रति थे, वे उबल-उबल कर बाहर आने लगे। नारी जो दूषित है, उसकी इतनी हिम्मत कि वे व्यासपीठ पर बैठ जाये। पत्नी सिर झुकाये अपराधियों सी थर-थर कांपती उनकी इस नयी वाणी को सुन रही थी। वही जिह्वा जो सबमें गोविन्द का दर्शन कराती थी, आज अपनी ही पत्नी को दूषित, कुलटा, अशौच और पतित न जानें क्या-क्या कहे जा रही थी। सुन नहीं सका था मैं, चुपचाप बाहर निकल आया था। परन्तु, वह दृश्य, वह चेहरा, भाव भांगिमायें तथा वे शब्द मुझे फिर कभी न भूले। उनकी भागवत की कथाओं में श्रद्धालुओं की भारी भीड़ उमड़ती रही है। परन्तु, उनमें एक चेहरा है जो मैं कभी न देख पाया, वह था उनकी ही पत्नी का। काश! जिस कथा को वह जन-जन तक सुना रहे थे। उन शब्दों में कुछ ही शब्द वे अपने जीवन में उतार पाते। माँ होकर, बहन होकर, मन्दिर की आराध्या होकर, नवदुर्गा होकर भी वह नारी को स्थान नहीं दे पाये थे। कथा उनकी सबमें कृष्ण दर्शन की बात करती थी। अपनी कथा में कृष्ण के लिए विभोर होकर कथा के आरम्भ से अन्त तक रोते और आज भी रो रहे हैं। जाने कौन से कृष्ण के उपासक हैं वह? पता नहीं किसकी लिखी भागवत है उनके हाथ में? वेदव्यास! वह तुम्हारी लिखी भागवत तो कदापि नहीं हो सकती। उनका उपासक तुम्हारा आराध्य श्रीकृष्ण भी नहीं हो सकता!

सनातनधर्मावलम्बी महान भारत जाति संस्कृति ने आदिकाल से नारी को पुरूष से अधिक सम्मानित स्थान प्रदान किया था। कुंआरि कन्याओं की देवियों के रूप में पूजा; स्वयंवर में पति चयन का धर्म प्रदत्त संवैधानिक अधिकार; पूजा , हवन, यज्ञ अथवा किसी भी धार्मिक कार्य में पति के दायने बैठने का अधिकार, विधवा विवाह अथवा पुर्नविवाह का अधिकार (वेदव्यास की माता के दो विवाह हुए थे तथा उसमें अनुलोम अथवा प्रतिलोम जैसी वर्जना को भी अस्वीकार किया गया था) आदि स्पष्ट रूप से इंगित करते हैं कि आदिकाल से नारी इन भारत जातियों में उपेक्षित अथवा शोषित कदापि नहीं थी। जबकि आर्य जातियों (ईरान तथा उससे जुड़े देशों में रहने वाली असुरधर्मा संस्कृतियां ही इस नाम से जानी जाति थीं। डी.एन.ए. के द्वारा भी यह मान्यता निर्विवाद रूप से प्रमाणित हो चुकी है कि आर्य और भारत दो स्पष्ट अलग जातियां हैं। नारी को इस प्रकार के सम्मान कदापि प्राप्त नहीं थे। यहां तक कि 1918 ई. तक ब्रिटिश की प्रजातान्त्रिक सरकार भी नारी को सम्मानित करने में असमर्थ थी। ऐमली नाम की विदुषी के बलिदान के उपरान्त ही नारी को समाज में स्थान मिल सका।) में नारी के प्रति संकीर्णता तथा उपेक्षा को धर्म के रूप में प्रतिष्ठित किया गया था। बहुपत्नि प्रथा, हरमप्रथा, नारी को सम्पत्ति तथा सन्तान के अधिकार से वंचित करना, उसे सम्पत्ति (मिट्टी के खेत के

सदृश्य) इस्तेमाल करना, किसी को तोहफा कर देना, गिरवी रखना अथवा बेच देना आदि कुप्रथायें भारत जातियों के अतीत में कहीं भी देखने में नहीं आती। इनका चलन आर्य जातियों में व्यापक मिलता है। गुलामी के दिनों में भारत संस्कृति में भी इनका प्रभाव पड़ा। परन्तु धर्म ने इन्हें कभी नहीं माना।

हरि ॐ! नारायण हरि!

25

गोवर्धन धारण!

भगवान श्रीकृष्ण वृन्दावन में रहकर सुन्दर लीलायें कर रहे हैं। एक दिन वह देखते हैं, कि इन्द्र की पूजा करने के लिए सारे गोप तैयारी कर रहे हैं। भगवान नन्दबाबा से पूछते हैं, कि वे ऐसा क्यों कर रहे हैं? नन्दबाबा जी उत्तर देते हैं, कि इन्द्र मेघों का देवता हैं, उनकी पूजा जो नहीं करते हैं, वे इन्द्र के कोप के भागी बनते हैं। इन्द्र के कोप (भयवश अथवा लोभ के वशीभूत होकर की गयी पूजायें?) के भाजन से बचने के लिए इन्द्र को प्रसन्न करना जरूरी है। इन्द्र मेघों के द्वारा प्रलय भी उत्पन्न कर सकते हैं। भयवश देवताओं की पूजा भला गोविन्द को क्योंकर सहन होने लगी। फल की इच्छा से ईश्वर की पूजा को भी श्रीकृष्ण भ्रान्ति ही मानते हैं। ईश्वर की पूजा तो कामनाओं से मुक्ति के लिए होती है, न कि कामनाओं की पूर्ति के लिए। अभीष्ठ भौतिक, मनोकामनाओं की पूर्ति के लिए मनुष्य को कर्म के द्वारा सिद्ध करना चाहिए। भौतिक उपलब्धियों के लिए ईश्वर की साधना एक बहुत बड़ा अज्ञान है। ईश्वर की राह भौतिक लिप्साओं और वासनाओं के परित्याग के लिए है। जीवन को ईश्वरमय, सार्थक तथा कलात्मक बनाने के लिए है। यदि सकाम पूजा हमें करनी ही है तो भगवान उन्हें समझाते हैं, उसके लिए परमेश्वर ने हमें प्रकट देवता दिये हैं। हम उन देवताओं की पूजा क्यों न करें। धरती पर प्रकट देवताओं की पूजा हम आरती से ही नहीं वरन् कर्म सामर्थ्य और श्रम से भी करें। गोविन्द नन्दबाबा तथा सभी गोपों को समझाते हैं कि ईश्वर की पूजा कभी भी लोभ से तथा फल प्राप्ति से नहीं करनी चाहिए। ईश्वर की पूजा भयवश भी नहीं करनी चाहिए। ईश्वर की पूजा का उद्‌देश्य तो जीवन को ईश्वरमय बनाकर, स्वयं ईश्वर

रूप में प्रकट होने के लिए ही हैं। यदि भौतिक उपलब्धियों के लिए हमें पूजा करनी है तो हम धरती माता की पूजा करें! यमुना मैया की पूजा करें! गौवों और बछड़ों की पूजा करें! अपने वन और उपवन की पूजा करें! गिरिराज पर्वत की पूजा करें! ये सब हमारे धरती पर प्रकट देवता हैं। श्री भगवान कहते हैं, कि परमेश्वर की पूजा ही यदि करनी है, तो ऐसे सर्व अन्तर्यामी परमेश्वर की पूजा करें, जो माटी को बालक बना रहा है। जीव मात्र की जूठन को रक्त में बदल रहा है। ऐसे परमेश्वर तो आत्मा होकर घट-घट वासी हैं। हम सब उनकी पूजा करें। लोभ भय अथवा भौतिक वस्तुओं की प्राप्ति के लिए आकाश की ओर देखना उचित नहीं हैं गोविन्द के गूढ़ अर्थ भरे शब्द गोप और नन्दबाबा के मन भा जाते हैं। वे गोविन्द से कहते हैं, कि गिरिराज की पूजा किस विधि-विधान से करें?

भगवान उत्तर देते हैं, इन्द्र यज्ञ के लिए जो सामग्रियां इकट्ठी की गयीं है, उन्हीं से इस यज्ञ का अनुष्ठान होना है। अनेकों प्रकार के पकवान खीर, हलवा, पुआ, पूरी आदि से लेकर मूंग की दाल तक सब बनाइये। वृज के सारे दूध को इकट्ठा कर लीजिए, वेदवादी ब्राह्मणों के द्वारा भलीभांति हवन करवाया जाये तथा उन्हें अनेक प्रकार के अन्न, गौवें तथा दक्षिणा दी जाये तथा चाण्डाल आदि कर्म में लगे हुए लोगों का भी उचित सम्मान किया जाये। पशु-पक्षियों को भी समुचित सम्मान और भोजन प्रदान करें। गौवों की पूजा करके उन्हें सुन्दर सजाकर इच्छित फल और भोजन प्रदान करें, फिर गिरिराज को भी भोग लगाया जाये। इसके बाद सब लोग खूब प्रसाद खा-पीकर सुन्दर-सुन्दर वस्त्र पहनकर और गहनों से सजधज कर और चन्दन लगाकर गऊ, ब्राह्मण अग्नि तथा गिरिराज, गोवर्धन की प्रदक्षिणा की जाये। ऐसा यज्ञ ही हमें अतिशय प्रिय है। हम सब लोग प्रभु की बनाई सचराचर रूपी बगिया की रक्षा, सेवा तथा भक्ति का संकल्प लें।''

प्राणी मात्र की समर्पित सेवा, जीव मात्र के प्रति दया और आदर का भाव ही सच्ची भक्ति है। नन्दबाबा के साथ सारे बृजवासी वैसा ही करते हैं, जैसा बाल-कन्हैया ने उन्हें उपदेश दिया। वन-उपवन की पूजा करते हैं। वृक्ष-लताओं की पूजा करते हैं! माँ यमुना की पूजा करते हैं। गौवों-बछड़ों, बैलों की पूजा करते हैं! तपोनिष्ठ ब्रह्ममार्गी पवित्र ब्राह्मणों की पूजा करते हैं। सभी जाति के लोगों का उचित आदर, सत्कार तथा उन्हें भोजन वस्त्र आदि प्रदान करते हैं! पशु पक्षियों को भोजन देते हैं। हवन यज्ञ आदि करके गिरिराज की परिक्रमा करते हैं, तथा प्राणी मात्र के प्रति समर्पित होने का संकल्प लेते हैं। वे सब मुदितमन हैं, प्रसन्न हैं। परन्तु बहुतों के मन में इन्द्र की उपेक्षा का भाव बैठा हुआ है। सर्व अन्तर्यामी भगवान श्रीकृष्ण उनके मन के भय को जानते हैं। उनके भाव के निवारण के लिए, नारायण अद्भुत

लीला करते हैं। सर्व शक्तिमान भगवान श्रीकृष्ण, इन्द्र के मन में क्रोध के भाव को प्रकट करते हैं। अपनी उपेक्षा अनादर की बात सुनकर इन्द्र अत्यधिक क्रोधित हो उठता है। वह बृजवासियों से बदला लेने पर उतर आता है। इन्द्र के मन में क्रोध प्रकट करके भगवान इन्द्र के संशयों का निवारण भी करते हैं। यदि कोई इन्द्र की पूजा न करेगा, तो इन्द्र क्रोध करके उससे बदला लेगा। यह तो बड़ा ही निकृष्ट विचार है। देवता तथा माता-पिता अपनी संतति के प्रति बदले की भावना से यदि व्यवहार करें, तो इससे बड़ा और घृणित पाप और कौन सा होगा। यदि बदले की भावना से, पिता से व्यवहार करेंगे, तो पिता और पुत्र में भेद ही क्या रह जायेगा। उस स्थिति में पिता अपने पुत्र से किस प्रकार बड़प्पन की इच्छा कर सकता है? जो देवता अपने आचरण और व्यवहार में अपनी मर्यादा और बड़प्पन को नहीं रख पाते तो वह सम्मान और पूजा का भी अधिकारी नहीं होते हैं। भगवान श्रीकृष्ण इन्द्र गोप-गोपियों तथा हम सब लोगों के संशयों का निवारण लीला द्वारा करते हैं। नारायण इसलिए लीला के द्वारा यह स्पष्ट करना चाहते हैं, कि परमेश्वर और देवता कभी किसी पर कोप नहीं करते हैं। हम अपने असत्य, अज्ञान और पापों के कारण ही यथा कष्ट पाते हैं।

चोर, चोरी करता है। उसे पुलिस वाला ही पकड़ता है तथा न्यायाधीश ही उसे दण्ड देता है। परमेश्वर आत्मा होकर उसे हर क्षण सांस और धड़कन देता है। यदि ईश्वर दण्ड देने पर उतर आये, तो उसकी सांस ही नहीं चलेगी। इसको गोविन्द ने श्रीमद्भागवत्गीता में बड़े ही व्यापक रूप से स्पष्ट किया है। पूजा-पाठ, भजन-कीर्तन जो कुछ भी हम करते हैं, अपने भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक उद्धार के लिए करते हैं। ऐसा हम देवताओं को प्रसन्न करने के लिए नहीं करते हैं, इसलिए ऐसा करके हम ईश्वर पर कोई एहसान नहीं करते हैं। भगवान कोई आज के राजनीतिक नेता नहीं हैं, जिन्हें चमचों, चाटुकारों तथा भाण्डों की जरूरत है। ईश्वर की साधना का उद्देश्य अपनी वृत्तियों को पवित्र करना, असुर वृत्तियों से छुटकारा पाना तथा जीवन को सुन्दर, वरद् और कलात्मक बनाना है। श्रीमद्भागवत्गीता हम सबकी अमृतमयी कहानी है। मनुष्य मात्र की आत्मकथा है।

इन्द्र अत्याधिक कुपित हो उठा है। काले घने प्रलयंकर मेघ बृज के आसमान को गहराने लगे हैं। गोविन्द मन ही मन मुस्कराते हैं। इन्द्र अपने गरजते बादलों के साथ प्रकट होता हैं वर्षा का प्रलय आरम्भ कर देता है। मूसलाधार पानी बरस रहा है। चारों ओर जल ही जल भर गया है। झोपड़ियां ढहती जा रही हैं। आकाश से भारी ओले की वर्षा भी आरम्भ हो गयी है। गौवें और बछड़े भी भयभीत भाग रहे

हैं। प्रलय का तांडव मच गया है। लगता है इन्द्र आज वृन्दवन के सम्पूर्ण जन-जीवन को मिटाकर रख देगा। गोप और गोपियां भागकर कृष्ण के पास आती हैं। गोविन्द से कहती हैं, कि वह उनकी रक्षा करें। उन्होंने इन्द्र की पूजा नहीं की है, इसीलिए इन्द्र उनसे बदला ले रहा है। भगवान श्री गोपाल उन सबको लेकर गिरिराज के पास आते हे। और पर्वत को अपनी उंगली पर उठा लेते हैं। सभी गोप-गोपियों से वह कहते हैं, कि गौवों को लेकर वे सब पर्वत के नीचे आ जायें। वे सब निर्भय होकर पर्वत के नीचे आ जाते हैं। इन्द्र का घमण्ड चूर-चूर हो जाता है। उसे अपनी भूल का अनुभव होता है। भगवान श्रीगोविन्द से वह क्षमा याचना करता है। गोविन्द की आरती, पूजन तथा आरती वंदन करता है। इन्द्र अपने लोक को लौट जाता है।

इस कथा में भगवान वेदव्यास हम सबको पूजा, भक्ति तथा हमारे कर्तव्य ओर कर्म के प्रति संशय रहित कर रहे हैं। इस अमृतमयी कथा में पूजा के उद्देश्य को तथा उसके मर्म को भी बड़े ही मनोरम ढंग से उन्होंने स्पष्ट किया है। सच्चे भक्त वहीं हैं, जो सम्पूर्ण सचराचर में परमेश्वर का भाव करें। ईश्वर सब में है, ऐसा जानकर सम्पूर्ण सचराचर की समर्पित भक्ति, पूजा , समर्पित कर्म से तथा सेवा भावना और जागरूकता से करें!

गुरूकुल शिक्षा में छात्रों को बाल्यकाल में ही सुसंस्कृत करने की सरस कला ही रहस्य लीलाओं की जनक है। बाल्यकाल में ही बालकों के मन के खाली घड़े अमृत ज्ञान से भरने की कला का प्रचलन हमें भारत जाति संस्कृति तथा धर्म में ही मिलता है जो कि आज़ादी के उपरान्त राष्ट्रपिता महात्मा गान्धी इसी गुरूकुल शिक्षा को राष्ट्रीय स्तर पर लाने के पक्षधर थे। इसके पक्ष में उनके तर्क बहुत ही सशक्त एवं अकाट्य थे,

''विश्व में 20 प्रतिशत लोग गरीबी की रेखा से नीचे हैं जबकि सभी राष्ट्रों का सुरक्षा बजट 20 प्रतिशत से अधिक है। हमें प्रकृति ने नहीं, सरकारों ने गरीबी की रेखा के नीचे धकेला हुआ है। यदि गुरूकुल शिक्षा के प्रयोग से कोमल बाल्यावस्था में छात्रों को पूर्ण मानवीयतापरक तथा सुस्पष्ट चेतना एवं सोच से वरद कर दिया जाये, तो हमें बड़े सुरक्षा बजट के भार नहीं उठाने पड़ेंगे। मनुष्य को गरीबी की मार से बचाया जा सकेगा। गुरुकुल शिक्षा द्वारा कोमल में मानवीयता को अंकुरित करके साम्प्रदायिकता तथा जातपांत की अमानवीय पीढ़ा से समाज तथा देश का उद्धार सम्भव है। दहेज, छुआछूत आदि कुरीतियों का सहज उन्मूलन भी गुरूकुल शिक्षा द्वारा सम्भव है।''

महात्मा गान्धी अपनी इसी सोच में विश्व गवर्मेंट की कल्पना भी करते थे। एक

विश्व सरकार ही सम्पूर्ण विश्व को सुव्यवस्थित करे, बहुत सारी सरकारों के खर्च की मार से बचा जाये। वे आरक्षण और साम्प्रदायिक वर्गीकरण के विपरीत थे। उनका मनना था इससे समस्यायें अधिक विकराल होंगी तथा मानवीयता का सर्वथा विखण्डन होगा। राष्ट्र का भी विखण्डन हो जावेगा। उनकी इसी सोच के कारण उनके समीपी नेता भी मानने लगे थे कि वे बुढ़ापे तथा रोग के कारण सठिया गये हैं, इसलिये अंटशंट बोल रहे हैं। क्या आप भी ?

हरि ॐ! नारायण हरि!

26

रास लीला!

राधे और गोविन्द की अनुपम जोड़ी को पाकर बृजवासी अनजाने ही ब्रह्म के सूक्ष्म रहस्यों को पा गये हैं। बड़े-बड़े योगी और तपस्वी जिस अमृतमय ज्ञान को अध्ययन, मनन, जप, तपस्या, त्याग और वैराग्य के द्वारा नहीं पाते हैं, उसको वृन्दावन के गोप और गोपियों ने सहज ही पा लिया है। अब वे सब जानते हैं कि ईश्वर भय की वस्तु नहीं है! ईश्वर लोभ का विषय नहीं है! ईश्वर को चमचों और चाटुकारों की जरूरत नहीं है। ईश्वर तो पवित्र प्रेम का दूसरा नाम है। जो सचराचर से प्यार करते हैं, वे ही सचराचर के स्वामी को प्रसन्न कर पाते हैं। प्यार भी ऐसा जो आत्मस्थ हो। प्रभु के सामने दिखावा और छल नहीं चल सकता है। उसके सामने तो हम सब नंगे हैं। जो भीतर बैठकर हमें देख रहा है। उसे सच्चे प्यार और भक्ति तथा समर्पण के द्वारा ही पाया जा सकता है। बृज के गोप और गोपियों ने उसे सचमुच पा लिया है।

अभाव के दुखते क्षण! कंस की लूट-घसोट के बाद बेचारे गोप के पास बचता ही क्या है! फूस की झोपड़ियां! फटे चिथड़ों में लिपटी जिन्दगी! हर ओर अभाव ही अभाव! बच्चों से छिपाकर कंस के लिए कर के रूप में मक्खन चुराकर बटोरती गोपियां! मक्खन के लिए तरसते उनके अपने ही बच्चे! परन्तु वे बेचारी करें भी तो क्या? यदि मक्खन नहीं पहुँचा, तो आतताई कंस उन्हें बहुत सतायेगा!

कृष्ण को पाकर अभावों में पलती, यह जिन्दगी भी मोहक एवं ऐश्वर्यमय हो उठी है! निर्धन गोप अपनी पत्नी की फटी हुई धोती देखकर तड़प कर कहता है, ''कितना दुर्भाग्य है कि मैं तुझे एक अच्छी धोती भी नहीं लाकर दे सकता!''

"मेरे स्वामी! आप तो हैं मेरे पास! हे गोविन्द! आपके प्रेम ओर सामीप्य से बड़ा वस्त्र और कौन सा है?"

गोपी ने जब से, सबमें गोविन्द भाव लाया है, उसे धरती का सबसे बड़ा ऐश्वर्यमय खजाना मिल गया है। पति में कृष्ण है, पुत्र भी कृष्ण रूप है! सास और ससुर भी राधे और गोविन्द की मनोहर छवि हैं। गोपी के सुख की कल्पना भी क्या हो सकती है।

आंगन में बैठी दही बिलो रही है। चेहरे पर खुशी की दिव्य चमक है। दही बिलोये जा रही है और कहती भी जा रही है, "अरे! कन्धे से तो उतर जा, मत सता मुझे! जब मक्खन निकल आये तो खा लेना! दही बिलो लेने दे!"

पति हैरत से उसकी ओर देखता है। वहाँ पर तो कोई नहीं है कन्हैया तो सभी बच्चों के साथ गौवें चराने गया हुआ है। उसके कन्धे पर तो कोई दिखता नहीं है। वह पूछता है पत्नी से, "री पगली! कन्हैया तो गौवें चराने गया है। तेरे कन्धे पर भी तो कोई नहीं है?"

"अजी तुम नहीं जानते उसके छल को! वह एक साथ सभी जगहों पर रहता है! मेरे कन्धे से लटक न रहा होता, तो मेरा कन्धा कैसे झुक जाता, वह बड़ा छलिया है!"

आंखे नचाकर गोपी उत्तर देती है।

घर का आंगन बुहार रही है गोपी! गुनगुनाती, गाती, इठलाती, झाड़ू दे रही है। उसके ध्यान का कृष्ण आंगन के कोने में खड़ा है। उससे कहती भी जा रही है,

"तेरा आंगन तो बहार दूँ, फिर नाच लेना मेरे संग!"

कृष्ण के रूप में उसने परंब्रह्म को बसाया है। उसके आंगन में, उसके बिस्तर पर, उसकी रसोई में, आंगन के विशाल वृक्ष की टहनियों पर, हर ओर उसे बाल-कन्हैया के ही दर्शन होते हैं। उसके जीवन का प्रत्येक क्षण कृष्ण का सामीप्य और सान्निध्य पाकर ब्रह्ममय होकर महक उठा है। सारे वेदों के निचोड़े हुए सत्य को गंवार गोपी ने अनायास ही पा लिया है तथा आत्मस्थ कर लिया है। बड़े भाग्यवान हैं वे, जो इस आत्मस्थ अवस्था को प्राप्त होने के अधिकारी हो जायें।

अद्‌भुत लीला है, राधे-गोविन्द की नयनाभिराम जोड़ी की! श्री राधिका जी पावन गुरू हैं और गोविन्द इष्ट की आराध्य मूर्ति। राधा जी राह भी और राह की उपलब्धि भी। गोप और गोपियों के मन में गुरू और गोविन्द दोनों की युगल मूर्ति स्थित हो गयी है। गुरू रूप राधे हैं और गोविन्द तो साक्षात् उनके सामने हैं। गोलोक की सुखद कल्पना वृन्दावन में प्रकट होकर उतर आयी है। जहाँ गोविन्द हैं, वहीं गोलोक है।

शरद ऋतु की प्यारी ठण्डक है, हर ओर प्रकृति मोहक पुष्पों के रंग-बिरंगी छटा तथा मादक सुगन्ध से भर उठी है। अंग-अंग में फड़कन है। आत्मस्थ गोपियों की तपस्या अंगड़ाई लेकर पुनर्युवा हो उठी है राधिका और गोविन्द के साथ चांदनी रात में रास लीला के लिए एकत्र हुए हैं। राधिका जी उन्हें अनुपम उपदेश दे रही हैं,

"प्यारी सखियों! क्षण-खण रस बरसाने वाली रास लीला के रहस्य को मैं बताती हूँ तुमको! अपने आराध्य को समाधिस्थ होकर अपने विचारों में प्रकट करो! अपने मोहक कन्हैया की छवि को उभारो। ध्यांनस्थ होकर उसे सजाओ और संवारो। साधना के द्वारा कृष्ण रूपी भावना को परम् पुष्ट और सशक्त करो। जब गोविन्द तुम्हारे हर ओर मुस्कराने लगें, तभी जानना कृष्ण भक्ति पुष्ट होने वाली है। परम् ब्रह्म गोविन्द को अपने भाव में अधिक पुष्ट होने दो। कल्पनाओं को साकार और सगुण करो। देखो कि तुम्हारे परमेश्वर मोहक कृष्ण तुम्हारे समीप खड़े हैं। फिर उनके साथ महारास करो! नाचो उनके संग! गाओ उनके संग । झूमो उनके संग! नेत्र उसे साक्षात् सगुण साकार देखें! हथेलियां उसे पकड़ने के सुख को प्राप्त हों! अंग-अंग उसका स्पर्श सुख पाये! उसके साथ युगल नृत्य में सगुण साकार एक अटल यथार्थ बनकर रह जाये! शरद् पूर्णिमा की इस मोहक चांदनी रात में आज हम महारास के रहस्य को जानकर साधना के सर्वोच्च शिखर का स्पर्श करेंगे!"

राधिका जी विस्तार से गोपियों को महारास के रहस्यों को बतला रही हैं। गोपियों के तो क्षण-क्षण में गोविन्द बस ही चुके हैं। फिर भी कुछ भोली गोपियों के मन में संशय है। वे विनम्र होकर अपने पावन गुरू राधिका जी से कहती है,

"राधिके! आप तो परम् पुनीत तपस्या हैं, आप गोविन्द ही की तरह सर्वत्र एवं सर्वव्यापी हैं। आपके लिए महारास सहज एवं सुलभ है। आपके जैसी स्थिर अटल, हमारी मन बुद्धि और कल्पनायें नहीं हैं। हम अभी भी साकार सगुण और कल्पना के भेद को प्राप्त हैं। हम तो सहज साधारण गोपियां हैं। हमारे पास न तो अलौकिक शक्तियां हैं तथा न ही वे गुण हैं। महारास के इस रहस्य को पाकर भी हम महारास के उस परम् सुख को कैसे प्राप्त हो पायेगी?"

भोली निष्पाप गोपियां अति दीन होकर, राधिका जी से पूछती हैं। महा तपस्विनी एवं जगत स्वामिनी जगदम्बा की अवतारी राधिका जी साधना तपस्या तथा ब्रह्म के नित्य साक्षात्कार के रहस्य को अत्यधिक सरल एवं मोहक बनाकर गोपियों को समझाती हैं। भोली गोपियों के मन में फिर भी संशय रह जाते हैं। परन्तु फिर वे राधिका जी द्वारा बताये मार्ग का अनुसरण करती हैं! वन में चारों ओर भटक जाती हैं। एकान्त में समाधिस्थ होकर अपने आराध्य मूर्ति गोविन्द को प्रकट करने का प्रयास करती हैं। वन की मोहक चांदनी रात में, उन महा तपस्विनी की सुगन्ध से

अष्टगंध की सुगन्ध स्वतः प्रस्फुटित होने लगती है। महारास का रहस्य छाने लगता है। प्रत्येक गोपी के पास भगवान गोविन्द प्रकट खड़े हैं। गोपियों ने सगुण साकार का स्वरूप पाया है। प्रत्येक गोपी के साथ उसका आराध्य सगुण साकार होकर गोपी की बाहों में उतर आया है। झूम रही है गोपी, गोविन्द के संग! भेद मिट गये हैं! यथार्थ और कल्पनाओं के भेद मिट गये हैं! कृष्ण और गोपी के भेद मिट गये हैं! संसार की सीमाओं के भेद मिट गये हैं! क्षण-क्षण अमृत बरस रहा है! तपस्या और साधना का मोहक नशा छाता जा रहा है! कृष्ण रूपी पावन अग्नियों में गोपी सर्वांग समर्पित हो गयी है! अंग-अंग ज्योति है! अंग-अंग कृष्ण है! अब तो गोपी कहाँ? मात्र गोविन्द है! हर ओर गोविन्द हैं! महारास के अमृत क्षण बरस रहे हैं! तपस्या ने, साधना ने, भावना ने धरती की सीमाओं को तोड़, गगन को छूते सर्वोत्तम शिखर को पाया है! हर ओर कृष्ण हैं! बस कृष्ण ही कृष्ण हैं! महारास का रहस्य चहुँ ओर प्रकट है! गोपी गोविन्द हैं! गोविन्द गोपी! हर ओर राधे गोविन्द हैं! श्री राधे गोविन्द हैं! गोविन्द ही गोविन्द हैं!

वेदव्यास! तुम्हारी इस रहस्यमयी लीला कथा के रहस्य को वही पा सकता जो सकारात्मक सोच विचार का स्वामी हो। नकारात्मक सोच और चटपठी चाट मुहं का स्वाद तो बना सकती है, परन्तु भरपेट भोजन तो कदापि नहीं हो सकती। पेट और सेहत का भी सर्वनाश कर सकती है। जबकि सादा भोजन और सकारात्मक सोच ही तृप्ति तथा सेहत प्रदान करते हैं। गुरूकुल शिक्षा आदिकाल से सकारात्मक आस्तिक सोच की पक्षधर रही है।

प्रकृति ने मनुष्य को विलक्षण मस्तिष्क एवं सोच का स्वामी बनाया है। मानव मस्तिष्क एक साथ विभिन्न नाना स्तरों पर एक साथ कार्य करने में समर्थ है। उदाहरण लेते हैं। कल्पना करें कि आप गाड़ी चला रहे हैं। आपका पूरा चैतन्य ध्यान सड़क पर लगा हुआ है। आपके साथ आपके मित्र भी बैठे हुए हैं तथा आप उनसे किसी ख़ास विषय में सावधानीपूर्वक चर्चा भी कर रहे हैं। जिस विषय में चर्चा हो रही आप उसका गहन चिन्तन भी कर रहे हैं। मार्ग में एक जाना पहचाना चेहरा दिखा आपने उसे भी स्मरण कर लिया। इस प्रकार आपने एक ही समय में चार अलग कार्यों का सम्पादन किया। साधना मन के एक कोने को आराध्य के सामीप्य, सान्निध्य, सरस भक्तिरस को जीने की कला का नाम है। यह एक सरस सकारात्मक सोच है। अन्यथा मन अतीत के चारागाहों में भटकता, व्यर्थ के तनाव झेलता पशु ही होगा।

हरि ॐ! नारायण हरि!

27

अक्रूर जी का वृन्दावन गमन!

वेदव्यास! भले ही महारास दर्शन के हम अधिकारी नहीं हैं। हे तपोनिष्ठ! तुम्हारी दया और कृपा से भागवत रूपी नेत्र के द्वारा हम सब ने महारास रूपी दिव्य दर्शन का अमृतमय रस ज्ञान पाया है। योग जब पूर्ण रूपेण अद्वैत हो जाये, जब उपासक और उपास्य के भेद भी मिट जाएं, जीव और आत्मा अभिन्न होकर एकीभाव में स्थित हो जायें, उस अवस्था का नाम महा रास है। इस महा रहस्य को स्पष्ट करने वाले मात्र तुम्हीं हो।

बृज की गोपियां धन्य हैं, जो इस अमृतमय ज्ञान को पाकर योग और साधना की परमावस्था को प्राप्त हो गयी हैं। बड़ी भाग्यवान हैं वे जिन्हें राधिका सी पावन गुरू मिली हैं तथा कृष्ण सा सर्वांतर्यामी, सर्वव्यापी, आराध्य मूर्ति! गोपियों ने भी विचारों से असुर मारे तथा गोपियों ने भी गोविन्द की राह जाकर दस इन्द्रियों रूपी दस फन वाले कालियानाग को नाथा था। तभी तो वे महारास की अधिकारिणी हुई।

बार-बार वह इस राह पर फिसलती रहीं! बारम्बार पावन गुरू राधिका उन्हें संभालती रही, संवारती रहीं! भोली गोपियां कहती थीं, कि वे साकार को कल्पनाओं में साकार नहीं कर पातीं! श्री राधिका जी उन्हें वन में ले जाकर अभ्यास कराती थीं। गोविन्द जानबूझकर वन में लुप्त हो जाते थे, तब राधिका जी कहती थीं आओ इस वन में हम सब अलग-अलग अपने अंतर के कृष्ण को प्रकट कर उसका सामीप्य लेंगी। अन्तर के कृष्ण को प्रकट कर बाहर के ही कृष्ण को बुला लेंगी। देखने में तो एक बाल-लीला! भोली बच्चियों के गांव के खेल! परन्तु उसमें समाया हुआ एक गहन विशाल पवित्र, तपस्या का सागर! जब मन के कृष्ण बाहर नहीं

आते थे तो गोपियां फूट-फूट कर रोती थीं। उनके गोविन्द क्यों नहीं आये? राधिका जी उन्हें सांत्वना देतीं। उनके संदेहों का निराकरण करती तथा उनकी साधना के राह के कांटे अपनी हथेलियों से बुहारतीं। गोपियां पुनः-पुनः बाल-क्रीड़ा में इस साधना का अनुपम सुखद अभ्यास करतीं। योगी और योगीश्वरों की भी सिर मौर हो गयीं गांव की गंवार गोपियां। पावन गुरू श्री राधिका जी की कृपा से वे उस साधना को प्राप्त हो गयीं हैं। जिसके लिए बड़े-बड़े योगीजन, ऋषि और तपस्वी सतत् प्रयास करते रहते हैं।

बाल-कन्हैया, अद्भुत आलौकिक दिव्य लीला करते हुए वृन्दावनवासियों के जीवन को धन्य, पावन एवं अमृतमय बना रहे हैं। उनकी नाना सुन्दर-सुन्दर लीलाओं से बृजवासी परम् सुखी हो रहे हैं। कंस के भेजे हुए असुर अरिष्टासुर, केशी आदि असुरों का उन्होंने उद्धार किया है। कंस ने और भी नाना असुरों को वृन्दावन में भेजा। परन्तु वे बृजवासियों का कुछ भी नहीं बिगाड़ पाये और भगवान द्वारा मृत्यु को प्राप्त हुए। कंस को लगता है कि उसकी मृत्यु सन्निकट है। मथुरा में कंस हताश है। उतनी ही भयभीत उनकी दोनों पत्नियां अस्ति और प्राप्ति भी हैं। कंस के समीपस्थ मंत्री सुहृद तथा सहयोगी भयाक्रान्त हैं। कंस मानसिक रूप से विक्षिप्त हो रहा है। वह चाहता है कि जितनी जल्दी हो वह कृष्ण की हत्या कर दे! परन्तु, उसे अब ऐसा कोई भी शक्तिशाली असुर नहीं दिखाई पड़ता जो उसकी इच्छा को पूरा कर सके! तभी उसे एक चाल सूझती है। खुशी से उसका चेहरा चमक उठता है। कंस अक्रूर को बुलाने का आदेश देता है। अक्रूर जी कंस के सामने उपस्थित होते हैं। कंस उनसे विनम्र और मधुर बनने का अभिनय करके कहता है,

"हे महान अक्रूर जी! मैं अपने आप को बहुत ही लज्जित अनुभव कर रहा हूँ! मेरे तो पापों का भी कोई अन्त नहीं है। धिक्कार है! मुझ जैसे पापी पर जिसने अपनी निष्पाप तपस्वी बहन देवकी को तथा एक सच्चे मित्र हितैषी वसुदेव को जेल में डालकर भयंकर यातनाएं दी हैं। अहो! अक्रूर जी! मेरे पाप की सीमा कहाँ है! मैं एक निर्मम हत्यारे की तरह उनके पुत्रों की हत्या करता रहा हूँ!"

कंस फूट-फूट कर रोने का अभिनय करता है। बारम्बार अपने पापों का स्मरण करके ग्लानि भरे शब्दों में स्वयं को धिक्कारता है! अक्रूर जी चेहरे को झुकाये हुए मौन होकर उसका सारा नाटक देख रहे हैं। इस अभिनय को करते हुए कंस समझता है कि अक्रूर उसके हृदय परिवर्तन से प्रभावित हो रहे हैं। परन्तु, निष्पाप अक्रूर सिर झुकाये मन ही मन यह विचार कर रहे हैं, कि यह पापी, यह सारा अभिनय क्यों कर रहा है? अब यह कौन सी चाल चलने वाला है? प्रकट में वह कंस को सांत्वना देते हैं। परन्तु, मन ही मन वह जानते हैं कि असुर क्या चाहता

है? क्यों यह सारा अभिनय और पाखण्ड कर रहा है! कंस पुनः कहता है, ''अक्रूर जी मैंने आपके और नन्द जी के साथ भी बहुत अन्याय किये हैं! नंद जैसा परम सहयोगी मित्र और सखा को खोकर मैं बहुत अधिक बेचैन हो उठा हूँ! मैं चाहता हूँ कि मैं नंद जी का उचित सम्मान एवं समादर करके उनसे विनय पूर्वक क्षमा मांगूँ! आप कृपया नन्दजी को तथा उनके दोनों पुत्रों, श्रीकृष्ण एवं श्रीबलराम को यहाँ लिवाकर लाएं। मैं उन बच्चों का भी समादर करना चाहता हूँ।''

अक्रूर जी एक गहरी सांस लेते हैं। अक्रूर जी के मन के संशय का निवारण कंस ने स्वयं ही कर दिया है। वे मन ही मन सोच रहे हैं,

''अहो! यह नीच असुर मेरे द्वारा श्रीकृष्ण और श्री बलराम को मरवा देना चाहता है। यह जान गया है कि श्रीकृष्ण और श्री बलराम जी, नन्द जी के पुत्र न होकर, वसुदेव के ही बेटे हैं। लगता है इसे नारद जी ने सब कुछ बतला दिया है।''

अक्रूर जी मन ही मन भयभीत और चिन्तित हो उठते हैं। सच बात भी यही थी कि नारद जी ने कंस को श्रीकृष्ण और श्री बलराम के विषय में सभी कुछ विस्तार से बतला दिया था! कंस इस बात को पहले ही जानता रहा है। अक्रूर जी मन ही मन विचार कर रहे हैं,

''हे भगवान! मेरी रक्षा करो! ये पापी मेरे द्वारा श्रीकृष्ण और श्री बलराम को बुलवाकर उनकी हत्यायें करना चाहता है। उनकी हत्या में यह मेरे को भी दोष का अधिकारी बनाना चहता है।''

ऐसा मन ही मन विचार करते हुए अक्रूर जी कंस से कहते हैं,

''महाराज कंस आप का विचार अति उत्तम है। परन्तु अकारण ही नन्द जी अपने साथ श्रीकृष्ण और श्रीबलराम को लेकर क्यों आयेंगे?''

''हे अक्रूर जी! मैंने यज्ञ करने का विचार किया है, सोचता हूँ यज्ञ के बहाने श्रीकृष्ण और श्रीबलराम को बुलाकर यहाँ पर उनका भी उचित अभिनन्दन करूँ, जिससे मेरे मित्र नन्द जी मुझ पर अति प्रसन्न हों।''

''जैसी आप की आज्ञा! मुझे कब जाना होगा?'' अक्रूर जी पूछते हैं।

कंस अक्रूर जी को तत्क्षण जाने का आदेश देता है। परन्तु अक्रूर जी उसे किसी प्रकार मना लेते हैं कि अक्रूर जी कुछ दिनों बाद ही वृन्दावन जायेंगे! कंस मान जाता है। निष्पाप अक्रूर जी लौटकर अपने महल में आते हैं! अपने अति विश्वासपात्र गुप्तचरों को बुलवाते हैं तथा एक अति गोपनीय संदेश मथुरा साम्राज्य के आधीन विश्वासपात्र छोटे राजाओं को दूतों के द्वारा भिजवाते हैं। साथ ही महाराज वसुदेव के राज्य में भी गुप्तचरों के द्वारा विशेष सूचना भिजवाते हैं। इन सभी कार्यों को अति गोपनीय रूप से सम्पन्न करने के उपरान्त आश्वस्त होकर अक्रूर जी

वृन्दावन की ओर चल देते हैं।

गोविन्द को अक्रूर जी ही लाने में समर्थ हैं। क्यों? अक्रूर उसे कहते हैं जिसे क्रूरता छू भी न जाये! ''अक्रूर'' शब्द का अर्थ है, अक्रूर जो क्रूरता से रहित है वही अक्रूर है। जो सभी के प्रति कभी भी क्रूरता का भाव नहीं लाता है। ऐसा अक्रूर ही गोविन्द को अतिशय प्रिय है! ''क्रूर'' कर्मा कितने भी बड़े तपस्वी और ऋषि क्यों न हो जायें। परन्तु, वे गोविन्द को नहीं प्राप्त कर पाते। जो क्रूरता से रहित है। जो प्राणी मात्र के प्रति दया का भाव रखते हैं! गोविन्द समान भाव से उनका संग करते हैं।

अक्रूर श्रीकृष्ण के पिता, महाराज वसुदेव के सेनापति हैं। कंस ने इसीलिये उन्हें ही चुना है। नन्दजी को सन्देह भी नहीं होगा और कंस अपने शत्रु से छुटकारा भी पा लेगा।

मोहान्ध मिथ्याभिमानी कपटी मन ही तो इस लीला कथा में कंस का अभिनय कर रहा है। गुरूकुल का प्रत्येक छात्र इस पाठ्यक्रम में अपने अपने मन को सूक्ष्मता से टटोल रहा है। अस्ति अर्थात यह मेरा है। प्राप्ति अर्थात मुझे किसी भी प्रकार उस वस्तु को भी पाना है। यही इस मन कंस की दो पत्नियां है। छल, कपट, झूठ, मिथ्याचरण, लोभ, मोह, आसक्ति, धोखा देकर अपना मतलब गांठना, विश्वासघात करके अपना कार्य सिद्ध करना आदि नाना घृणित विचार और व्यवहार कंस के मायावी असुर हैं। प्रत्येक छात्र लीला रहस्य कथा में स्वयं को खोज रहा है। क्या हम भी उन छात्रों की मानसिक परिपक्वता के अनुरूप इन कथाओं में आत्मचिन्तन करते स्वयं को माजं धो कर पवित्र कर सकने में समर्थ हैं? हम मानते हैं कि हम अतीत के युगों से अब कहीं अधिक समझदार और परिपक्व हुए हैं? क्या सचमुच?

आज जिसे हम तथाकथित समझदारी और दूरन्देशी की संज्ञा प्रदान करते हैं, अतीत के युग के हमारे पूवर्ज कलंक, अभिशाप, मूर्खता और महापाप की जैसी संज्ञायें ही प्रदान करते रहे हैं। यदि कोई व्यक्ति ऐसा व्यवहार करता भी है तो उसके संगी साथी उसे सावधान करते हुए कहते हैं,

'' क्या कंस वाली सोच ले आया? कंस की गति पानी है क्या? जब साथ कुछ जाना नहीं, इस शरीर ने भी चिता पर छूट जाना है। तब दुर्लभ मानव जन्म का सर्वनाश क्यों करना!''

आधुनिक शिक्षाविद्ध, राष्ट्रीय विश्व ख्यातिप्राप्त नेता मन्त्री, समाज सुधारक इसे अंगीकार कर पायेंगे?

हरि ॐ! नारायण हरि!

28

बृज की होली!

बृज में होली का उत्सव अपने पूर्ण यौवन पर है। गोप और गोपियां सुन्दर एवं सुरूचिपूर्ण सजी हुई गोविन्द और श्री बलराम जी के संग होली का आनन्द ले रही हैं। रंग बरस रहा है। रंग झूम रहा है! रंग क्षण-क्षण में रम रहा है। चहुँ ओर आनन्द मस्ती और किलकारियों के क्षण हैं। गोविन्द, राधिका के संग नाना रंगों से रंगे अति मनोरम लग रहे हैं। बृजवासी बहुत प्रसन्न हैं, उनके सुख का कहना क्या? परमेश्वर का संग है! असीम सुख के क्षण हैं! सब आनन्द में झूम रहे हैं। गोपियों के मोहक नृत्य से सारा वातावरण सुखद, ज्योर्तिमय हो उठा है। क्या जाने वे भोले गोप और गोपियां कि गोविन्द के संग उनकी यह सम्भवतः अन्तिम होली है!

होली का पर्व आदि काल से मनाया जाता रहा है। श्रीमद्‌भागवत्‌गीता में अनन्य भक्ति के रूप में जीवन्त कथा प्रहलाद की, भगवान वेदव्यास ने हम सब को सुनाई है। प्रहलाद की कथा भक्त मात्र की कहानी है। युगान्तर अमृतमय कथा है। कथा इस प्रकार है।

हिरण्यकशिपु तथा हिरण्याक्ष दो भाई हैं। दोनों महा मायावी असुर हैं। दोनों के नाम भी उनके गुणों के अनुरूप ही हैं। हिरण्याक्ष शब्द का अर्थ होता है, हिरण्य अर्थात सुनहरी आक्ष अर्थात आँखों वाला, अर्थात् मदांध। मदान्ध व्यक्ति शुभ और अशुभ पाप-पुण्य मित्र और शत्रु के भेद को नहीं जानता। मदान्ध, हिरण्याक्ष भगवान से ही युद्ध ठान बैठता है। वर के मद ने उसे अन्धा बना दिया है। वह धरती को ही रसातल में पहुँचा देना चाहता है। महाविष्णु उसके उद्धार के लिये वराह अवतार धारण करते हैं। पापी हिरण्याक्ष को मृत्यु दण्ड देकर धरती का उद्धार करते हैं। जब

भी मनुष्य हिरण्याक्ष अर्थात् मदान्ध हो जाता है। उसके लिए सारा संसार खो जाता है। मद में अन्धा व्यक्ति ईश्वर को भी कुछ नहीं समझता। जब भी हम मोह, वासना तथा दम्भ को प्राप्त होते हैं। हम भक्त के स्थान पर पापी हिरण्याक्ष बन जाते हैं। तब हम दण्ड के अधिकारी होते हैं, न कि हरि कृपा के! हिरण्याक्ष मन की एक मनोवृत्ति है। जिसको मारे बिना जीवन कदापि सार्थक नहीं हो सकता। विषयान्धता का सुनहरा चश्मा ही हमें हिरण्याक्ष बनाता है। कहते भी हैं 'सावन के अन्धे को हरा ही हरा नज़र आता है।' इस मनोवृत्ति पर वराह की भान्ति सीधा प्रहार करके ही छुटकारा पाया जा सकता है।

हिरण्याक्ष की मृत्यु की सूचना पाकर हिरण्यकशिपु बहुत दुखी होता है। भाई की मौत से उसे भारी सदमा लगता है। मन ही मन वह विष्णु से बदला लेने का संकल्प करता है। बदला लेने की मनोवृत्ति हमें असुर बना देती है। हम सत्य और न्याय को तिलान्जली देकर अन्याय पूर्वक बदले की भावना के वशीभूत हो जाते हैं। हिरण्यकशिपु यह भी जानता है कि महाविष्णु से युद्ध करना उसके लिए संभव नहीं है। इसलिए वह पर्वत पर जाकर घनघोर तपस्या करने लगता है। हिरण्यकशिपु की भयंकर तपस्या से शिव तथा ब्रह्माजी प्रसन्न होते हैं। महाशिव से वरद् होकर हिरण्यकशिपु ब्रह्मा जी की घनघोर तपस्या करके उन्हें प्रसन्न करता है। ब्रह्माजी से वह वर मांगता है। हिरण्यकशिपु चाहता है कि उसे अमरता मिल जाए। वह अजर-अमर हो जाए। ब्रह्मा जी उसे समझाते हैं कि ऐसा वर देना उसके लिए संभव नहीं है। हिरण्यकशिपु कोई दूसरा वर मांग ले। तब हिरण्यकशिपु ब्रह्मा जी से दूसरा वर मांगता है।

''मैं न तो किसी मनुष्य के द्वारा मारा जाऊँ, न देवता के द्वारा मारा जाऊँ। न ही मैं दैत्य, असुर, यक्ष, विद्याधर, मनुष्य, किन्नर के द्वारा मारा जाऊँ। न पशु-पक्षी भी मुझे मार पायें। मैं न तो अस्त्र के द्वारा मारा जाऊँ और न ही शस्त्र के द्वारा! न मैं दिन में मारा जाऊँ और न ही रात में मारा जाऊँ। न तो मैं पृथ्वी पर मारा जाऊँ और न ही जल, आकाश में ही मेरी मृत्यु हो। मेरी मृत्यु न घर में हो, न ही घर के बाहर ही मेरी मृत्यु हो।''

ब्रह्मा जी, हिरण्यकशिपु को उपरोक्त वर दे देते हैं। वर पाकर हिरण्यकशिपु सभी देवताओं को तथा सभी प्राणियों को संतप्त एवं त्रसित करने लगता है। बहुत सारे देव, देवताओं को जीतकर हिरण्यकशिपु उन्हें लूटता है। उनके लोकों को भी ध्वस्त कर देता है। वर के बल के कारण वह अजेय है। मदान्ध होकर वह स्वयं को ही परमेश्वर घोषित कर देता है।

जिन दिनों हिरण्यकशिपु घनघोर तपस्या कर रहा था। उस समय इन्द्र ने

हिरण्यकशिपु के होने वाली संतान को नष्ट करना चाहता था। परन्तु नारद जी ने उसे ऐसा करने के लिए मना किया था। हिरण्यकशिपु की पत्नी नारद आदि ऋषियों के आश्रम में जाकर रहने लगी थी। आश्रम के पावन वातावरण तथा सत्संग का प्रभाव गर्भस्थ शिशु पर भी पड़ा। जब बालक उत्पन्न हुआ तो ऋषियों ने उसका नाम प्रहलाद रखा। सत्संग के प्रभाव के कारण तथा जन्म-जन्मान्तरों का तप और पुण्य के प्रभाव से प्रहलाद असुर पुत्र होकर भी बहुत ही विनम्र भक्त बन गया। तपस्या के बाद हिरण्यकशिपु अपनी पत्नी तथा अपने बेटे प्रहलाद को अपने पास ले आया था। वेदव्यास की कथाओं में सतह के नीचे रहस्यमय मोती छिपे रहते हैं। इस कथा के भी मोती हम सब ढूंढ़े!

''हिरण्य'' शब्द का अर्थ होता है 'सुनहरा' 'हिरण्याक्ष' शब्द का अर्थ होता है- 'सुनहरीआंखें' जब विषय-वासनाओं का सुनहरा सपना आँखों पर छा जाता है। मनुष्य ही मदान्ध होकर हिरण्याक्ष हो जाता है। तब धरती भी रसातल में चली जाती है। उसे अपने अतिरिक्त और कुछ भी नजर नहीं आता है। हिरण्याक्ष का भाई हिरण्यकशिपु। 'हिरण्य' माने सुनहरा तथा 'कशिपु' माने बिस्तर। विषय वासनाओं का सुनहरा बिस्तर अर्थात् विषयान्ध मन ही तो हिरण्यकशिपु है। हिरण्यकशिपु वर के मद से मदान्ध है इस मन रूपी हिरण्यकशिपु को भी वरदान है। मन न तो अस्त्र के द्वारा मारा जा सकता है, न ही शस्त्र के द्वारा। मन हमारा न तो दिन में मरता है और न ही रात में। इस मन को न तो कोई आकाश अथवा जल में ले जाकर मार सकता है और न ही धरती पर। मन न घर में मरता है और न ही घर के बाहर। उसे न तो मनुष्य, देवता मार सकते हैं और न ही कोई पशु-पक्षी। इस प्रकार जो मन के स्वाभाविक वर हैं वहीं पर हिरण्यकशिपु के पास भी हैं। हिरण्यकशिपु शब्द का पर्यायवाची भी विषयान्ध मन ही है। हिरण्यकशिपु का पुत्र है प्रहलाद! 'प्र' अर्थात् 'अमर'। 'हलाद' अर्थात् 'मस्ती'। आत्मा ही अमर मस्ती प्रहलाद है। इस प्रकार हिरण्यकशिपु और प्रहलाद की कहानी प्रत्येक व्यक्ति के जीवन की कहानी बन जाती है। हममें प्रत्येक व्यक्ति कभी हिरण्यकशिपु बनता है तो कभी प्रहलाद। जब भी विषय वासनाओं के सुनहरे बिस्तर अर्थात् हिरण्यकशिपु पर लेट जाते हैं हम भी हिरण्यकशिपु बन जाते हैं। 'सुर' शब्द का अर्थ है 'देवता' तथा 'असुर' शब्द का अर्थ है, 'देवत्व से शून्य'। देवत्व से हीन विचार ही असुर है। जब भी हम हिरण्यकशिपु बन जाते हैं। देवत्व से शून्य हो उठते हैं। स्वयं भी एक घृणित नारकीय जीवन अपने ऊपर ओढ़ बैठते हैं। दूसरों के लिए भी दुख, पीड़ा और दुर्गन्ध का कारण बन जाते हैं।

हिरण्यकशिपु चाहता है, कि सब उसी को ईश्वर मानें। सब हिरण्यकशिपु की

ही पूजा करें। कोई भी विष्णु का नाम न ले। सारा राज्य उसका, उसको भगवान मानता है। उसकी पूजा करता है। परन्तु उसका पुत्र प्रहलाद अपने पिता की बात को अस्वीकार कर देता है। प्रहलाद निर्भय होकर हरि नाम संकीर्तन करता है। हिरण्यकशिपु उसे समझाता है कि वह ही ईश्वर है। प्रहलाद, हिरण्यकशिपु की बात नहीं मानता है और कहता है,

''ईश्वर सब में हैं। नारायण आत्मा होकर घट-घट वासी हैं। नारायण ही सबको उत्पन्न करते हैं। नारायण ही सचराचर के स्वामी हैं।''

हिरण्यकशिपु प्रहलाद को पढ़ाने के लिए गुरूजी के पास भेजता है। गुरू, प्रहलाद को बहुत समझाते हैं। वह हिरण्यकशिपु से बैर मोल न ले। हिरण्यकशिपु को प्रहलाद भगवान नहीं मानता है। प्रहलाद गुरूजी से भी नहीं मानता है। गुरू की भेदभाव की शिक्षा को भी वह अस्वीकार कर देता है। गुरूकुल में पढ़ रहे बच्चे जो सम्मानवश प्रहलाद का स्पर्श नहीं करते हैं, प्रहलाद उनको प्रेरित करता है, कि वे सब बालक प्रहलाद से गले मिलें। प्रहलाद उन्हें समझाता है कि हममें कोई न छोटा है और न कोई बड़ा। हममें राजा और प्रजा का भी भेद नहीं होना चाहिए। भगवान आत्मा होकर हम सबमें समान भाव से विराजते हैं। हमें सबमें समभाव रखना चाहिए।

सभी बालक प्रहलाद के उपदेशों का अनुसरण करते हैं। भय और भेद का परित्याग कर, एक दूसरे के गले में बाहें डाले, हरि नाम संकीर्तन करते हैं।

हिरण्यकशिपु को यह सब सहन नहीं होता है। वह प्रहलाद को अपने पास वापस बुला लेता है। तरह-तरह का प्रलोभन देता है। परन्तु भक्तराज प्रहलाद जरा भी विचलित नहीं होते हैं। क्रोधित होकर हिरण्यकशिपु उन्हें नाना प्रकार की पीड़ायें और दण्ड देता है। हिंसक पशुओं का भय देता है। पर्वत से सागर में फिंकवाता है। जेल में बन्द करके भूखा-प्यासा रखकर अपनी बात मनवाने की कोशिश करता है। भक्तराज प्रहलाद विचलित नहीं होते हैं।

हिरण्यकशिपु अपने ही पुत्र की हत्या पर उतर आता है। उसकी बहन होलिका, हिरण्यकशिपु को सलाह देती है। वह प्रहलाद को अपनी गोद में लेकर आग की लपटों में बैठ जायेगी। जिससे प्रहलाद जलकर राख हो जायेगा। होलिका को सूर्य देव ने वरदान स्वरूप एक दुशाला दे रखा है। उस दुशाले को ओढ़ने के कारण होलिका पर आग का कोई प्रभाव नहीं होगा। होलिका आग की लपटों से सुरक्षित बच जायेगी और प्रहलाद जल जायेगा। हिरण्यकशिपु के आदेशोपरांत होलिका अपने भतीजे प्रहलाद को गोद में लेकर लपटों में प्रवेश कर जाती है। उसी समय तेज आंधी उठने लगती है। होलिका का दुशाला उड़कर हवा में प्रहलाद से लिपट

जाता है। होलिका स्वयं जलकर भस्म हो जाती है। सूर्य के द्वारा दिये गये दुशाले के कारण प्रहलाद अग्नियों से सकुशल बाहर निकल आते हैं।

विषयान्ध मन की बहन अन्यायी संकीर्ण वासना ही तो होलिका है। हमारे जीवन में भक्ति का अभेद भाव प्रहलाद है। हमारा मन हिरण्यकशिपु बन हमारे देव विचारों को भ्रमाने के लिए नाना प्रकार के प्रलोभन देता है। हमारी आस्तिकता को विषयान्धता में बदलना चाहता है। आज शिक्षा भी व्यापक रूप से हिरण्यकशिपु की बहन होलिका ही बन कर रह गयी है। आज की शिक्षा का मूल उद्देश्य है।

''अच्छी नौकरी, ज्यादा तनख्वाह, मोटी घूस! अर्थात् होलिका!!''

अब यही शिक्षा का उद्देश्य मात्र बनकर रह गयी है। प्राइमरी क्लास के अध्यापक से लेकर विश्वविद्यालय के कुलपति, शिक्षामंत्री आदि सभी क्या इसी उद्देश्य के लिए मुझको पढ़ा नहीं रहे हैं? कल की प्रथा में भले ही प्रहलाद गुरू के द्वारा न भ्रमाया जा सका हो। परन्तु, आज तो शिक्षा के सारे उद्देश्य ही हिरण्यकशिपु बन गये हैं।

विषयान्ध मन हिरण्यकशिपु जब प्रहलाद को, अर्थात् आत्मस्थ मस्ती को, मेरे जीवन से मिटा नहीं पाता है, तो नाना प्रकार की पीड़ायें और कष्ट देने लगता है। अपने और पराये की चिन्ता, तनाव और भेदभाव। साम्प्रदायिक उन्माद के पर्वतों से टकराते हमारे आपस के प्रेम और सौहार्द! जातिगत वर्गीकरण के गन्दे घिनौने गुट तथा उनके वैमनस्य और तनाव! यह सब हिरण्यकशिपु की आधुनिक पीड़ायें और यातनायें हैं उसी प्रकार अतीत की कथा में भी हिरण्यकशिपु, प्रहलाद को पीड़ायें देता है। हिरण्यकशिपु की बहन होलिका अर्थात् वासना जब जल जाती है तभी प्रहलाद अग्नियों से निर्भय हो पाता है। होलिका की मृत्यु के कारण हिरण्यकशिपु अत्याधिक क्रोधित तथा विकराल हो उठता है। हिरण्यकशिपु, प्रहलाद से पूछता है कि बता तेरा ईश्वर कहाँ है? प्रहलाद उत्तर देता है, उसका ईश्वर सर्वत्र, सर्व व्याप्त है। उस खम्भ में है, जिसे वह अग्नियों से तपा रहा है तथा जिससे प्रहलाद को लिपटना है।

क्रोधित होकर हिरण्यकशिपु दहकते खम्भे पर गदा मार देता है। प्रहार से विशाल खम्भ फूटकर दो टुकड़े हो जाता हैं दहकते हुए उस खम्भे से भगवान नरसिंह प्रकट होते हैं। उनका ऊपर का शरीर विकराल सिंह का है तथा अधोभाग मनुष्य का है वे आगे बढ़कर हिरण्यकशिपु के सारे अस्त्र-शस्त्र तोड़ देते हैं। उसे धरती से उठाकर अपने पंजों में पकड़ लेते हैं। महल की देहरी पर हिरण्यकशिपु को उठाकर ले आते हैं। जहाँ अपनी जंघाओं पर लेकर उससे इस प्रकार कहते हैं।

''रे हिरण्यकशिपु! आज तू मेरे द्वारा मृत्यु को प्राप्त होगा। इस समय न दिन

है और न रात है, सांझ का झुटपुटा है। इस समय तू न तो धरती पर है, न जल में तथा न ही आसमान पर है, मेरी गोद में है। न तो घर के भीतर है, न ही घर के बाहर है, क्योंकि मैं देहरी पर बैठा हुआ हूँ। तुझको मारने वाला न तो पशु है और न ही नर। क्योंकि मैं आधा पशु हूँ और आधा नर हूँ। तुझे मैं न तो अस्त्र से और न ही शस्त्र से मारूँगा। मैं तुझे अपने पंजों से ही फाड़ डालूँगा!''

भगवान नरसिंह देहरी पर हिरण्यकशिपु को मार डालते हैं। इसके उपरान्त प्रहलाद को अपनी गोद में लेकर प्यार करने लगते हैं। उसको मोक्ष से अर्थात् अमरत्व से वरद् करते हैं।

नरसिंह यज्ञ की ज्वाला का भी नाम है। तपस्या की अग्नियों के द्वारा विषयान्ध मन हिरण्यकशिपु, आवागमन की देहरी पर मारा जा सकता है जब हिरण्यकशिपु रूपी विषयान्ध मन आवागमन की देहरी पर मरता है तभी जीव ब्रह्म ज्वालाओं के द्वारा अमृत का पान करता हुआ मोक्ष का अधिकारी होता है। आदिकाल से होली का पर्व हिरण्यकशिपु और प्रहलाद की कथा के साथ बड़े ही मनोरम ढंग से मनाया जाता है।

आओ! आज हम भी असत्य और भेदभाव की होलियां जलायें! संकीर्ण सम्प्रदायिकता, छुआछूत, जात-पात इन सबको जला दो होलिका के साथ! फिर प्रहलाद की मस्ती को धारण करें। मित्र और शत्रु के भेद मिट जायें! सब पर रंग डालें! सबको गले लगा लें! आज प्रहलाद की होली है! 'प्र' अर्थात् अमर 'आत्मा' सबमें व्याप्त है। आत्मा किसी भेदभाव को नहीं मानती। जो धर्मात्मा दो शब्दों से मिलकर बना है - धर्मआत्मा। जिसने आत्मा के स्पर्श को न जाना। जो प्रहलाद न बना, वह धर्मात्मा कैसा? आत्मा के धर्म को मानने वाला ही धर्मात्मा है। आत्मा अभेद है। अभेद धर्म ही धर्मात्मा का धर्म है। सबमें अपनी आत्मा का दर्शन करो! सब पर पवित्र एवं आत्मस्थ प्रेम का रंग डालो! यही होली का सत्य स्वरूप है।

वृन्दावन में होली के उत्सव का अमृत बरस रहा है। गोप और गोपियां आनन्दमग्न हिरण्यकशिपु और प्रहलाद की कथा का श्रवण कर रही हैं। उनके जीवन में विषय-वासनाओं की होलिका न जानें कब को जल चुकी है। राधिका जी उनसे कहती हैं, कि जीवन के प्रत्येक क्षण में श्रीकृष्ण के संग महारास करो। गोविन्द तो ग्रहों और नक्षत्रों को भी अपनी स्निग्ध ज्योतियां प्रदान कर गगन में प्रतिष्ठित कराने वाले हैं। ग्रहों और नक्षत्रों में भी गोविन्द का महारास देखो। सम्पूर्ण सचराचर में आत्मा होकर गोविन्द ही महारास करते हैं। उन्हें हर ओर प्रकट देखो।

राधिका जी के शब्द मेरे मानस पटल पर मधुच्छन्दा की वाणी बनकर उभर आते हैं।

वृषा यूथेव वंसगः कृष्टीरियर्त्योजसा। ईशानो अप्रतिष्कुतः।। 1. 7. 8।।

(वृषायूथेव वंसगः) श्वेत बछड़ों के झुण्डों की भांति। **(कृष्टीरियर्त्योजसा)** ज्योति और आकर्षण से जगमग गगन में चराने वाले हे ग्वाले! **(ईशानों अप्रतिष्कुतः)** हे आत्मा, हे यज्ञ! आज हमको भी इस रूप से मिटा गगन का ज्योर्तिमय बछड़ा बना दो। आकाश में ग्रहों और नक्षत्रों को बछड़ों के झुण्ड सा बनाकर मोहक, आकर्षक और ज्योति प्रदान कर चराने वाले हे गोविन्द हमें भी अपने कृष्ण रूपी पवित्र अग्नियों में यज्ञ कर, अपनी स्निग्ध ज्योतियों से युक्त कर उन्हीं ग्रहों और नक्षत्रों में बछड़े बनाकर मिला लो। जहां-जहां दृष्टि जाती है, हे गोविन्द! मोहक महारास करती तेरी ही प्यारी छवि अब तो नजर आती हैं। तू ही गगन में ग्रहों और नक्षत्रों को उसी प्रकार आनन्दित कर रहा है, जैसे सघन वृन्दावन में बछड़ों के समूहों को चराता है। काश! हम भी उन बछड़ों जैसे बन पाते। तो सामीप्य और सान्निध्य का अमर सुख पाते!

तुञ्जेतुञ्जे य उत्तरे स्तोमा इन्द्रस्य वज्रिणः।
न विन्धे अस्य सुष्टुतिम्।। 1. 7. 7.।।

(तुञ्चेतुञ्जे) क्षण-क्षण। **(य)** जो। **(उत्तरे)** उठता चला जाता है। **(स्तोमा)** यज्ञ। **(इन्द्रस्य)** ब्रह्म ज्वालाओं के। **(वज्रिणः)** अमृतमय अभेद ज्योतियों के पुँज बनकर। **(न विन्धे)** कभी भी नष्ट नहीं हो सकता वह। **(अस्य)** ऐसा। **(सुष्टुतिम)** पुष्टता को प्राप्त होता है। गोविन्द रूपी अग्नियों में, कृष्ण रूपी यज्ञ में जो कृष्णमय हो, जो स्वयं को समर्पित कर दे। कृष्ण रूपी यज्ञ में सर्वांग, सर्वस्व सहित झुकता चला जाता है। वही यज्ञ की अमर रश्मियों से ज्योति बनकर क्षण-क्षण उठता चला जाता है। वही बनकर ज्योति ग्रहों और नक्षत्रों के श्वेत बछड़ों के समूह में बनकर ज्योर्तिमय बछड़ा प्रतिष्ठित होता है। जो कृष्ण में मिटता है, वही कृष्ण बन उठता है।

राधा जी के अमृत वचन, शिष्य रूप में पान करती बृज की सम्पूर्ण भक्त मण्डली। परम् ब्रह्म के साक्षात् दर्शन के रूप में मोहक बाल-कन्हैया, रे मन इस मोहक सुन्दर मनोहारी कल्पना को सदा-सदा के लिए अपने मन में बसा ले।

होली का त्योहार सनातनधर्म का कभी पवित्रतम धार्मिक, सामाजिक तथा शिक्षाप्रद त्योहार होता था। नगर एवं गावों से बालक बड़े सबलोग सूखी पत्तियां तथा सूखे पेढ़ों को बटोर कर जगह जगह एकत्र करके उत्सव के रूप में होली जलाते, ग्राम नगर को पवित्र करते थे। इससे भविष्य में आने वाली आंधियों के कारण लगती आग से भी सुरक्षित हो जाते थे। सूखा ईंधन न मिलने से आग प्रलयंकर नहीं हो पाती। साथ ही एकोब्रह्म द्वितीयोनास्ति के अमर पाठ को भी व्यवहारिक

रूप से पुनः दुहरा कर जीवन्त करते थे। कथा में प्रवेश करते हैं।

ऐसे ही समय में एक स्वर्ण रथ धूल उड़ाता वृन्दावन में प्रवेश करता है। रथ नन्द महल के सामने आकर रुक जाता है। दौड़कर नन्द जी रथ उतरते निष्पाप अक्रूर जी को अपनी बांहों में भर लेते हैं। यशोदा जी, नन्द के पीछे ही चली आ रही हैं। नंद और अक्रूर के नेत्र प्रेमाश्रुओं से छलक उठे हैं। नंदजी, अक्रूर जी को लेकर नंदमहल में प्रवेश करते हैं। अक्रूर जी आसन पर विराजते हैं। उनकी प्यासी आंखें चारों ओर कन्हैया को ढूंढ रही हैं। तभी भगवान श्री कृष्ण अपने बड़े भाई श्रीबलराम जी के साथ अक्रूर जी को प्रणाम करने के लिए उपस्थित होते हैं। अक्रूर जी के नेत्र वासुदेव की मोहक मुखाकृति पर टंगकर रह गये हैं। स्तब्ध अक्रूर नयनों से अपने प्रभु की मुखाकृति को पिये जा रहे हैं। सारी देह स्थिर हो गयी है। नेत्रों से अविरल अश्रु धाराएं प्रवाहित हैं, जो उनके कपोलों को भिगोती हुई उनके वस्त्रों पर लकीरें खींचने लगी हैं। बस सुधि, बुधि खोये अक्रूर जी, गोविन्द को देखे चले जा रहे हैं। उन्हें समय और स्थिति का भी भान नहीं रहा है। बाल-कन्हैया अक्रूर जी की मनःस्थिति को भांपते हुए विनम्रता से श्रीबलराम के संग वहां से हट जाते हैं। गोविन्द, बलराम जी के साथ वहां से जा चुके हैं। परन्तु, अक्रूर जी के नेत्र उसी प्रकार उसी रूप, रस माधुरी को पिये जा रहे हैं। होली के रंगों में खिली शोभा भुलाये नहीं भूलती है। मन, बुद्धि, विचार और सुधि रूप के द्वार पर मूक, स्तब्ध, मौन स्थिर हो गयी है। अक्रूर को गोविन्द के चले जाने का भान ही नहीं है। वे तो अब भी उसी रूप रस का पान किये जाते हैं।

हरि ॐ! नारायण हरि!

श्रीकृष्ण का मथुरा जाना!

वेदव्यास! बृज की वह उदास शाम मेरे मानस पटल पर उभर आयी है। वह शाम अचानक कितनी भारी और बोझिल हो उठी थी। सब कुछ स्तब्ध होकर रह गया था। लगा कोई सबके प्राण एक झटके में हर ले गया हो!

अक्रूर जी की बात सुनकर नंदबाबा स्तब्ध रह जाते हैं। उनका सारा शरीर जड़ सा होकर रह गया है। नेत्र स्थिर हैं। लगता है, जैसे सारी देह निष्प्राण हो गयी है। पापी कंस ने कृष्ण और बलराम को क्यों बुलाया है? इसका उत्तर सभी जानते हैं। भले ही वे सब यह जानते हों, कि श्रीकृष्ण वसुदेव के पुत्र हैं! परन्तु यह तो सब ही जानते हैं, कि कंस और कृष्ण में एक मौन युद्ध निरन्तर चल रहा है। गोविन्द ने ग्वाल-बालों के साथ बृज का माखन और धन, राज्यकर के रूप में कंस को देना बंद कर दिया है। गोविन्द का कहना है, कि गायों के दूध पर पहला अधिकार बछड़ों का है तथा दूसरा अधिकार हम ग्वालों का है। कृष्ण के आगे नंदबाबा मजबूर हैं। बृज ने ही नहीं कर देना बन्द कर दिया है, वरन् मथुरा साम्राज्य के आधीन बहुत से छोटे राजाओं ने भी पापी कंस को कर देना बन्द कर दिया है। कंस के विरूद्ध छोटे राजाओं में भड़क रही विद्रोह की आग का भी कंस निराकरण करना चाहता है। इसलिए वह श्रीकृष्ण और श्रीबलराम को धोखे से बुलवाकर मार देना चाहता है! कर सेवा पुनः चालू कराने के लिए भी कंस ने नाना असुर, दण्ड और ताड़ना के रूप में भेजे! जिन्हें गोविन्द ने समाप्त कर दिया। कंस भी जान चुका है, कि विद्रोह की जड़ में कृष्ण हैं और वह साधारण नहीं हैं। इसलिए कंस के संदेश के साथ ही सारी मथुरा में मुर्दनी छा गयी है। अपने खिलाफ विद्रोह को समाप्त करने के लिए कंस अन्तिम रूप से उतर आया है। सारा बृज भयभीत हो उठता है।

इससे पूर्व गोविन्द ने सभी यदुवंशियों को अस्त्र-शस्त्र धारण एवं संचालन की शिक्षा के लिए नियमित कर दिया है। यदुवंशी धीरे-धीरे एक शक्तिशाली सेना के रूप में संगठित हो रहे हैं। कृष्ण ने उनमें एक सैनिक का अनुशासन तथा एक

सैनिक की जागरूकता भर दी है। गौवों को चराने के साथ ही गोप एक संगठित सैनिक शक्ति के रूप में प्रकट हो रहे हैं। उनके कंधों पर रखे धनुष-बाण तथा कमर से बंधी कटारें और तलवारें भी कंस से छिपी नहीं हैं। अपने विपरीत संगठित होती सैन्य शक्ति से कंस अनभिज्ञ नहीं है। इसलिए भी वह कृष्ण को अपने रास्ते से हटा देना चाहता है।

गोविन्द ने जब अस्त्र और शस्त्र धारण करने का संकल्प लिया था, तब उन्होंने घोषणा की थी, "हमारे अस्त्र और शस्त्र प्राणी मात्र की रक्षा और सुरक्षा के लिए ही प्रयोग किये जायेंगे। हम धर्म पूर्वक अस्त्र और शस्त्र को इस संकल्प के साथ धारण करते हैं कि हम सत्ता के मद के लिए अथवा ऐश्वर्य के लिए कभी युद्ध नहीं करेंगे। हमारे अस्त्र और शस्त्र निरीह, दीन-दुखी और सताये हुए लोगों की सुरक्षा के लिए ही होंगे। निरीह पशु-पक्षियों की सेवा के लिए हम अस्त्र और शस्त्र धारण करेंगे। जो दीन और दुखियों को तथा आश्रित पशु-पक्षियों का विनाश करना चाहेंगे तथा उन्हें अपना दास बनाना चाहेंगे अथवा उनका शोषण करना चाहेंगे। हमारे अस्त्र-शस्त्र शोषण करने वालों को धरती से मिटा देंगे।"

इस प्रतिज्ञा और संकल्प के साथ संगठित हो रही सेना को विखण्डित भी नहीं किया जा सकता है। जिन्होंने अस्त्र और शस्त्र प्राणी मात्र की समर्पित सेवा तथा धर्म की रक्षा में उठाये हैं, उनको लोभ, लालच देकर तोड़ना भी कंस के लिए सम्भव नहीं है। इस बात को भी कंस अच्छी तरह से जानता है। इसलिए भी कंस के पास कृष्ण और बलराम को समाप्त करने के अलावा दूसरा कोई रास्ता नहीं है। इस बात को वृन्दावन के गोप और गोपियां सभी अच्छी तरह से जानते हैं। वे सब दुखी हैं, भयभीत हैं, हताश हैं! गहराती सांझ के साथ पीड़ा, भय और आतंक हर ओर छाता जा रहा है। रे अक्रूर! तू क्यों क्रूर हो गया है?

यशोदा जी ने सुना है, तो वे मूर्छित हो गयी हैं! गहन मूर्छा को प्राप्त हो गयी हैं। निष्पाप भोली माँ यशोमति! अन्तर्दाह से संतप्त, नंद जी स्वयं भीतर, बाहर बरसते यशोदा जी को, चैतन्य करने का प्रयास कर रहे हैं। गहन मूर्छा के कारण यशोदा जी का ज्योर्तिमय सुन्दर मुख-मण्डल निस्तेज हो उठता है। फूट-फूट कर रो रहे नंदजी का सारा बदन थर-थर कांप रहा है। यही अवस्था सबकी है। कौन किसको ढ़ाँढ़स बंधाये! बिलखती हुई गोपियां राधा जी के संग कभी भोलेनाथ बाबा को पुकारती हैं, तो कभी अम्बा के मन्दिर के ठण्डे फर्श पर मछली की तरह तड़पती लोटती हैं! सारा बृज अस्त-व्यस्त हो उठा है! किसी के घर चूल्हा नहीं जला है! वृज की गौवों ने भी आज चारा नहीं खाया है। जैसे कंस की बात उन्होंने भी सुन ली है। उदास सिर झुकाये, मौन खड़ी हैं। गोपियां कभी गौवों के चरणों में लिपटती

हैं तो कभी दौड़कर यमुना माँ से प्रार्थना करती हैं। गिरिराज के आगे भी वे रो-रोकर मनौतियां मानकर आयीं हैं। वृन्दावन के पशु-पक्षियों और पेड़-पौधों से भी वे प्रार्थना करती हैं। काश! उनका गोविन्द रुक जाय! काश! कंस का मन फिर जाये! वह पापी बैर भुलाकर कृष्ण भक्त हो जाये!

ढलती सांझ को अंधेरी रात निगल गयी है। रात की उस भयानक नीरवता में भी घरों से रोने, सिसकने और करूण क्रन्दन की आवाज फिर-फिर रात की नीरवता को भंग कर देती है। बृज की वह रात बहुत काली और भयानक हो रही है। उस अंधेरे की रोशनी को वे निष्पाप भोली गोपियां नहीं ढूँढ़ पाती हैं। जाने ये कैसी मनहूस रात आयी है?

सुबह का सूरज भालों की चुभन लेकर प्रकट हुआ है। लगता है, उसमें रोशनी की किरणों के स्थान पर अब पैनी बर्छियां प्रत्येक शरीर को विदीर्ण कर रही हैं। हर ओर पीड़ा है! प्रत्येक चेहरे पर वेदना, भय और आतंक की गहरी छाप पड़ी हुई है। मौन हैं बेचारे अक्रूर जी! उनसे कोई बात भी तो नहीं कर रहा है! अक्रूर अपने मन की बात भी तो ग्रामवासियों को नहीं बता पाते हैं, उन्हें भय है कि कंस के गुप्तचर चप्पे-चप्पे पर उनका पहरा कर रहे हैं।

रथ सज रहा है! श्रीकृष्ण और श्रीबलराम को माँ यशोदा ने अंतिम बार अपने हाथों से भोग लगाया है। कांपते थर-थराते शरीर से उन्होंने कृष्ण और बलराम की आरती उतारी है। भीगी, बरसती आंखों से वे उनकी मनोहारी छवि का न जानें कितनी देर तक पान करती रही हैं। श्री गोविन्द और श्री बलराम ने मैया के चरणों में अन्तिम प्रणाम किया है। तड़पकर यशोदा जी उन्हें अपने सीने से भींच कर बिलख उठी हैं। बेचारे नंदजी किसी प्रकार स्वयं को आश्वस्त कर पा रहे हैं। कृष्ण और बलराम को यशोदा जी से अलग करके बाहर लाये हैं। गोपियां द्वार पर बिलख, तड़प उठी हैं। वे बारम्बार गोविन्द को मथुरा जाने से रोक रही हैं। भगवान घनश्याम तथा बलराम उन्हें समझा-बुझा रहे हैं! सांत्वना दे रहे हैं! शीघ्र ही लौटकर आने का वचन भी दे रहे हैं। परन्तु, गोपियों के धैर्य का बांध टूट चुका है। गोपियां रथ के घोडों के आगे धरती पर बिछ गयी हैं। सभी लोग गोपियों को समझा रहे हैं। परन्तु, वे मानती नहीं हैं! मानें भी कैसे? वे तो अपने वश में ही नहीं हैं। नंदबाबा तथा सभी गोप उन्हें समझा-बुझाकर वहाँ से हटा लेते हैं। रथ चल दिया है। थोड़ी ही दूर पर राधाजी आरती की थाली लिए खड़ी हैं। उनका अराध्य, उनका सब कुछ, सर्वस्व गोविन्द आज जा रहा है। श्रीकृष्ण रथ से उतर कर राधिका जी के पास आते हैं। राधाजी उनकी आरती उतारती हैं। अपने अराध्य का तिलक करती हैं। भगवान गोविन्द अपनी बांसुरी निकालकर राधिका जी की थाल में रख देते हैं। राधिका जी

चौंक उठती हैं। गोविन्द की ओर देखती हैं! गोविन्द उत्तर देते हैं,

"राधे! मेरी बांसुरी संभालकर रखना! मैं लौटकर ही इसे बजाऊँगा! जब तक तू मेरे पास नहीं होगी, मैं कभी भी बांसुरी नहीं बजाऊँगा! मैं शीघ्र ही लौटकर आऊंगा!"

रथ चल दिया है! बिलखती हुई गोपियां पीछे दौड़ती चली आ रही हैं। गोविन्द की बांसुरी लिए हाथ में राधिका मौन खड़ी हैं, पत्थर की शिला सी! गोपियां उनको घेर लेती हैं। रथ के पहियों की आवाज भी शनैः-शनैः लुप्त होती जा रही है। घोड़ों की टापों से उड़ती धूल के वे गुब्बार भी दिखने बंद हो गये हैं। गोविन्द जा चुके हैं। गोपियां बिलखने लगती हैं! राधा जी को झिकझोड़ कर सचेत करती हैं। वे राधा जी से कहती हैं,

"राधे! पापी कंस, गोविन्द के अहित के लिए बुला ले गया है। राधे! कुछ तो करो! राधे तुमने तो कहा था कि गोविन्द कभी भी हमसे दूर नहीं होंगे? वे चले गये और तुमने उन्हें रोका भी नहीं?" वे सब तड़प बिलख रही हैं।

"श्री कृष्ण हमें छोड़कर कहीं नहीं गये हैं। योगेश्वर हमें योग का अगला पाठ सिखा रहे हैं। जबतक वे बाहर दिखते थे हम सब उनके पीछे बावली सी भागती थीं। अपने अर्न्तहृदय में अंतिम रूप से कहां विराज पाती थीं। योग की मर्यादा अधूरी ही रह जाती थी। अब सदा के लिये अपने अर्न्तहृदय में बसा लो, यही उनकी इच्छा है। यही अलौकिक लीला है। अब सदा उनसे जुड़ी ही जीयेंगी। आज इसी यमुना के तट पर हमारा उनसे नित्य मिलन होगा। रहेंगी गोविन्द में, जीयेंगी गोविन्द के संग! मरेंगी तो भी गोविन्द में!" श्री राधे उद्वेग में कहती जा रहीं हैं। गोपियां स्तब्ध हैं। उन्हें कुछ भी नहीं सूझ रहा है। श्री राधा के शब्द उनकी समझ से परे हैं।

वे रोती-बिलखती गोपियां अपने गोपों को सचेत करती हैं। वे उनसे कहती हैं, कि वे सब शीघ्रता से मथुरा की ओर जायें! श्री बलराम और श्रीकृष्ण की पूरी सुरक्षा करें! यदि पापी कंस किसी अनुचित पर उतरना चाहे तो वे पहले अपने प्राणों का उत्सर्ग करें। उनके जीते जी गोविन्द पर जरा भी आंच न आये! बालक, बूढ़ों और जवानों ने, जिसके हाथ में जो कुछ आया है। उसे ही शस्त्र बनाकर मथुरा की ओर भाग रहे हैं। जो लाठी का सहारा लेकर चलने वाले बूढ़े थे, वे भी लाठी को ही शस्त्र बनाकर चल दिये हैं। निष्पाप भोली गोपियां राधिका जी को संग लिये, सभी देवी-देवताओं को जगा रही हैं! पुकार रही हैं! बिलख रही हैं! यमुना के तट पर तपस्या में लीन हैं।

हरि ॐ! नारायण हरि!

30

कंस वध!

इतिहास, अध्यात्म तथा हर व्यक्ति के जीवन को स्पष्ट करने वाली कृष्णकथा की त्रिवेणी की तीनों धारायें मथुरा में आकर जुड़ सी गयी हैं। एक बार फिर इतिहास पुरूष तथा अध्यात्म पुरूष, श्रीकृष्ण, एक हो गये हैं। अक्रूर जी का रथ जैसे-जैसे मथुरा के समीप होता जा रहा है, चारों ओर जन-समूह ही उमड़ते नजर आते हैं। हर ओर से लोग रथों पर, गाड़ियों पर तथा पैदल मथुरा की ओर बढ़े चले जा रहे हैं। मथुरा के हर ओर से लोगों की भीड़ मथुरा की ओर बढ़ती चली जा रही है। सभी लोगों के हाथ में यज्ञ की सामग्री पुष्प आदि हैं। पूछने पर वे यही बताते हैं, कि वे सब कंस के यज्ञ में अंशदान करने हेतु जा रहे हैं। जैसे-जैसे रथ मथुरा के समीप हो रहा है, मनुष्यों की भीड़ भयंकर रूप से बढ़ती जा रही है। ऐसा लगता है कि जैसे सारा साम्राज्य मथुरा का, उमड़कर मथुरा की ओर भागा जा रहा है। जन-समूह को देखकर अक्रूर जी का चेहरा खिल उठता है। उनके चेहरे पर एक रहस्यमयी मुस्कान उभर आयी है।

जब कंस ने श्रीकृष्ण और बलराम को मथुरा लाने के लिए अक्रूर जी को कहा था, उसी समय अक्रूर ने भी अपनी शतरंज की फड़ बिछा दी थीं। गुप्तचरों के द्वारा अक्रूर ने सभी विद्रोही राजाओं एवं प्रमुखों को गुप्त सूचनायें भेज दी थीं। उसका आशय यही था कि विद्रोह को कुचलने के लिए कंस यज्ञ का बहाना बनाकर कृष्ण और बलराम का वध करना चाहता है। यही उचित समय है जबकि सभी लोग हाथ में यज्ञ का अंशदान लेकर तथा वस्त्रों में, कपड़ों में, अस्त्र-शस्त्र छिपाकर मथुरा में प्रवेश करें तथा मथुरा को हर ओर से घेर लें। जो शतरंज की चाल कंस ने बिछाई थी, उसे उसी की चाल में मात दे दी जाये। अक्रूर की सूचना पर नागरिकों के रूप में विद्रोही सेनायें मथुरा में प्रवेश कर गयीं हैं। हर ओर से मथुरा छदम् वेषधारी सैनिकों के द्वारा घिर चुकी है। कंस और उसके गुप्तचरों को इस बात की कल्पना भी नहीं है। रथ नगर के भीतर प्रवेश कर हीं नहीं सकता है। इसलिए नगर के बाहर

उद्यान में श्रीकृष्ण और बलरामजी ने पड़ाव डाल दिया है। रथों का पीछा करते ग्वाल-बाल तथा गोप आदि भी पहुँच गये हैं। भगवान श्रीकृष्ण से आज्ञा लेकर, अक्रूर जी कंस को सूचना देने के लिए मथुरा नगरी में प्रवेश करते हैं।

नगर के भीतर भी यज्ञ का अंशदान देने वालों की भीड़ हर ओर दृष्टिगोचर होती है। भीड़ इतनी अधिक है कि रथों का पथ पर चलना भी संभव नहीं है! कंधे से कंधा छिल रहा है। आने वाली भीड़ यज्ञ के हेतु अंशदान तो कर ही रही है। साथ ही राजकोष में भी धन दान कर रही है। वे राजा जिन्होंने कंस को कर देना बंद कर दिया था। वे भी विनम्रता से कंस को कर दान दे रहे हैं। इससे कंस बड़ा प्रसन्न है। कंस को इस सारे घटनाक्रम पर आश्चर्य भी है। उसने इतने बड़े यज्ञ की कल्पना भी नहीं की थी तथा न ही किसी बड़े यज्ञ की व्यवस्था ही की गयी थी। यज्ञ के लिए किसी को भी निमंत्रण भी नहीं दिया गया था। फिर पता नहीं कैसे सारा साम्राज्य यज्ञ के लिए मथुरा में उमड़ आया है? कंस हैरान है! कि यही स्थिति उसके मंत्रियों की भी है। यज्ञ की सूचना असुरराज जरासंध को भी नहीं दी गयी है। फिर इन लोगों को पता कैसे चला? सारे राजा जो विद्रोह की राह पर चल दिये थे, उन सब के हृदय में परिवर्तन कैसे हो गया? कंस के पास इन प्रश्नों का कोई भी समाधान नहीं है। परन्तु, मथुरा नगरवासी धीरे-धीरे सब जान गये हैं। वे सब परमानंदित हैं। नगरवासियों ने अतिथियों के लिए पकवान बनाने और बांटने शुरू कर दिये हैं।

जब से महाराज उग्रसेन, कंस के द्वारा बंदी बनाये गये थे, तब से मथुरा की कांति लोप हो गयी थी। सारे नगरवासी कंस और जरासंध के भय के कारण मौन पीड़ाओं को पिये जा रहे थे। बहुत से अपने महाराज उग्रसेन के लिए पूजा-पाठ, व्रत आदि कर रहे थे। बहुत से प्रजाजन मथुरा नगरी का परित्याग कर अन्यत्र भी चले गये थे। परन्तु, आज वे सब अति प्रसन्न हैं। वे सब जान गये हैं कि जिन्हें मारने के लिए पापी कंस ने बुलाया है, वे ही आज कंस को मिटा देंगे! हर ओर हलवाइयों के द्वारा पकवान बनाये जा रहे हैं तथा निःस्वार्थ सेवा में बांटे जा रहे हैं।

भगवान गोविन्द, बलराम तथा अपने मित्रों के साथ मथुरा में प्रवेश करते हैं। हर्ष की लहर हर ओर दौड़ जाती है। भगवान श्रीकृष्ण के दर्शन के लिए छतों पर, सड़कों पर हर ओर भीड़ उमड़ आयी है। आरती के सजे थाल हर ओर से गोविन्द की आरती में लग गये हैं। पुष्प वर्षा से जय-जयकार हो रही है। जनता में धैर्य के बांध टूट गये हैं। ''श्रीकृष्ण, श्रीबलराम की जय'' ''महाराज उग्रसेन, महाराज वसुदेव की जय'' इन नारों से आकाश गूंज उठा है! हर ओर गगनभेदी जयघोष हो रहे हैं कंस के गुप्तचर स्तब्ध रह गये हैं। जयघोष का नाद कंस के महलों तक जा

पहुँचा है। कंस को अपने कानों पर विश्वास नहीं हो रहा है। नगरवासी श्रीकृष्ण और बलराम को सुरूचिपूर्ण ढंग से सुसज्जित कर रहे हैं। उस नयनाभिराम जोड़ी को वे अश्रुपूर्ण नेत्रों से निहारते जाते हैं। उनके चरणों में लोट रहे हैं अपने हाथों से उन्हें भोग लगा रहे हैं। सभी ग्वाल-बाल सुन्दर वस्त्रों से सजाये जा रहे हैं। उनकी सेवा करके जनता विभोर हो रही है।

कंस के गुप्तचरों ने कंस को सूचना दी है कि कंस स्वयं अपने ही द्वारा बिछाये गये जाल में फँस गया है। यज्ञ के दर्शनार्थी विद्रोही सैनिक हैं, जो मथुरा के भीतर बिना लड़े ही प्रवेश पा गये हैं। मथुरा नगरी की चप्पा-चप्पा धरती पर विद्रोही सेनाएं फैल चुकी हैं। कंस का सभाभवन, रंगमहल सभी कुछ घिर चुका है। गुप्तचर पुनः सचेत करते हैं कंस को कि कंस की सेनायें भी विद्रोह पर उतर आयी हैं। इन विद्रोही सेनाओं को अक्रूर जी आदि सभासदों का मौन समर्थन तथा आशीर्वाद भी प्राप्त है। कंस को लगता है कि वह पागल हो जायेगा। भयभीत कंस व्याकुल, व्यथित अपने महल में टहल रहा है। महल से बाहर निकलने का साहस भी उसमें नहीं रह गया है। कंस हताश है! महाराज जरासंध तक सूचना भी नहीं जा सकती है तथा उसकी सेनाओं का भी इतनी जल्दी पहुँचना भी असंभव है! कंस को लग रहा है, कि जैसे विकराल रूप धारण करे मौत अपने पंजे फैलाये उसकी ओर बढ़ी चली आ रही है। मुट्ठी भर सेनाओं तथा चंद विश्वास पात्रों के साथ कंस मथुरा से निकलकर भाग भी नही सकता है। कंस अपना मानसिक संतुलन भी खो बैठता है।

दूसरी ओर भगवान श्रीकृष्ण, श्रीबलराम जी अपने सभी मित्रों तथा नंदबाबा के साथ यज्ञ स्थल की ओर बढ़ रहे हैं। वेषधारी सैनिकों के हथियार भी बाहर निकल आये हैं। हर ओर जयघोष से गगन गूंज रहा है। कृष्ण और बलराम को मारने के जितने भी षडयंत्र कंस ने रचे थे वे सब धराशाई हो गये हैं। श्रीकृष्ण और बलराम भीड़ के साथ यज्ञ मण्डप में प्रवेश करते हैं। यज्ञ मण्डप में ही अपने अंग रक्षकों से घिरा हुआ कंस भी प्रवेश करता है। यज्ञ मण्डप में ही एक विशाल अखाड़ा भी बनाया गया है। श्रीकृष्ण और बलराम के द्वारा कंस की सारी चालें, हरकतें ध्वस्त होती हैं। कंस पागल होकर चीखने लगता है। अपने सैनिकों से श्रीकृष्ण और बलराम को मार डालने का आदेश देता है। तब अक्रूर जी आगे बढ़कर श्रीकृष्ण से कहते हैं, कि वे कंस का उद्धार करें। गोविन्द ऐसा करने से संकोच करते हैं। पर अक्रूर जी उन्हें समझाते हैं,

''श्रीकृष्ण! कंस का मरना अब निश्चित है। कंस राज परिवार के हैं। श्रीमान् लोग, श्रीमान् लोगों के हाथों से उद्धार को प्राप्त हों यही उचित है। यदि वे भीड़

के द्वारा कुचल दिये गये तो उसमें राजकुल का भारी अपमान होगा। हे गोविन्द! पापी कंस के वध के लिए ही आप ने जन्म धारण किया है। आप नारायण के अवतार हैं। आगे बढ़ें कंस तथा कंस पुत्रों का उद्धार करें।''

श्रीकृष्ण, कंस का उद्धार करते हैं तथा श्रीबलराम, कंस के पुत्रों को युद्ध में समाप्त कर देते हैं। कंस के आठों भाई भी मारे जाते हैं। इस प्रकार पापी कंस अपने समर्पित साथियों तथा पुत्रों सहित मारा जाता है। भगवान गोपाल जी सर्वप्रथम जेल में जाते हैं। अपने नाना, महाराज उग्रसेन को बंदीगृह से छुड़ाते हैं। उसके उपरान्त अपने माता-पिता वसुदेव और देवकी को भगवान श्रीकृष्ण जेल से बाहर लाते हैं। वसुदेव और देवकी पहली बार अपने आठवें पुत्र श्रीकृष्ण को अपने सामने पाते हैं। पीड़ा से उनके नेत्र बरस रहे हैं। अंग-अंग रोमान्चित है! गोविन्द को सीने से भींचे देवकी जी बेसुध हो जाती हैं। श्रीकृष्ण माँ को संभाल लेते हैं।

वेदव्यास इस लीला में मेरा सम्पूर्ण अस्तित्व हिल उठा है। श्रीकृष्ण की इस लीला में तुम मुझे मेरे वास्तविक माता पिता का दर्शन करवा रहे हो। अग्नियों (वसुओं) का देवता आत्मा ही तो वसुदेव है। ब्रह्मज्वाला आत्माग्नि ही देवकी है। हम सबके, सम्पूर्ण सचराचर के जनक आत्मा वसुदेव तथा देवकी ही तो हैं। सांसारिक माता पिता तो नन्द एवं यशोदा की भांति निमित्त पालक माता पिता ही हैं। जो मारे मन रूपी कंस को, वह पाये असली माता पिता का प्रथम का दर्शन! वे ही सदा जन्मते रहे हैं उसे, प्रत्येक योनि में! सदा सदा! वे होंगे उसकी अगली अनन्त योनियों के माता एवं पिता!

भौतिक माता पिता शिशु तो क्या, शरीर के एक जीवन्त कोश का निर्माण करना भी नहीं जानते। उनकी अवस्था मंच पर नाटक करते पात्रों जैसी ही है। सृष्टि के अति गूढ़ रहस्यों को सरस ग्राहय बनाकर छात्रों को हृदयंगम करवाने की अनूठी गुरूकुल शिक्षा पद्दति की कल्पना तेरे से पूर्व और उपरान्त कोई भी कर सकने में समर्थ नहीं है। सूक्ष्म सत्य का निर्धूम नग्न दर्शन तू ही करवा सकने में समर्थ है। आज के सुशिक्षित तथाकथित बौद्धिक स्तर क्या इसे सहज ही समझ पायेंगे? स्वीकारना तो उनके लिये विषपान जैसा ही होगा। मैं और मेरों की आसक्ति को ही सर्वस्व मानकर जी रही संस्कृति के लोग, अब सत्य को कैसे झेल पायेंगे? सत्य के विलोम को श्रद्धा, आस्था तथा समर्पित भक्तिपूर्वक जी रही मानसिकता में अब भागवत का अमृत कैसे उतर पायेगा?

हरि ॐ! नारायण हरि!

31

गुरुकुल गमन!

आश्रम का शान्त मनोरम वातावरण भीनी-भीनी फूलों की सुगन्ध से महक उठा है। मौसमी पेड़ों पर पुष्पों की चादरें बिछ गयी हैं। पुष्पों की महक दूर-दूर तक वातावरण को मोहक और सुगन्धित बना रही है। कल्पना के हंस अतीत के अन्तरालों को लांघते हुए तुम्हारे समीप हो रहे हैं। मेरी कल्पानाओं में मथुरा के वे दृश्य एक बार फिर उभर आये हैं। कंस मर चुका है, साथ ही उसके आठ छोटे भाई भी मृत्यु को प्राप्त हो चुके हैं।

श्रीकृष्ण जन्म लीला से कंस वध तक के समय का अन्तराल हमारे जीवन के बारह वर्ष का वानाप्रस्थ तथा एक वर्ष का अज्ञातवास है। मनुष्य योनि की महानतम उपलब्धि है। कृष्ण की कथा का बाल्यपन हमारे जीवन का सार्थक सत्य है। मोहान्ध मन कंस मरे तो जीव आत्मस्थ हो, घट-घट वासी श्रीकृष्ण से मिले। कंस के मरने के बाद भी मेरी आठ प्रकार की प्रकृति जो ईश्वर के सामने भी मुझे कंस जैसा बनाकर खड़ा करती है। कंस के आठ भाइयों के रूप में दर्शायी गयी है। अष्ट सिद्धियां अथवा आठ प्रकार के जड़ प्रकृति, कंस के आठ छोटे भाइयों के समान हैं। सिद्धियां सदा संकीर्ण स्वामित्व को जन्मती हैं, जबकि ईश्वर प्राप्ति की राह नितान्त समर्पण की राह है। सिद्धियां कृष्ण भक्ति का अवरोध हैं।

कृष्ण और कंस के रूप में मेरे सामने दोनों रास्ते स्पष्ट हो रहे हैं। भगवान वासुदेव को ऐतिहासिक घटनाक्रम में एक अध्यात्मिक कथा भी धीरे-धीरे जन्म ले रही है। तुम्हारी इस महान कथा में इतिहास पुरूष और अध्यात्म पुरूष अभिन्न होकर संग-संग चलते हैं। दो राहें हैं, एक मार्ग श्रीकृष्ण और दूसरा मार्ग कंस है। मोहान्ध

मन कंस, हमें अपनी दोनों पत्नियों अस्ति और प्राप्ति के माध्यस से बांधता है। जीव का मन से बंधना ही उसके जीवन का दुखित होना है। ये मिले, ये रह जाये ये और मिल जाये, मन कंस इसी में जीव को नचाता रहता है। जीवन के क्षण फिसलते रहते हैं। अतृप्तियों और इच्छाओं की बाढ़ 'अस्ति' और 'प्राप्ति' तथा मेरे अहम् दम्भ भाव रूपी कंस के असुर मुझे नष्ट करने लगते हैं। फिर उसके नाना असुर बनकर नाना विचार, मेरे जीवन का संहार करने लगते हैं। ये एक राह है जो इतिहास पुरूष की कथा के संग-संग आध्यात्मिक कथा के रूप में धीरे-धीरे स्पष्ट हो रही है। दूसरी राह श्रीकृष्ण है। आत्मस्थ जीव का जीवन ही कृष्णमय जीवन है। इन्द्रियां बने गोकुल, विचार हों वृन्दावन! फिर चलें मथुरा! 'मथ' मंथन करना तथा 'उर' माने हृदय, आओ हृदय को मथ डालें। हर अन्तर में व्याप्त, मोहान्ध मन कंस को अपने अन्तर में ही धराशाई कर दें। संसार को अपने में लपेटने की चाह वाली अष्ट सिद्धियों से भी विमुख हो जायें। श्रीराधा की राह लें अर्थात् समर्पण की राह लें। जीवन को कृष्णमय बनायें। चलें यमुना के किनारे। 'यम' अर्थात् मृत्यु का देवता नहीं है जहाँ, कृष्ण है वहाँ। 'यमु' 'ना' है।

भगवान श्रीकृष्ण ने कंस का वध कर दिया है। मथुरा नगरी एक बार फिर महाराज उग्रसेन और कृष्ण को पाकर महक उठी है। हर ओर नर और नारियों के समूह मुदित मन से मंगलगान कर रहे हैं। नगरी दुल्हन सी सजी है। लोग खुशी-खुशी दान कर रहे हैं। मिठाईयां अन्न और वस्त्र आदि दान बांट रहे हैं। भजन और कीर्तन की टोलियां मस्ती से नाचती हुई गलियों-गलियों में घूम रही हैं। मथुरा पुनर्जीवित हो उठी है। जब भी बुद्धि का मिलन हो जाता है, आत्मा से, तो मनुष्य का अन्तरहृदय मथुरा की भांति ज्योतिर्मय जगमग हो उठता है। रोम-रोम में भगवान श्रीकृष्ण के सुखद स्पर्श का सुख मिलने लगता है। सांस-सांस में अष्टगंध की सुगन्ध बस जाती है। मधुर तान का अनहद आनन्द उभरने लगता है। विचारों में गोविन्द की मधुर लीलाओं के क्षण सजीव होकर झूमने लगते हैं। परन्तु, अभी तो कथा अधूरी ही है।

महाराज उग्रसेन मथुराधीश सुशोभित हुए हैं तथा भगवान श्रीकृष्ण युवराज पद पर विराजे हैं। श्रीकृष्ण गुरूकुल प्रवेश हेतु सांदीपनी ऋषि के पावन आश्रम को जा रहे हैं। ऋषि सान्दीनी के नाम का अर्थ है - जीवन को आत्म ज्यातियों से देदीप्यमान करने वाला!

अध्यात्म में भी प्यारे भक्त महाराज उग्रसेन को अपने जीवन संसार का सम्राट घोषित करो। हमारे जीवन का सम्राट उग्रसेन हो! हमारी उग्र तपस्या हो! उग्र तप को अपने जीवन के हर क्षण में बसा लो। जिससे कंस की वृत्तियां कहीं अवसर

पाकर तुम्हारे जीवन को पुनः विषाक्त न कर लें। मोहक कन्हैया को अपने जीवन रूपी साम्राज्य का युवराज घोषित करो। चलो अपने युवराज गोविन्द के संग। ऋषि सांदीपनी के आश्रम में अपने भक्त रूपी विचार को, पुष्ट संदेह रहित एवं युवा बनाने हेतु।

ऋषि सान्दीपनी का आश्रम आधुनिक नगर उज्जैन के समीप है। यह स्थान मध्यप्रदेश में है। यमुना के तट से लीलानायक नर्मदा के तट पर पधारे हैं। वहीं उनकी मित्रता पोरबन्दर से आये अति गरीब ब्राह्मण कुमार सुदामा से होती है। गुरूकुल राजा अथवा रंक के भेदभाव को नहीं जानता। वरन उसमें भी सुदामा (सु अर्थात दिव्य तथा दामा का अर्थ है ज्योति) ही प्रज्जवलित करने की कल्पना ही करता है। आधुनिक युग में दाम अर्थात धन के आधार पर भेदभाव की कल्पना कदापि नहीं करता। नर्मदा का तट है अर्थात जीवन में अमृत तथा आत्मा की मस्ती भरने की मंगल कामना ही शिक्षा का परम् उद्धेश्य है।

ऋषि, छात्र का चयन उसकी सामाजिक, आर्थिक अवस्था से नहीं करता है। वरन उसकी जिज्ञासा, उत्कन्ठा, विनम्रता, श्रद्धा, आस्था तथा समर्पित भाव के मूल्यांकन से ही करता है। यहां बालक को 14 से 15 वर्ष अथवा अधिक समय तक विद्या अध्ययन हेतु रहना होगा। इस बीच उसे अपने घर अथवा ग्राम आदि जाने की आज्ञा कदापि नहीं होगी।

यज्ञोपवीत से पूर्व प्रत्येक बालक शूद्र ही कहलाता है। यज्ञोपवीत संस्कार का अधिकार गुरूकुल के अधिष्ठाता ऋषि तक ही सीमित है। घर में यज्ञोपवीत करवाने की प्रथा का सर्वथा अभाव है। गुरूकुल में यज्ञोपवीत संस्कार के उपरान्त ही बालक जन्मना शूद्रत्व का परित्याग करता ब्रह्मचर्यव्रती होता गुरूकुल में प्रवेश पाता है। यही नियम सभी छात्रों के लिये है। जन्मना व्यवस्था का सर्वथा अभाव है।

जन्मना जायते शूद्रा, संस्कारात् द्विजोच्चयते।
वेदपाठे भवेत्विप्रा, ब्रह्मज्ञानाति ब्राह्मणः।

हरि ॐ! नारायण हरि!

यज्ञोपवीत संस्कार!

भारतीय संस्कृति एवं धर्म में यज्ञोपवीत संस्कार अत्याधिक महत्वपूर्ण संस्कार है। बालक ने किसी भी कुल में जन्म क्यों न पाया हो, ज़ब तक उसका यज्ञोपवीत संस्कार नहीं होता वह शूद्र ही कहलाता है। ब्राह्मण के घर में बिना यज्ञोपवीत के बालक न तो मूर्ति धो सकता है तथा न ही वेद का पाठ कर सकता है। उसे किसी भी ब्राह्मणोचित धर्म को धारण करने का अधिकार नहीं होता है। यज्ञोपवीत संस्कार से पहले क़ोई भी बालक शिक्षा ग्रहण करने का अधिकारी नहीं हो सकता। शिक्षा आरम्भ करने से पूर्व बालक के जीवन को उद्‌देश्य पूर्ण बनाने के लिए यज्ञोपवीत संस्कार परमावश्यक है। यज्ञोपवीत के तीन सूत्र उसके जीवन को एक स्पष्ट लक्ष्य प्रदान करते हैं। एक ऐसा उद्‌देश्य जिसकी पूर्ति होने के लिए ही वह बालक शिक्षा ग्रहण कर रहा है। यज्ञोपवीत के प्रथम सूत्र से बालक सम्पूर्ण वनस्पति मात्र का अनन्य भक्त बनता है। पर्यावरण के प्रति वह अपने जीवन के बहुमूल्य योगदान को जानता है। सम्पूर्ण वनस्पति मात्र का परम भक्त होकर जीने का संकल्प लेता है। पहले सूत्र के पृष्ठ में एक बड़ी सुन्दर और मनोरम कथा है।

यदङ्गँ दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि।
तवेत्तत्सत्यमङ्गिरः।। 1. 1. 6।।

जीवन के स्वर्ण क्षणों को खोकर भस्मी के अम्बार में लौट गया शरीर; पुनः प्रकृति का संग पाकर, पावन फलों में लौटता है। यज्ञ की ज्वाला पेड़-पौधों के गर्भ में उसके तन की राख को यज्ञ के द्वारा ज्योतियों में परिणित करती, सुन्दर फलों-फूलों में लौटा देती है। भस्मी के कण आहुति बनकर, जब पेड़ के गर्भ में, यज्ञ की ज्वालाओं

में यज्ञ होते हैं, तो वे पुनः नाना प्रकार के फलों-फूलों में लौटते हैं।

एवा ह्यस्य सून ता विरप्शी गोमती मही।
पक्वा शाखा न दाशुषे।। 1. 8. 8।।

सम्पूर्ण पेड़-पौधे आदि सचराचर में उत्पत्ति के वे अमर यज्ञ हैं जो हमारे ही तन की मिट्टी को पवित्र यज्ञों के द्वारा नाना वनस्पतियों में लौटाते हैं। यज्ञोपवीत जो कि तीन तागों का बना होता है। उसका पहला तागा इसी यज्ञ का प्रतीक माना गया है। पहले सूत्र से बालक अपनी शिक्षा को वनस्पति मात्र की सेवाओं में समर्पित करता है। सम्पूर्ण प्रकृति में, पेड़-पौधों में वह बालक अपनी ही आत्मा का दर्शन करेगा। उस यज्ञ की अनुभूति लेगा, जिसके द्वारा उसके तन की मिट्टी सुन्दर फलों और फूलों तथा अन्न आदि में लौटी थी। बालक हर पेड़-पौधों के प्रति समर्पित भक्त बनेगा। हर पेड़-पौधे को भगवान का मन्दिर जानेगा। व्यर्थ में उन्हें नहीं तोड़ेगा वरन् मूल रूप में प्रकृति रूपी इस वाटिका का एक सुघड़ माली होगा। पेड़-पौधों में अपने ही जैसे लोगों की भस्मी को सुन्दर फलों में लौटता हुआ देखेगा। आत्मदर्शन करेगा! सम्पूर्ण प्रकृति का वह माली और रक्षक होगा। यज्ञोपवीत का पहला सूत्र ही उसे सदा प्रकृति की समर्पित सेवा और भक्ति की ओर सदा सचेत करेगा। जबतक वह इन वृक्ष पौधों से आत्मभाव तथा आत्मस्थ सम्बन्ध नहीं बनायेगा, उसे इन वृक्ष पौधों में हो रहे ब्रह्म के यज्ञों का रहस्य भी तो प्राप्त नहीं होगा। उसकी शिक्षा का पहला उद्देश्य है, सम्पूर्ण वनस्पति मात्र में हो रहे इस यज्ञ के रहस्यमय ज्ञान को प्राप्त होना तथा यज्ञ को कर सकने की सामर्थ्य को प्राप्त होना। यह उसकी शिक्षा का प्रथम उद्देश्य है।

दूसरा सूत्र यज्ञोपवीत का भी, पुनीत यज्ञ की कहानी है। उसके जीवन की ही दूसरी कथा है।

यथाः-

यः कुक्षिः सोमपातमः समुद्रइव पिन्वते।
उर्वीरापो न काकुदः।। 1. 8. 7।।

दूसरे सूत्र में उस प्रकृति के दूसरे यज्ञ को जानना है। जिसमें फल अन्नादिक नाना जीवों के शरीरों के रूप में लौट रहे हैं। यज्ञ के द्वारा पेड़ों के गर्भ में प्रकट हुए अन्न को एक दम्पत्ति भोजन के रूप में ग्रहण करते हैं। वही अन्न पुनः सामिग्री बनकर उनकी यथा देहों में यज्ञ होता पुनः रक्त, मांस आदि में बदल संतति का रूप धारण कर लेता है। यज्ञोपवीत के दूसरे सूत्र की शिक्षा है तथा उसके जीवन का सत्य संकल्प है कि उसे जीव मात्र में आत्मदर्शन करना है। ऐसे ही वह बालक भी तो अन्न से बालक के रूप में प्रकट हुआ था। ऐसे ही अन्न, जल तथा वनस्पति

से सम्पूर्ण सचराचर प्रकट हो रहा है। उसको घट-घट वासी आत्मा का दर्शन सम्पूर्ण सचराचर में करना है। प्राणी मात्र का समर्पित भक्त होकर जीना है। जीव मात्र में प्रभु आत्मा होकर विराजते हैं। ऐसा मानता हुआ प्राणी मात्र की सेवा और रक्षा का भार उसे अपने ऊपर स्वयं ग्रहण करना है। जीव मात्र से उसकी अटूट और अभेद आस्था हो तथा जीव मात्र से प्यार कर सके। जीव मात्र के प्रति समर्पित भाव की प्रेरणा को सनातन-धर्म में नाना मन्दिरों और मूर्तियों के रूप में दर्शाया गया है। प्रत्येक मन्दिर में देवी-देवताओं के साथ पशुओं, पक्षियों और वृक्षों की कल्पना की गयी है। चूहे से लेकर शेर के मन्दिर बनाए गये हैं। इन सब मन्दिरों को बनाने की कल्पना के पीछे मात्र यही उद्देश्य है कि धरती का मनुष्य एक अच्छे माली की तरह, सभी को सुखद जीवन दे। ऐसा करना उसका धर्म है और कर्तव्य भी। यदि पर्यावरण का एक भी अंग नष्ट हो जायेगा तो पूर्ण प्रकृति विप्लव को प्राप्त हो जायेगी। ऐसी स्थिति में मनुष्य भी नष्ट हो जायेगा इसलिए प्रकृति और धर्म के द्वारा दिया गया प्रथम उद्देश्य, उपदेश और संकल्प यज्ञोपवीत के द्वारा ही बताया गया है। दूसरा सूत्र सम्पूर्ण सचराचर की सेवा करना है तथा सबमें अपनी ही आत्मा का दर्शन करना है। जब तक बालक प्राणी मात्र के प्रति समर्पित भक्त नहीं होगा, उसे उस यज्ञ का ज्ञान क्योंकर प्राप्त होगा?

दूसरे सूत्र के द्वारा अन्नादिक, यज्ञ के द्वारा किस प्रकार जीव की देह के रूप में प्रकट होता है। ऐसे यज्ञ को जानना है। अन्न को, पशु-पक्षियों के संसार में परिणित करने वाले यज्ञ को जानना ही यज्ञ का दूसरा सूत्र है। यज्ञ को जानने का अर्थ है यज्ञ करने की स्वतंत्रता को प्राप्त होने से है। यदि इस यज्ञ को ही वह न जान पाया तो उसके जीवन की सारी उपलब्धि सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान, उसके क्षण भंगुर जीवन के साथ ही लुप्त हो जायेगा! यदि दुबारा वह मनुष्य योनि में लौटेगा भी तो, उसी ज्ञान-विज्ञान और सामर्थ्य के लिए उसे पुनः नये सिरे से अभ्यास करना पड़ेगा। दूसरे यज्ञ को जाने विना वह अपने आप को भी नहीं जान सकता है तथा उसकी कोई भी उपलब्धि उसके जीवन के सीमित क्षणों तक ही रह सकती हैं। जिसने आवागमन के रहस्यों को जानकर मृत्यु की सीमा को न तोड़ा, उसकी कोई भी उपलब्धि कैसे स्थिर हो सकती है? इसलिए शिक्षा का दूसरा सूत्र जीव मात्र में हो रहे उस यज्ञ को जानना है जिसके द्वारा बालक ने स्वयं स्वरूप पाया है तथा जिसके द्वारा निरन्तर सभी जीव-जन्तु यथा संतति से वरद हो रहे हैं।

तीसरा सूत्र :-

बीलुचिदारूजतनुभिर्गुहा चिदिन्द्र वह्निभिः।
अविन्द उस्रिया अनु।।

तेरा तन एक मन्दिर है, आत्मा इस मन्दिर की प्राण प्रतिष्ठित मूर्ति है तथा जीभ ही इस मन्दिर का निमित्त पुजारी है।

यही गुरूकुल में मन्दिर की कल्पना है। शरीर के धड़ के जैसा ही मन्दिर का गोल कमरा बनाते हैं। जिस प्रकार भक्त प्रभु की मूर्ति के सम्मुख आसन अथवा पल्थी लगाकर बैठते हैं, उसका प्रतीक ही मन्दिर का चबूतरा है तथा धड़ के जैसा गर्भगृह का गोल कक्ष है। सिर के जैसा ही गुम्बद बनाते हैं तथा केशों के व्यवस्थित जूड़े के सदृश्य गुम्बद के ऊपर कलश की सज्जा करते हैं। आत्मा जैसी प्राण प्रतिष्ठित मूर्ति तथा जीवरूप निमित्त पुजारी।

यज्ञोपवीत के तीसरे सूत्र से उस यज्ञ के रहस्य को पाना है, जिसके द्वारा वह मनुष्य की योनि को देव योनि में परिणित कर अजर अमर अवस्था को प्राप्त हो सके। उस अवस्था को प्राप्त हुए बिना उसका सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान और उपलब्धियां अस्थायी ही रहेंगी तथा हर बार उसे नये सिरे से बटोरना पड़ेगा। इसलिए तीसरा सूत्र अत्यधिक महत्वपूर्ण है। शरीर सामिग्री को अर्थात् शरीर को सामिग्री बनाकर आत्मज्वालाओं को, यज्ञ की ज्वाला बनाकर; आत्मा को यज्ञ का अधिष्ठित देव अर्थात् आचार्य बनाकर तथा प्राणवायु को उपाचार्य बनाकर तथा जीवरूप स्वयं को यजमान बनाकर, शरीररूपी सामिग्री को आत्मज्वालाओं में यज्ञ करता आचार्य और उपाचार्य से वरद् हो, अमर अवस्था को प्राप्त हो जाये। ये तभी सम्भव हो सकता है जब वह जीवन के प्रत्येक क्षण को आत्मस्थ होकर जिये। वनस्पति मात्र का अनन्य पुजारी, रक्षक और सेवक हो। सबमें अपनी आत्मा का दर्शन करता सबके हित में जीता, योग और साधना के माध्यम से, आत्मस्थ होता चला जाये। जीव और आत्मा के द्वैत को ज्ञान, तपस्या और साधना के द्वारा मिटाकर जीव और आत्मा का योगकर अद्वैत अवस्था को प्राप्त हो जाये। खिलौना खिलाड़ी बने! उपासक उपास्य हो!

यज्ञोपवीत पर सप्त (सात) गांठें होती हैं जो कि सप्त देवों के सम्मुख सार्थक, आध्यात्मिक जीवन जीने के पवित्र संकल्प को प्राप्त हैं। जो सप्त देवों का साक्षी है। यज्ञ तथा हवन में भी जो सात विशिष्ट आहुतियां दी जाती हैं ये उनका प्रतीक हैं। सप्त वासनाओं से रहित होकर जीना ही एक शिक्षित व्यक्ति का धर्म है। इस प्रकार यज्ञोपवीत एक उच्च आदर्शपूर्ण सार्थक तथा उद्देश्यपूर्ण जीवन का प्रतीक माना गया है। यज्ञोपवीत के बिना बालक शूद्र ही माना जाता है। भले ही उसने कुलीन ब्राह्मण के कुल में भी क्यों न जन्म पाया हो। कालान्तर में दुर्भाग्यवश नये सम्प्रदायों में, कलियुग में प्रकट होने के कारण यज्ञोपवीत भी अपने ऊँचे आदर्श को खोकर जात-पात की गन्दगी में फंस बैठा है। अभेद धर्म का नारा देने वाले

सम्प्रदायों की भेदभाव की गन्दगी का शिकार पवित्र यज्ञोपवीत भी हुआ है।

यज्ञोपवीत को धनुषाकार पहनने की परम्परा है। ये गाण्डीव की तरह धारण किया जाता है। वेदों की मान्यता के अनुसार जीवन का प्रत्येक क्षण जीवन रूपी संग्राम का क्षण है। मान्यताओं के महासमर में मनुष्य एक निरन्तर योद्धा है। जीव होकर अर्थात् जीवरूप में वह योद्धा ही युद्ध का महारथी है। शरीर रथ है! घट-घट वासी आत्मा जो प्रत्येक सांस और धड़कन से रथ को चला रहा है! रथ का जीवरूप वह सारथी है। यज्ञोपवीत गाण्डीव है तथा मायाओं का महासमर महाभारत है। एक ऐसा युद्ध है जिसे उसे प्रत्येक क्षण लड़ना है। एक योद्धा की तरह उसे गुरूकुल में प्राप्त हुए अमृतमय ज्ञान को सावधान योद्धा की भांति सतर्क होकर जीना है। उसे अपने शरीर को एक देवालय की भांति पवित्र रखना है। शरीर की पवित्रता, शरीर की शुद्धि के साथ ही मन इन्द्रियां तथा विचारों को भी अति पवित्र रखना है। केवल अशौच के क्षणों में जबकि उसका शरीर अपवित्र होगा, इससे पूर्व वह अपने गाण्डीव को अर्थात् यज्ञोपवीत को अपने कान पर उसी प्रकर लपेटेगा, जिस प्रकार योद्धा, युद्ध से उपराम होने पर अपने गाण्डीव की डोरी को खोलकर ढीला करके गाण्डीव पर लपेट देता है। यज्ञोपवीत उसके जीवन की परम पवित्रता है, मन इन्द्रियों, विचारों को पवित्र रखने का प्रतीक है। जब-जब यज्ञोपवीत का स्मरण आये तो सावधान होकर, आत्मस्थ होकर, जीवन के हर क्षण को ईश्वरमय बनाये।

महाभारत लीला महाकाव्य जहां एक ओर विशुद्ध सत्य ऐतिहासिक युद्ध का घटनाक्रम हैं, वहीं गुरूकुल में प्रत्येक छात्र के सम्पूर्ण जीवन के प्रत्येक क्षण का सही और सटीक फल सहित जीवन का लेखा जोखा है। शरीर रथ है, जीव महारथी अर्जुन है, आत्मा श्रीकृष्ण ही प्रत्येक रथ के सारथि हैं। यज्ञोपवीत गाण्डीव है। गुरूकुल का अमृत ज्ञान ही तुणीरों से भरा तरकस है। विषयासक्त जीवन ही कौरव पक्ष है। अन्धता जीने की मनोवृत्ति अन्धा धृतराष्ट्र है। सबकुछ जानते हुए भी अन्धता जीने की निकृष्ट मनोवृत्ति, आंखों के होते हुए भी आंखों पर पट्टी बान्ध कर अन्धता जीने की मनोवृत्ति धृतराष्ट्र की पत्नी गान्धारी है। नाना विषय वासनायें तथा कपट मनोवृत्तियां ही कौरवादि हैं। इसका शब्दकोश के अर्थों सहित श्रीमद् भगवतगीता के दिव्य भाष्य ग्रन्थों में सविस्तार है। वेदव्यास जैसा रहस्य लीलाओं का विलक्षण जादुगर दूसरा कभी हुआ नहीं। संपूर्ण महाभारत महाकाव्य जहां एक ओर इतिहास के क्षणों को अमरता प्रदान करता है, वहीं दूसरी ओर प्रत्येक छात्र के जीवन के प्रत्येक क्षण का निदेशक बन जाता है। श्रीमद् भगवतगीता प्रत्येक छात्र के प्रत्येक क्षण के अर्न्तद्वन्द को निर्णायक सार्थक अर्थ देती जीवन के प्रत्येक क्षण की निर्णायक सर्वव्यापी अमर कृति बन जाती है।

भगवान श्रीकृष्ण एवं श्रीबलरामजी का यज्ञोपवीत संस्कार हुआ है। सांदीपनी ऋषि को उन्होंने गुरू के रूप में ग्रहण किया है। गुरूकुल उनको पाकर धन्य हो गया है। सुदामा आदि बालकों से उनकी भेंट होती है। गोविन्द को पाकर गुरूकुल के सभी अन्य शिष्य तथा गुरूमाता धन्य हो जाती हैं। उन्हें लगता है, जैसे उनका खोया हुआ पुत्र उन्हें मिल गया हो। प्रथम दृष्टि में ही वे श्रीकृष्ण पर मोहित हो जाती हैं। कृष्ण के लिए उनका प्यासा मातृत्व उमड़ आता है। जिस सुख से यशोदा जी हर क्षण परिपूर्ण थी तथा जिस सुख को जेल में बन्द देवकी तरसती थी आज वह सुख का सागर गुरूमाता की गोद में उतर आया है।

हरि ॐ! गोविन्द हरि!

33

महाभारत की पृष्ठभूमि!

वेदव्यास! हे रहस्य लीलाओं के जादूगर! तुम्हारे महाकाव्य, महाभारत ने आज सारे विश्व को भ्रमित कर दिया है। कथा के आरम्भ में जो वाक्य भगवान श्री ब्रह्मा ने तुमसे कहे थे, वे आज नितान्त सत्य होकर प्रकट हो रहे हैं। हजारों साल तक कवि तुम्हारे इस महाकाव्य पर कविताएं रचते रहे हैं। हजारों साल से भाष्यकार तुम्हारे इस महाकाव्य का भाष्य करते रहे हैं। ज्ञान और विज्ञान की असंख्यों धाराएं भी इसी महाकाव्य से प्रस्फुटित होती रही हैं, यह सब कुछ होते हुए भी वेदव्यास आज भी इस धरती का मनुष्य जानता नहीं है, कि तूने ग्रन्थ में कहा क्या है? हे युगान्तर दृष्टा; तुम्हारे इस महाकाव्य का रहस्य आज भी इस धरती का मानव नहीं जानता है।

मेरी कल्पना की आंखों में महाभारत के वे क्षण प्रकट हो रहे हैं, जिन्होंने इस महाकाव्य को जन्म दिया था। मेरी कल्पना की आंखें युगों के अन्तरालों को पार करती, उन्हीं क्षणों को छूने लगीं हैं। जिनकी दहलीज पर यह अद्‌भुत महाकाव्य खड़ा हुआ है।

विचित्र वीर्य और चित्रांगद चिर निद्रा निमग्न हो चुके हैं। अम्बे और अम्बालिके दोनों ही निःसन्तान हैं। कुरूवंश का सूर्य अस्त हो चुका है। सत्यवती ने तुम्हें बुलाया है। सत्यवती ने रोकर तुमसे कहा,

''कि वेदव्यास! अब कुरूवंश का सूर्य तो डूब चुका है। विचित्रवीर्य और चित्रांगद संतानहीन ही मृत्यु को प्राप्त हो चुके हैं। मेरे कारण ही भीष्म ब्रह्मचर्यव्रती हैं। मैं ही इस कुल के नाश का कारण बनूंगी। इतिहास मुझे कभी क्षमा नही

करेगा।'' फूट-फूट कर रो रही थी सत्यवती!

वेदव्यास! तब तुमने सत्यवती को सांत्वना दी थी।

''माते! आप व्यथित न हों। आप अम्बे एवं अम्बालिके को पुत्र गोद लेने का आदेश करें। दोनों बालकों में जो योग्य होगा वही राज्य का उत्तराधिकारी होगा।''

''परन्तु पुत्र! वे कुरूकुल के तो नहीं होंगे। ऐसी अवस्था में उन्हें सामन्त तथा जनता भी उन्हें स्वीकार नहीं करेगी?''

''निस्सन्देह रहें माते! कुरूवंश कभी भी रक्त से नहीं माना गया है। योग्यता ही इसका प्रमाण रही है। महाराज भरत ने अपने नौ पुत्रों को अयोग्य होने के कारण परित्याग करके, एक योग्य सैनिक भूमन्यु को अपना उत्तराधिकारी बनाया था। उसी से कुरूवंश आगे चला। आप भी ऐसा ही करें।''

''यदि वे योग्य नहीं निकले तब भी मैं ही कुरूवंश घातिनी कहलाऊंगी!'' गहरी निश्वास लेकर सत्यवती ने अपनी हताशा प्रकट की थी।

''माते आप निश्चिन्त होकर जायें। आप उन बालकों को यथा गोद दिलवायें। यदि विकल्प के रूप में तीसरा बालक भी गोद लिया जाये तो अति उत्तम होगा। मैं इन्हें पुनः अपने नेत्रों से एक महाकाव्य के रूप में जन्म दूंगा। अर्थात अपनी कल्पनाओं में प्रकट कर एक महाकाव्य के रूप में कुरूवंश को सदा के लिये अमर कर दूंगा। जिससे आप पर कभी इतिहास कलंक न लाये।''

तुमने माता सत्यवती को आश्वस्त करके ऐसा ही किया था। तुमने ही अपनी कल्पनाओं के अनुरूप उन्हें यथा नाम प्रदान किये थे। धृतराष्ट्र अर्थात सचराचर को धारण करने वाला, काल, समय! नेत्रहीन, अन्धा समय! दूसरे बालक का नाम रखा था - पाण्डु! पाँच तत्वाण्डो बना शरीर - पाण्डु! तीसरा दासी पुत्र - विदुर! विद्वता हो जिसके उर अथार्त हृदय में। विनम्र भाव में ही विनम्रता का वास है। इसलिये विदुर का दासीपुत्र होना उसकी अनिवार्यता है। इतिहास जो भी होगा, वेदव्यास उसे लीलामहाकाव्य बनाकर अमरता प्रदान करेगा। इस प्रकार उनके नाम घोषित करके स्वयं तपस्या के लिए वन को चले गये थे। कुछ काल के उपरान्त माता सत्यवती ने तुम्हें पुनः बुलवाया। दुर्भाग्य से एक बालक दुर्घटनावश अन्धा हो गया और दूसरा रोगी। माता तुम्हारे सम्मुख रो पड़ी थी। तुम अटल थे अप्नी कथनी पर। जैसे भविष्य के इस घटनाक्रम को तुम पहले से ही जानते थे।

''माते योग्यता के आधार पर पितामह भीष्म तथा सभासद योग्य उत्तराधिकारी का यथा समय चयन करेंगे। चयन इन्हीं कुमारों में ही होगा।''

''परन्तु कैसे? एक बालक अन्धा है और दूसरा पाण्डु रोग से ग्रसित है! पुत्र! इन बालकों के हाथ में कुरूवंश का भविष्य किस प्रकार सुरक्षित होगा?'' विह्वल

होकर सत्यवती ने पूछा।

''माँ मेरी कल्पना की दृष्टि से अम्बे और अम्बालिके के यही पुत्र पुनः उत्पन्न होंगे। अर्थात्! मेरी कल्पना की दृष्टि से इन्हीं बालकों को पृष्ठभूमि में रखकर मैं एक महाकाव्य को प्रकट करूँगा। यह महाकाव्य, ऐतिहासिकता की पृष्ठभूमि पर, दिव्य, अद्भुत, आध्यात्मिक महाकाव्य होगा। यह महाकाव्य ही पुत्र बनकर तुम्हारे कुरूवंश को सदा-सदा के लिए अमर कर देगा।''

वेदव्यास! माता के दिये हुए वचन को तुमने पूरा किया। कुरूवंश की ऐतिहासिक धरती पर अपने आराध्य श्रीकृष्ण को लेकर तुमने एक महाकाव्य की कल्पनाओं का स्वरूप दिया। एक ऐसा महाकाव्य जो सत्य रूप में एक विशुद्ध ऐतिहासिक घटनाक्रम की धरती पर खड़ा एक अनूठा आध्यात्मिक महाकाव्य है। अन्धे बालक तथा पाण्डु रोग से ग्रसित बालक को तुमने अपने महाकाव्य में ग्रहण करके अर्थात् गर्भस्थ करके पुनः अपनी कल्पना के नेत्रों से प्रकट किया। यूँ तुम्हारे नेत्रों से धृतराष्ट्र, पाण्डु तथा दासी पुत्र विदुर प्रकट हुए। विशुद्ध इतिहास में कल्पनाओं का सम्मिश्रण कर, तुमने ऐसे महाकाव्य की कल्पनाओं को रूप दिया, जिसकी उपमा सारे विश्व के साहित्य में न कभी हुई है और न होगी।

तुम्हारा महाकाव्य धरती के मनुष्य को सदा ईश्वर की पवित्र राह देता रहा है। युगों तक यह गुरूकुल तथा समाज के लिए सुगन्ध बना रहा। भारत और भारती तुम्हारे इस महाकाव्य की सदा ऋणी रही। 'भरत-खण्ड' का मानव मात्र तुम्हारा अभारी है! परन्तु, किसे पता था, कलियुग में एक हिंसक बर्बर विदेशी आंधी जन्म लेगी, जो तुम्हारे द्वारा प्रकट की गयी समुन्नत मानव संस्कृति को भी अपनी अमानवीय हिंसक बर्बर वृत्तियों के कारण गुलाम बनायेगी।

हाँ! वेदव्यास आज से लगभग बारह सौ वर्ष पूर्व भरत की महान संस्कृति बर्बर हिंसक जातियों के द्वारा गुलाम बनायी गयी। बर्बर हिंसक जातियों की उस अंधी आंधी में इस देश के प्रबुद्ध समाज तथा संत और मनीषीजन, गाजर, मूली की तरह काटे गये। तपस्वी और ऋषि निरन्तर तथा निरपराध मौत के घाट उतार दिये गये। मन्दिर और आश्रम विदेशियों के द्वारा ध्वस्त हुए। विश्वविद्यालय धू-धूकर जले! भयंकर महाविनाश की अंधी आंधियों ने इस संस्कृति को विनष्ट एवं विस्थापित करके रख दिया। जिस युग में यह सब हुआ, उस युग में न तो कागज थे और न ही छापखाने। इस महान संस्कृति का इतिहास, भूगोल, समाजशास्त्र तथा ज्ञान और विज्ञान, विश्वविद्यालयों में ही संकलित था। भोजपत्रों के रूप में तथा ताम्रपत्रों पर लिखा हुआ था। भोजपत्रों को जलाकर विदेशियों ने राख कर दिया इस प्रकार इतिहास और भूगोल लुप्त हो गये। उनका जो शेष बचा साहित्य ताम्रपत्रों पर था,

उसे विदेशियों ने गला डाला और अपने तफरीगाहों पर उन्ही ताम्रपत्रों के नये महराब बनवा लिए थे। सब कुछ लुट गया! सब कुछ बर्बाद हो गया! समय के साथ बचा-खुचा इतिहास और भूगोल भी गुलामी की तहों और परतों के नीचे लुप्त होता चला गया। भय, आतंक तथा पीड़ायें इस महान संस्कृति की मानसिकताओं को बोझिल करती चली गयीं। समय के लम्बे अन्तरालों में रही सही स्मृतियों को भी पी लिया। इतिहास के खोने के कारण, भारत की मानसिकता जब अध्यात्म के ग्रन्थों में इतिहास को खोजने चली तो वे महान ग्रन्थ भी ऐतिहासिकता की पृष्ठभूमि पर खरे उतर नहीं पाये। उनकी महानता भी लुप्त होने लगी तथा वे महान ग्रन्थ भी कपोल कल्पित ग्रन्थों में आने लगे। तुम्हारे इस महाकाव्य के साथ भी यह सब कुछ हुआ। एक सच्चे इतिहास को पृष्ठभूमि में रखकर हर व्यक्ति के जीवन के महाभारत को दिखाने वाला, हर युग का यह महाकाव्य भी इन संदेहों के कटघरे में बहुत बार तिरस्कृत एवं अपमानित हुआ है। आज का मनुष्य और उसकी मानसिकता तुम्हारे इस अद्‌भुत धारा ग्रन्थ तक पहुँचने में सर्वथा असमर्थ है। काश! कुरूक्षेत्र का इतिहास लुप्त न हुआ होता! आज लोगों के मन में इस ग्रन्थ के प्रति इतना भ्रमित दृष्टिकोण न होता। लुप्त हो गये इतिहास के कारण ऐतिहासिक घटनाक्रम को, आध्यात्मिक महाकाव्य में खोजने की वृत्तियों ने इस महाकाव्य के साथ अन्जाने ही बहुत बड़ा अन्याय किया है। आधुनिक रोगी मानसिकता ने तुम्हारी कल्पना की दृष्टि से प्रकट होते पुत्रों को निकृष्टतम् नियोग ओर व्यभिचार की संज्ञा प्रदान कर दी है। आधुनिक टी0 वी0 संस्कृति के महान साहब और उनके परम सहयोगी बड़े सहिबान ने तुम्हें भी कृष्ण द्वैपायन से बदलकर कृष्ण नौकायन बना दिया है। तुम्हारे आदि बौद्धिक आध्यात्मिक कथन को भी उन्होंने नियोग की गन्दी घिनौनी वासना के साथ लपेटकर दर्शाया है। काश! ऐतिहासिकता को दर्शाने वाले वे भोजपत्र और ताम्रपत्र नष्ट न हुए होते। आज भारत का प्रबुद्ध समाज इतना अधिक भ्रमित न होता।

तुम्हारी कथा के नायकं भगवान श्रीकृष्ण को भी इन आधुनिक मनस्वियों ने गन्दे और घिनौने ढंग से प्रस्तुत किया है। भगवान श्रीकृष्ण के बाल्यकाल की रास-लीलाओं को भी तोड़-मरोड़कर पेश करने वाली मनोवृत्तियों ने तुम्हारे नायक के चरित्र पर बहुत-बहुत बार कीचड़ उछाला है। नितान्त ब्रह्मचारी जीवन व्यतीत करने वाले महायोगी, तपस्वी कृष्ण को व्यभिचार के गंदे घेरों में खड़ा किया है। काश! ऐतिहासिकता लुप्त न हुई होती! तो ये आधुनिक विकृत समाज इतना अधिक भ्रमित और अंधा तो न हुआ होता।

तुम्हारे नायक श्रीकृष्ण की कथा को गुरूकुल में ही छोड़कर मैं कुछ आगे की

कथा सुनाना चाहता हूँ। एक योगी और तपस्वी की कहानी का वह मोड़ जो उसे ब्रह्मचर्य से ग्रहस्थ की ओर ले गया था। श्रीकृष्ण का रूकमणि के साथ विवाह की कथा एक बार फिर दिखलाने की इच्छा हो रही है। मैं इस कथा को अपनी कल्पनाओं में एक बार फिर खड़ा करना चाहता हूँ। जिससे मैं अपने संतप्त मन को शान्त कर सकूँ।

हरि ॐ! नारायण हरि!

34

रूक्मिणि मंगल!

रूक्मिणि, विधर्भराज की छोटी कन्या है। विधर्भराज के एक पुत्र भी है, जिसका नाम रूक्मि है। रूक्मि, रूक्मिणि का बड़ा भाई है। विधर्भराज की राजधानी कौंडिन्यपुर है। रूक्मिणि के जन्म के कुछ समय उपरान्त रूक्मिणि की माता का देहान्त हो गया था। धर्म परायण, विधर्भराज ने रूक्मिणि को लालन-पालन हेतु अपने कुल पुरोहित ऋषि मुदगल के पास अम्बावती में भिजवा दिया। अम्बावती, एक सुन्दर, सुघढ़ छोटी सी गढ़ी है। अम्बावती चहुँ ओर से अम्बा नदी के द्वारा घिरी हुई है। विधर्भराज की कुल देवी अम्बा का पवित्र स्थान है। माँ अम्बा ही विधर्भ साम्राज्य की कुल देवी हैं। अम्बावती में ही रूक्मिणि का लालन-पालन तथा शिक्षा-दीक्षा राज पुरोहित के परिवार की लड़कियों के संग होती है। उन दिनों मायावी असुर तथा उनको आश्रय देने वाले असुर राजाओं का भय और आतंक अत्यधिक है। विधर्भ के पड़ोसी राजा, असुर राज जरासंध से पूरी तरह प्रभावित हैं। भगवान श्रीकृष्ण की बुआ के लड़के शिशुपाल भी विधर्भराज के पड़ोसी राजा हैं। असुरराज जरासंध के शिशुपाल घनिष्ठ मित्र हैं। लड़कियों और लड़कों को खरीदकर दास बनाना, उन्हें असुर राजाओं के हाथ बेचना शिशुपाल आदि राजाओं का कार्य है। रूक्मिणि का बड़ा भाई रूक्मि भी शिशुपाल का घनिष्ठ मित्र है। शराब, जुआ, शिकार तथा अन्य असुर वृत्तियों से भी वह ग्रसित है। जिसके कारण विधर्भराज, रूक्मी से अत्यन्त दुखी तथा चिन्तित रहते हैं। इन सभी कार्यों से विधर्भराज अपनी बेटी का लालन-पालन और शिक्षा का भार कुल पुरोहित पर छोड़ रखा है। कुल पुरोहित मुदगल ऋषि हैं। रूक्मिणि उन्हीं की बेटियों के साथ पल रही है। अपने

भाई रूक्मि के विपरीत रूक्मिणि बहुत ही भक्त, सुन्दर, विवेकशील तथा तेजस्वी कन्या है। अम्बावती में सभी लोग रूक्मिणि को अत्यधिक स्नेह एवं सम्मान देते हैं। रूक्मि का मित्र शिशुपाल, रूक्मिणि पर बुरी तरह से आसक्त है। शिशुपाल, रूक्मिणि को किसी भी कीमत पर पाना चाहता है। विधर्भराज को शिशुपाल फूटी आंख नहीं भाता है।

सुर नायक भगवान श्रीकृष्ण के गीत रूक्मिणि, लोकगीतों के नायकों से सुनती रही है। चारण और भाटों द्वारा, वासुदेव कृष्ण के शौर्य और महानताओं की गाथाओं को हर ओर गाते हुए रूक्मिणि ने सुना है। रूक्मिणि मन ही मन कृष्ण की ओर झुकने लगी है। लोक गायक, चारण और भाट, लोकगीतों के नायक के रूप में, वासुदेव कृष्ण को ही गाते हैं। वे सब उन्हें शेषशायी महाविष्णु का अवतार बतलाते हैं। रूक्मिणि के भोले मन को लोकगीत बहुत भाते हैं। उसके अंतर्मन तक बैठ जाते हैं, उसके कोमल हृदय को बींध जाते हैं। रूक्मिणि अन्जाने, ही श्रीकृष्ण को अपना पति मान बैठती है। कृष्ण की सुगन्ध उसकी सांसों में बसने लगती है। अनदेखे ही उसकी काल्पनिक छवि को वह मन ही मन रूप देती है। और फिर उस रूप की ही होकर रह जाती है। उसकी धड़कनों में, सांसों में, उसके विचारों में, उसके प्रत्येक क्षण में, प्रत्येक कल्पना में कृष्ण बस जाते हैं। किशोरावस्था की ड्योढ़ी को लांघकर यौवन के दहलीज पर कदम रखती भोली निष्पाप रूक्मिणि के प्राण कृष्णमय हो उठते हैं। दिन-रात कृष्ण की ही सुधि में वह खोई रहती है। कृष्ण से मिलने की व्याकुलता उसके जीवन में क्षण-क्षण बढ़ती जाती है। रूक्मिणि के व्यवहार में आ गया वह परिवर्तन, रूक्मिणि की सखियों से छिपा नहीं है। वे रूक्मिणि से पूछती हैं। परन्तु, भोली रूक्मिणि क्या उत्तर दे? यह उसका एक भोला बाल्यपन ही तो है। संकोचवश उनसे अपने मन की बात वह कह नहीं पाती है। विरह की वेदना की टीस उसके अंतर्मन को कचोटती रहती है। राज पुरोहित की कन्यायें रूक्मिणि को अतिशय प्रिय है। वह रूक्मिणि से जिद करके पूछती है, तो रूक्मिणि अपने मन का अनुराग जो कृष्ण के प्रति है, उन्हें रो कर बतलाती है। रूक्मिणि की कथा को सुनकर उसकी सखियां स्तब्ध रह जाती हैं। वे सब रूक्मिणि को समझाती हैं।

"सखी! ये तुमने कैसा अबोध प्रण कर डाला? क्या तुम्हें मालूम नहीं, कि वासुदेव श्रीकृष्ण नितान्त योगी और ब्रह्मचारी हैं। वे किसी भी स्वयंवर में नहीं जाते हैं। वासुदेव कृष्ण सम्राट होकर भी एक योगी, तपस्वी तथा ब्रह्मचारी की भांति जीवन बिताने का निर्णय लिया है। दीन, सताये हुए असहाय प्राणियों की समर्पित सेवा तथा सुरक्षा के लिए ही उन्होंने जीवन के प्रत्येक क्षण को समर्पित किया हुआ है।"

अपनी सखियों की बातों को सुनकर रूक्मिणि को लगा, कि उसका सारा संसार ही लुट गया है। भोली रूकमणि अत्यधिक निराश हो उठीं। उसका अंतर्मन कृष्ण को पाने के लिए अत्यधिक बोझिल हो उठा। जितना वह स्वयं को कृष्ण से अलग करने का प्रयास करती, उतना ही अधिक जीवन के प्रत्येक क्षण को कृष्ण से लिपटता हुआ पाती! कृष्ण को पाने की तड़प उसकी और बढ़ जाती। दिन-रात कृष्ण के विचारों में रूक्मिणि खोई रहती। लोकगायकों को बुलाकर कृष्ण के गीत सुनती। रूक्मिणि की पीड़ा असह हो उठती।

जब सखी के शब्द कानों में गूंजते, तो रूक्मिणि असह वेदना से बिलख-बिलख जाती। कृष्ण को पाने की प्यास उसकी दिन-दिन बढ़ती जाती। इस विचार से ही कि उसे गोविन्द नहीं मिलेंगे, उसका कृष्ण से कभी मिलन न होगा! वासुदेव उसके स्वयंवर में कदापि नहीं पधारेंगे! ऐसे विचार रूक्मिणि को बाणों की शैय्या पर लिटा देते। डाली से टूटे पुष्प की तरह वह मुरझा जाती! बिखर जाती! उसका दीवानापन क्षण-क्षण बढ़ता जा रहा था।

रूक्मिणि की सखियां जब उसे देखती तो तड़पकर रह जाती। सभी तरह से उसे ढाँढ़स बंधाने का प्रयास करती। परन्तु, रूक्मिणि जैसे सुनकर भी नहीं सुनती। जान कर भी अन्जान सी बनी रह जाती। उसे तो बस एक कृष्ण चाहिए! बस गोविन्द ही मिलें! इसके अतिरिक्त रूक्मिणि किसी से भी तो कुछ नहीं चाहती। रूक्मिणि का रूप बिना तेल के दिये सा बुझने लगा।

कृष्ण में खोई रूक्मिणि, बाग के कोने में बैठी स्वयं से संघर्ष कर रही थी। अनायास उसके मन में विचार आया। यदि कृष्ण योगी और तपस्वी होकर जीना चाहते हैं, तो तू भी क्यों न इसी मार्ग का अनुसरण कर। न सही इस जन्म में, फिर किसी जन्म में ही मुलाकात हो। यह विचार रूक्मिणि के मन में बहुत-बहुत गहरे उतरता चला गया। रूक्मिणि ने मूर्तिकारों को बुलवाया। उसने मूर्तिकारों से कहा, कि वासुदेव कृष्ण स्वयं नारायण हैं। मूर्तिकार वासुदेव कृष्ण की शेषशायी मूर्ति बनायें। उनके चरणों में लक्ष्मी जी के स्थान पर रूक्मिणि की ही मूर्ति बनाकर बिठा दें। रूक्मिणि की आज्ञा के अनुसार सुघड़, मूर्तिकारों ने वासुदेव कृष्ण की ही शेषशायी चतुर्भुजी मूर्ति बनायी। मूर्ति के चरणों में भोली रूक्मिणि की मूर्ति, चरण दबाती हुई बना दी। मूर्ति को पाकर रूक्मिणि खिल उठी। उसने गौरी, गणेश का मन्दिर बनवाया। मन्दिर के मध्य में शेषशायी कृष्ण तथा लक्ष्मी के रूप में, चरणों में बैठी उस मूर्ति को स्थापित किया। यह छोटा सा मन्दिर ही रूक्मिणि का सारा संसार बन बैठा। वासुदेव कृष्ण की मूर्ति से रूक्मिणि ने मन ही मन विवाह किया। श्रीकृष्ण को अपना पति स्वीकारा। स्वयं को मूर्ति रूपी कृष्ण के चरणों में समर्पित

किया। रूक्मिणि, श्रीकृष्ण की होकर पूजा और तपस्या में लीन हो गयी। रूक्मिणि ने विवाह न करने की अपनी इच्छा को भी विधर्भराज को लिख भेजा। रूक्मिणि ने लिखा कि वह पूजा और तपस्या के मार्ग पर ही जीना चाहती है। उसकी स्वयंवर की कोई अभिलाषा नहीं है। अत्यधिक पीड़ा के साथ विधर्भराज ने अपनी बेटी की इच्छा को स्वीकार लिया तथा कहला भेजा, कि वह रूक्मिणि की इच्छा के विरूद्ध कोई कार्य नहीं करेंगे।

शेषशायी कृष्ण के चरणों में मूर्तिमान हो गयी रूक्मिणि सदा-सदा के लिए कृष्ण की हो गयी। उसे बाह्य संसार का भान भी नहीं रहा। घन घोर तपस्विनी मन में एक कृष्ण रूपी विचार को बसाये, निरन्तर तपस्या में, साधना में खोई हुई एक नवयौवना। इस जन्म में न सही, किसी जन्म में तो गोविन्द स्वीकारेंगे उसे!

हरि ॐ! नारायण हरि!

35

समझौता!

जब से भगवान श्रीकृष्ण द्वारिकाधीश सुशोभित हुए, जरासंध का क्रोध भी शान्त हो गया। मथुरा पर जरासंध ने सत्रह बार आक्रमण किया था। प्रत्येक बार वह भगवान श्रीकृष्ण के हाथों पराजित हुआ। अट्ठारहवीं बार जब वह मथुरा पर आक्रमण करने जा रहा था, अपनी सेनाओं के साथ, तो दूसरी ओर से उसका मित्र कालयवन अपनी सेनाओं को लेकर मथुरा की ओर बढ़ रहा था। उसी समय कृष्ण ने द्वारिका में बसने का निर्णय लिया था, द्वारिका की ओर प्रस्थान कर गये। मार्ग में उन्होंने कालयवन की सेनाओं पर भीषण आक्रमण करके उन्हें तहस-नहस कर डाला। इस युद्ध में कालयवन भी मारा गया। प्रवर्षण पर्वत को पार कर श्रीकृष्ण द्वारिकाधीश सुशोभित हुए।

भगवान श्रीकृष्ण ने सुधर्मा सभा की स्थापना की। सभी सुर राजाओं का एक विशाल संगठन बनाया गया, जिसके अध्यक्ष भगवान श्रीकृष्ण बनाये गये। विधर्भराज भी सुधर्मा सभा का सदस्य बनना चाहते थे। परन्तु, जरासंध और शिशुपाल से सीधी शत्रुता लेने में कतराते थे। विधर्भराज श्रीकृष्ण और बलराम जी को सुर राजाओं सहित अपने यहां आमंत्रित किया। उन्होंने साथ में महाराज जरासंध तथा अन्य असुर राजाओं को भी उस समय कौड़िन्यपुर में आने का आमंत्रण दिया। महाराज ने सुर और असुर राजाओं को इसी उद्देश्य से बुलाया कि जिससे आपस में समझौता कराकर इस वैमनस्य को समाप्त कर दिया जाय। विधर्भराज की इस मंशा का सुर और असुर सभी राजाओं ने स्वागत किया। श्रीकृष्ण बलराम तथा अन्य सुर राजाओं के साथ कौड़िन्यपुर चल दिये दूसरी ओर मगध नरेश महाराज जरासंध,

भौमासुर तथा दंतवक्त्र आदि असुर राजा कौड़िन्यपुर की ओर रवाना हो गये। जब रूक्मिणि ने सुना कि भगवान श्रीकृष्ण कौड़िन्यपुर पधार रहे हैं, तो रूक्मिणि भी अपनी सखियों के साथ अम्बावती से कौड़िन्यपुर आ गयी। यहीं पर रूक्मिणि ने अपने अराध्य भगवान श्रीकृष्ण का प्रथम दर्शन पाया, परदे की ओट से। रूक्मिणि ने उनको देखा, तो बस देखती ही रह गयी। उसे लगा कि उसकी कल्पनाओं के आराध्य कृष्ण और वासुदेव श्रीकृष्ण दोनों विलक्षण ढंग से सर्वांग एक हैं। वह उन्हें देखती ही रह गयी। यदि सखियां सचेत न करती तो रूक्मिणि बस खड़ी देखती ही रहती। भगवान श्रीकृष्ण ने रूक्मिणि को कभी नहीं देखा था तथा उसके विषय में कुछ जानते भी नहीं थे।

सुर तथा असुर राजा भवन में आसनों पर विराज गये हैं। कृष्ण और जरासंध आमने-सामने बैठे हैं। ऐसे समय में विधर्भराज ने सभी को संबोधित किया!

''महाराज जरासंध एवं सुधर्मा सभा के सिरमौर वासुदेव कृष्ण! मैं आप सब का इस सभा में स्वागत करता हूँ। आप सबने यहां पधारकर मुझपर विशेष कृपा की है। आप सबको आमंत्रित करने का मेरा यही उद्देश्य है, कि भरत-खण्ड में हो रहे भयंकर रक्त-पात को रोका जाये। आप दोनों के वैमनस्य के कारण निरन्तर हो रहे भीषण संग्राम के कारण अत्यधिक जन-विनाश हो रहा है। अब इसको रोका जाये। इसके लिए ही हमने यह सभा आहूत की है। आप दोनों महान् हैं। सामर्थ्यवान हैं। आपस में संधि के लिए भी किसी तीसरे की आपको आवश्यकता नहीं है। इसलिए मैं चाहूँगा कि अधिक कुछ न कहकर आप दोनों से प्रार्थना करूं, कि इस भयंकर रक्त-पात को समाप्त करने के लिए आप दोनों आपस में मित्रता कर लें। आप दोनों आपस में निकट संबन्धी भी हैं। लड़ाइयों का कारण कंस की मृत्यु ही है। महाराज जरासंध! आपने तो मथुरा को नष्ट करने का संकल्प लिया था। वह भी अब पूरा हो चुका है। भगवान श्रीकृष्ण मथुरा का परित्याग कर द्वारिका में जाकर बस गये हैं। इसलिए अब संधि में कोई अवरोध नहीं है।''

विधर्भराज बड़ी विनम्रता से वासुदेव कृष्ण तथा जरासंध को संधि के लिए प्रेरित करते हैं। जिसके उत्तर में भगवान श्रीकृष्ण बड़ी विनम्रता से उत्तर देते हैं।

''विधर्भराज! हम आपके विचारों का आदर करते हैं। आपने जो कुछ भी कहा है, मैं उससे सहमत हूँ। मातामह महाराज जरासंध के प्रति मेरे मन में कभी द्वेष नहीं था। जिसका स्पष्ट प्रमाण है कि युद्ध में सत्रह बार मैंने इन्हें बन्दी बनाया परन्तु इनकी हत्या नहीं की। उन्हें अपमानित भी नहीं किया। सम्मान सहित उन्हें विदा किया। यह ठीक है कि मेरे हाथों से मेरे मामा कंस की हत्या हुई। उसके साथ आपको यह भी याद होगा, कि मामा कंस ने मेरे माता और पिता को जेल में डाल,

मेरे नवजात भाइयों की निर्मम हत्यायें की। यही व्यवहार उन्होने अपने पिता तथा मेरे नाना महाराज उग्रसेन के साथ किया था। न चाहते हुए भी मुझे युद्ध के लिए ललकारते हुये अपने मामा कंस को मारना पड़ा। यह सब होते हुए भी मेरे मन में मातामह जरासंध के प्रति न तो कोई बैर है और न ही द्वेष भाव। मुझे उनसे संधि करने में कोई आपत्ति नहीं है। मैं भी चाहता हूँ, कि व्यर्थ के रक्त-पात को रोका जाये। कोई भी सम्मान जनक समझौता मुझे स्वीकार होगा।''

कृष्ण की शान्त संयत वाणी सारी सभा को मोह गयी। परदे के पीछे बैठी रूक्मिणि तो जैसे एक-एक क्षण को पी रही थी। महाराज जरासंध ने उत्तर दिया।

''विधर्भराज! आपके इस प्रयास का मैं स्वागत करता हूँ। श्रीकृष्ण ने जो कुछ भी कहा, उनके शब्द भी मुझे अति प्रिय लगे हैं। यह भी सच है कि मेरे जामाता कंस ने वसुदेव और देवकी के साथ घोर अन्याय किया था। यह सब जानते हुए भी जब विधवा बेटियों पर मेरी निगाह पड़ती थी तो क्रोध और पीड़ा के आवेश में मथुरा पर आक्रमण करता था। मेरा संकल्प भी था कि जिस नगरी में बेटियों के सुहाग उजड़े हैं, मैं उस नगरी के सारे सुहाग उजाड़ दूंगा। अब मथुरा उजड़ गयी है, तो मेरे मन में भी कोई आवेश नहीं है। कृष्ण से सम्मान जनक युद्ध संधि करने में मुझे कोई आपत्ति नहीं है।''

महाराज जरासंध की घोषणा का सारी सभा ने हर्ष ध्वनि से स्वागत किया। सभी के चेहरे तनावमुक्त हो उठे। विधर्भराज ने युद्ध संधि का प्रस्ताव रखा। श्रीकृष्ण तथा महाराज जरासंध ने भी उसका यह कहते हुए अनुमोदन किया,

''युद्ध संधि के प्रस्ताव को मैं पूरी तरह स्वीकार करता हूँ। इसके साथ ही मैं इस बात को स्पष्ट कर देना चाहता हूँ, कि कृष्ण मेरे राज्य की सीमाओं में प्रवेश नहीं करेंगे तथा मैं स्वतंत्र हूँ अपने राज्य में! कृष्ण हमारे किसी भी कार्यों में अवरोध नहीं उत्पन्न करेंगे।''

महाराज जरासंध के इन शब्दों के पीछे उनका मूल भय असुरों के द्वारा गुलाम बनाकर बेचे जाने वाले दास और दासियों के प्रति था। असुर राजा निरीह अबलाओं को तथा निराश्रित बच्चों को बेचने का व्यापार करते थे, जिसका विरोध श्रीकृष्ण करते थे।

''महाराज जरासंध! आपकी इस शर्त को हम स्वीकार नहीं कर पायेंगे।'' वासुदेव कृष्ण ने विनम्रता से कहा,

''धरती किसी भी राजा की नहीं है। धरती भगवान की है। राजा होकर हम परमेश्वर के प्रति निष्ठा रखते हुए हम प्राणी मात्र की सेवाओं के लिए हैं, न कि उनके शोषण के लिए! कृष्ण किसी भी राज्य की सीमाओं को नहीं मानेंगे। जब

भी, जहां कहीं भी, कोई निरीह अबला अथवा व्यक्ति दास बनाकर बेचने के लिए पकड़ा जायेगा, उनकी रक्षा के लिए कृष्ण अवश्य आयेगा। प्राणी मात्र की समर्पित सेवा और रक्षा हमारा धर्म है। भारत की संतान विदेशों में जाकर दीन और असहाय अवस्थाओं में बैची जायें, इसे हम कभी स्वीकार नहीं करेंगे! महाराज हमने कभी सत्ता के लिए हथियार नहीं उठाया है। हमारे हथियार तो निरीह प्राणियों की रक्षा के लिए हैं, तथा शोषण को मिटाने के लिए हैं। इसलिए हम आपकी शर्त को नहीं मान पायेंगे।''

असुर राज जरासंध क्रोध से पागल हो उठा। उसने दहाड़कर कहा,

''कृष्ण! मैं असुर हूँ। मैं वही करूंगा जो मेरा धर्म कहेगा। वीरभोग्या वसुन्धरा यही हमारा सिद्धान्त है। तुम्हारे ये शब्द मुझे बाण की तरह तीखे लगे हैं। मेरी ओर तुम्हारी संधि कभी नहीं होगी। हम सदा युद्ध करेंगे।''

''यह हमारा दुर्भाग्य है मातामह! परन्तु आप सत्य कह रहे हैं। हम और आप सदा युद्ध करेंगे। यहीं हमारी नियति है।'' श्रीकृष्ण ने संयत भाव से उत्तर दिया।

जरासंध क्रोध से तमतमा रहा था। कृष्ण निर्विकार और शान्त बैठे थे। सारा वातावरण भयंकर तनाव में चला गया। तभी भौमासुर नंगी तलवार लेकर कृष्ण पर दौड़ा। यह कहते हुए कृष्ण पर झपटा,

''ले सुरनायक! तेरी युद्ध पिपासा मैं अभी पूरी कर दूँ।''

भौमासुर ने तलवार से भरपूर वार कृष्ण पर किया। परन्तु, श्री बलराम ने अपने अस्त्र पर भौमासुर के वार को रोक लिया। दोनों युद्ध के लिए तैयार हो गये। श्रीकृष्ण शान्त भाव से उठे। उन्होंने दोनों की बाहों को पकड़कर झटक दिया। भौमासुर की तलवार धरती पर जा गिरी। भगवान ने कहा,

''भैया! विधर्भराज ने तो हमारे हित के लिए हमें यहां बुलाया था। हम ऐसे आचरण क्यों कर रहे हैं, जिससे उनको संकोच हो।'' कृष्ण के इन शब्दों से बलराम शान्त हो गये। श्रीकृष्ण, भौमासुर की ओर मुड़े और कहा,

''भौमासुर! तू मुझसे युद्ध करना चाहता है न। जा! युद्ध की तैयारी कर, मैं तेरे राज्य पर आक्रमण करने आ रहा हूँ!' कृष्ण ने झटका दिया, भौमासुर दूर फर्श पर लोट गया।

श्रीकृष्ण अपने सुर राजाओं के साथ सभा भवन से उठकर चले गये। रूक्मिणि यह सब देख रही थी। उसके मन में भगवान श्रीकृष्ण के प्रति अगाध स्नेह, सम्मान तथा समर्पण का भाव सारी सीमाओं को तोड़ गया। मन ही मन उसने गोविन्द को प्रणाम किया। सभा विसर्जित हो गयी। समझौता नहीं हो पाया!

श्रीकृष्ण, बलराम तथा सभी सुर राजा द्वारिका को प्रस्थान कर दिये। रूक्मि के

आग्रह पर महाराज जरासंध रुक गये। शेष सभी असुर राजा भी प्रस्थान कर गये। रूक्मि ने अपने मित्र शिशुपाल को भी कुछ दिन के लिए रोक लिया। रूक्मिणि भी उस समय कौड़िन्यपुर में ही थी। शिशुपाल ने इसे अच्छा अवसर मानकर जरासंध को तैयार किया, कि वह विधर्भराज से कहकर रूक्मिणि की शादी शिशुपाल से करवा दे। असुर राज जरासंध मान गया। उसने विधर्भराज के पास जाकर कहा,

"विधर्भराज! मैं एक विशेष प्रार्थना लेकर आप के पास आया हूँ। आप जानते ही हैं कि शिशुपाल मेरे अनन्य मित्र हैं। कुलीन राजा हैं। ऐश्वर्य सम्पन्न हैं। मेरी इच्छा है कि आप अपनी बेटी रूक्मिणि का विवाह शिशुपाल से कर दें।"

"महाराज जरासंध! रूक्मिणि के विवाह का निर्णय रूक्मिणि को स्वयं करना है। उसने विवाह न करने की बात मुझे कही है। फिर भी उससे पूछ लेता हूँ। यदि वह चाहेगी तो मैं स्वयंवर की घोषणा कर देता हूँ। उस स्वयंवर में रूक्मिणि जिसे भी चाहे पति रूप में वरण कर सकती है। पति चयन का अधिकार रूक्मिणि को है। उसके लिए मैं आपको कैसे वचन दे सकता हूँ।" विधर्भराज ने विनम्रता से उत्तर दिया।

असुर राज जरासंध भड़क उठा। उसने क्रोध में आकर महाराज विधर्भराज से कहा,

"आप तो जानते ही हैं, मैं असुर हूँ। हम असुर तो लड़कियों को उठा ही ले जाते हैं। मैंने आपसे एक सम्मान जनक प्रस्ताव रखा है। यह आपके हित में है, कि आप मेरे प्रस्ताव को स्वीकार करें। अन्यथा कभी रूक्मिणि का विवाह तो होगा ही और वह भी शिशुपाल से।"

यह कहकर असुर राज जरासंध पैर पटकता हुआ वहां से जाने लगा। तभी रूक्मी ने वहाँ आकर असुर राज जरासंध की बांह पकड़ ली और कहा,

"महाराज जरासंध! आप तो व्यर्थ ही नाराज हो रहे हैं। पिताश्री ने तो लोक, मर्यादा और परम्परा की बात की थी। आप हमारे परम् मित्र हैं तथा शिशुपाल भी मेरा अनन्य मित्र है। यदि आप स्वयंवर परम्परा को नहीं स्वीकार करते हैं, तो भी हमें कोई आपत्ति नहीं है। रूक्मिणि का विवाह हम आपकी इच्छा के अनुसार शिशुपाल के साथ कर देंगे।"

विधर्भराज की आंखों से खून उतर आया। एक असहाय छोटा राजा तथा दूसरी ओर विकराल असुर राज जरासंध। रूक्मि की हरकत विधर्भराज को चूर-चूर कर गयी। रूक्मि जरासंध के साथ चला गया। विधर्भराज जब भीतर जाने के लिए घूमें तो उनकी निगाहें अपनी बेटी रूक्मिणि पर पड़ीं, जिसके नेत्रों से आंसू बरस रहे थे। विधर्भराज में साहस नहीं था कि वह अपनी बेटी का सामना कर सकें। सिर

झुकाये एकान्त में चले गये। वह इस बात को भी अच्छी तरह जानते थे कि सारे षडयंत्र में उनके अपने बेटे रूक्मि का भी पूरा समर्थन और साथ है। रूक्मिणि की इच्छा के विरूद्ध उसका विवाह उन्हें मजबूर होकर करना पड़ेगा, इसकी उन्होंने कभी कल्पना भी नहीं की थी।

रूक्मिणि भयभीत, हताश, तड़पती हुई राज पुरोहित के पास गयी। उसने रो कर अपनी सारी व्यथा उन्हें बताई। रूक्मिणि ने कहा,

''गुरूदेव! आप मेरी रक्षा करें। आज एक राजा भी पापी असुरों के आतंक से अपनी कन्या की रक्षा नहीं कर सकता है। असुर राज जरासंध मेरा विवाह हठपूर्वक शिशुपाल से करना चाहते है।''

बिलखती हुई रूक्मिणि को राजगुरू ने सांत्वना दी। राजगुरू ने महाराज भीष्मक से मन्त्रणा करके रूक्मिणि को सलाह दी कि वह अपने आराध्य भगवान श्री कृष्ण को पत्र लिखे। रूक्मिणि ने द्वारिकाधीश श्रीकृष्ण को एक पत्र लिखा। जिसे गुप्त रूप से एक ब्राह्मण के हाथ द्वारिका भिजवा दिया। ब्राह्मण वह पत्र लेकर द्वारिका पहुँचा उसने वह पत्र द्वारिकाधीश को समर्पित किया। श्रीकृष्ण ने ब्राह्मण से पत्र लेकर उन्हें अतिथिशाला में भिजवा दिया। उन्होंने पत्र खोलकर पढ़ा। उसमें लिखा था,

''. . . . . .द्वारिकाधीश! आप मुझे नहीं जानते हैं, मेरा नाम रूकमणि है। विधर्भराज की कन्या हूँ मैं। रूक्मी मेरे बड़े भाई हैं। वासुदेव! बचपन से चारण तथा लोकगीतों के गवैयों से मैं आपके शौर्य की गाथाओं को सुनती रही हूँ। मन ही मन मैं आपको समर्पित हो गयी हूँ। परन्तु, जब मेरी सखियों ने मुझे बताया कि आप एक योगी, तपस्वी, ब्रह्मचारी और प्राणी मात्र को समर्पित होकर जी रहे हैं, तो मैं बहुत हताश हो गयी। मैंने भी मन में ठान लिया कि मैं भी आप की भांति ही एक तपस्वी की भाँति ही आपके चरणों की सेवा करती, आपकी ही होकर ध्यानस्थ जीवन को शेष कर दूंगी। प्रभु! मैंने मूर्तिकारों से आपकी शेषशायी मूर्ति बनवायी और उसी रूप में आपको पति और परमेश्वर के रूप में वरण कर मैं तपस्या में लीन हो गयी। जब मैंने सुना कि आप संधि के लिए कौड़िन्यपुर पधार रहे हैं, तो आप को देखने की तीव्र इच्छा मुझे वहां खींच लायी। मेरे नेत्रों ने प्रथम दर्शन पाया। मैं धन्य हो गयी। असुर राज जरासंध और शिशुपाल तथा मेरे भाई रूक्मि मिलकर मेरा विवाह जबरन शिशुपाल से करना चाहते हैं। जो नितान्त असम्भव है। गोविन्द! मैं आपकी हूँ। मैंने आपको ही पति रूप में तथा आराध्य रूप में ग्रहण किया है। हे पतित पावन! आप मुझ असहाय अबला की रक्षा करें। मेरा उद्धार करें। भगवन्! मैं आपके मार्ग में अवरोध नहीं बनना चाहती हूँ। आपके

तपस्वी जीवन का अवरोध बनने की मेरी कोई आकांक्षा नहीं है, यदि आप एक योगी और तपस्वी की तरह ही जीना चाहते हैं, तो कृपया इस ब्राह्मण के हाथ मुझे इतना आदेश लिख भेजें कि मैं अपने शरीर को अग्नियों को समर्पित कर दूँ। नारायण! वे अग्नियां आप ही का रूप हैं क्योंकि मन से मैं आपको पति के रूप में वरण कर चुकी हूँ। इसलिए आपकी आज्ञा के बिना इस शरीर को मैं ज्वालाओं को भेंट नहीं कर सकती। आप आज्ञा दे कि आप ही को मन से बसाये हुए इस शरीर को, ज्वालाओं में समर्पित कर दूँ। जिससे पापी शिशुपाल मेरी परछांई का स्पर्श भी न कर पाये . . . . . .।''

पत्र को पढ़कर द्वारिकाधीश उद्विग्न हो उठे। एक विचित्र अर्न्तद्वन्द में फँसकर रह गये वह! इतिहास की वह रात उनके कदमों के आहट से गूंजती रही। सारी रात श्रीकृष्ण चहल कदमी करते रहे। वह निर्णय नहीं कर पा रहे थे कि वह क्या करें। जीवन का सबसे कठिन निर्णय योगेश्वर को लेना था। सम्पूर्ण जीवन एक नितान्त योगी, ब्रह्मचारी और तपस्वी का निर्वाध चलता रहा। अब उनके लिए क्या उचित होगा? प्रौढ़ता की ओर बढ़ते कदम, जिन्होंने युवावस्था की दहलीज भी पार कर ली, क्या उन कदमों को फिर लौटना पड़ेगा? ब्रह्ममुहूर्त में वासुदेव ने निर्णय ले लिया। बहुत बार उनके मन में आया, कि वह अपने इस निर्णय से श्रीबलराम को अवगत करा दें। परन्तु, शर्मीले और संकोची श्रीकृष्ण इसका साहस ही नहीं बटोर पाये। ब्रह्ममुहूर्त में रथ को सजाकर ब्राह्मण देवता को लेकर श्रीकृष्ण, कौडिन्यपुर रवाना हो गये। इतिहास एक नये मोड़ पर आकर कुछ क्षणों के लिए रूक गया था। कृष्ण, रूक्मिणि का उद्धार करने जा रहे थे।

हरि ॐ! नारायण हरि!

36

उद्धार

भगवान श्रीकृष्ण जब कौडिन्यपुर पहुँचे, तो उन्होंने ब्राह्मण को नगर के बाहर ही रथ से उतार दिया। जब वे विधर्भराज महाराज भीष्मक के महल के समीप हुए, तो वहां उनकी भेंट रूक्मि से हुई। रूक्मि ने श्रीकृष्ण को देखा, तो क्रोध से तिलमिला उठा। उसने कृष्ण से पूछा,

"सुरनायक आप यहां कैसे? बिना आमंत्रण के श्रीमान् लोग किसी के यहां नहीं जाते। हमने तो आपको आमंत्रित भी नहीं किया। आप का इस प्रकार आना, आपकी मर्यादा के विपरीत है।"

"रूक्मी! हमने सुना आप अपनी बहन का विवाह कर रहे हैं। इसलिए संबंधियों को सहयोग के लिए आना जरूरी होता है। स्वयंवर की शोभा के लिए मैं भी चला आया।" भगवान श्रीकृष्ण ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया।

"हम कोई स्वयंवर नहीं कर रहे हैं। रूक्मिणि का विवाह तो शिशुपाल से होना निश्चित हुआ है। आप जा सकते हैं!"

"अरे रूक्मी! पति चयन का अधिकार तो नारी को है। क्या तुम रूक्मिणि को उसके धर्म से प्रदत्त अधिकार न दोगे? क्या जरासंध के डर से जबरन अपनी बहन को शिशुपाल के हवाले कर दोगे? यह तो किसी असुर के हाथ अपनी कन्या बेचने के समान है!" कृष्ण की होठों पर चिर मुस्कान थी। वाणी थिर और गम्भीर थी। श्रीकृष्ण के गहरे कटाक्षों से रूक्मि तड़प उठा और चीख-चीख कर गलत सही बातें करने लगा। कृष्ण मुस्कराये, उन्होंने रथ घुमाया और वापस चल दिये। मार्ग में उन्हें रूक्मि के रिश्ते के छोटे भाई कुमार रूक्मण मिले। जिन्होंने सांकेतिक भाषा में

श्रीकृष्ण को शीघ्र ही अम्बावती जाने के लिए संकेत किया। कौडिन्यपुर से निकल कर वासुदेव, अम्बावती की ओर बढ़ गये।

उधर द्वारिका में सम्राट जब सुधर्मा सभा में नहीं पहुँचे, तो उन्हें खोजने के लिए बलराम जी उनके महल में पधारे। वीरान महल में श्रीकृष्ण का कहीं पता नहीं था। अंग रक्षक और द्वारपाल भी बस इतना बतला पाये कि गोविन्द प्रातः काल एक ब्राह्मण को साथ लेकर कहीं चले गये थे। बलराम जी ने दुबारा जब उनके महल में खोज की, तो उनको रूक्मिणि का पत्र मिल गया। श्रीबलराम चौंक उठे। शीघ्रता से वे सुधर्मा सभा में आये, उन्होंने सभा को संबोधित करके कहा,

"श्रीकृष्ण! विधर्भराज की कन्या रूक्मिणि का उद्धार करने चले गये हैं। वह इतना शर्मीला और संकोची है, कि उसे मुझको बताने का साहस भी नहीं हुआ। अकेले ही कौडिन्यपुर को चला गया है। इसलिए हम सबको अश्वारोही सेनाओं को लेकर शीघ्रता से उसके पीछे जाना चाहिए। वहाँ पर जरासंध, दन्तवक्त्र, भौमासुर तथा अन्य बहुत से असुर राजा अपनी-अपनी सेनाओं के साथ ठहरे हुए हैं। कहीं ऐसा न हो, कि कोई अनर्थ हो जाये।"

श्रीबलराम जी एक भारी सेना को लेकर तेजी से कौडिन्यपुर की ओर बढ़ने लगे।

श्रीकृष्ण अम्बावती पधारे। अम्बावती नगर के बाहर ही नदी के किनारे एक स्थान पर उनके रुकने की व्यवस्था राज पुरोहित ने विधर्भराज महाराज भीष्मक की इच्छानुसार करवा दी थी। नदी के इस पार रथ को खड़ाकर श्रीकृष्ण नदी को पार करके उस स्थान पर आकर विराज गये। राज पुरोहित ने विधर्भराज के साथ गुप्त रूप से आकर रात्रि के मध्य प्रहर में श्रीकृष्ण का स्वागत, पूजा, अर्चन तथा आतिथ्य किया। विधर्भराज वासुदेव का स्वागत करके शीघ्रता से कौंडिन्यपुर गुप्त रूप से लौट गये। परन्तु, राज पुरोहित, अम्बावती में ही रुक गये। श्रीकृष्ण अम्बावती के बाहर तीन दिन, तीन रात रुके।

उधर कौंडिन्यपुर में कृष्ण के चले जाने की बात आग की तरह फैल गयी। असुर राज ने भी जब सुना, कि श्रीकृष्ण कौड़िन्यपुर से आकर लौट गये हैं, तो वे भी सतर्क हो उठे थे। जरासंध तथा अन्य असुर राजाओं की सेनाओं ने सारे नगर को घेर लिया था। सम्भवतः जरासंध ने विधर्भराज को आतंकित करने के लिए ही ऐसा किया था। विवाह की घड़ी से पूर्व राजपुरोहित ने घोषणा कर दी, कि रूक्मिणि का विवाह, शिशुपाल से नहीं हो सकता है! दोनों के ग्रह लग्न नहीं मिलते हैं। यदि यह विवाह होगा, तो दोनो में से एक की मृत्यु विवाह-मण्डप में ही हो जायेगी। राज पुरोहित की इस घोषणा को सुनकर विधर्भराज ने दुखी और चिन्तित होने का अभिनय किया। मन ही मन चाहा कि इस विवाह को रोक दिया जाये। परन्तु, शिशुपाल

और जरासंध इसके लिए राजी नहीं हुए। उन्होंने ग्रहों की शान्ति का उपाय जानना चाहा। राज ज्योतिष्यों ने उसका समाधान भी सुनाया। राज ज्योतिष्यों के अनुसार यदि कुल देवी चाहें, तभी यह विवाह निर्विघ्न सम्पन्न हो सकता है। रूक्मिणि कौंडिन्यपुर से अम्बावती जाये। वहां जाकर वह अकेली ही मन्दिर में अम्बा देवी की पूजा करे। यदि माँ अम्बा स्वयं प्रकट होकर उसे आशीर्वाद दें, तभी यह विवाह हो सकता है। विधर्भराज ने हठ ठान लिया कि वह रूक्मिणि को अम्बावती अवश्य भेजेंगे। विधर्भराज के इस हठ को जरासंध, शिशुपाल तथा अन्य असुर राजाओं को भी मानना पड़ा। उचित समय पर असुर सेनाओं से घिरी हुई रूक्मिणि राज कुमार रूक्मि के साथ कौंडिन्यपुर की ओर रवाना हुई, उसके साथ में असुर राज जरासंध तथा शिशुपाल भी अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित होकर चले। साथ में भारी सशस्त्र सेना चली। जरासंध को श्रीकृष्ण से अत्यधिक भय था। महाराज भीष्मक, कौडिन्यपुर में ही रूक गये तथा उन्होंने गुप्त रूप से अपने सेना पतियों को तथा सेनाओं को युद्ध सन्नद करने का आदेश दिया। जिससे यदि लौटकर कौंडिन्यपुर पर जरासंध आक्रमण करना चाहे, तो उसका सामना किया जा सके। रूक्मिणि जब अम्बावती पहुँची, तो उसके किले में प्रवेश करने से पहले असुर सेनाओं ने किले को घेर लिया। शिशुपाल और जरासंध ने अम्बावती के भीतर सेना के व्यूह का स्वयं निरीक्षण किया। उसके बाद उन्होंने राज कुमार रूक्मि को आदेश किया, कि वह रूक्मिणि से कहे, कि वह मन्दिर में प्रवेश करे! अपनी सखियों के साथ रूक्मिणि पूजा की थाली लिए अम्बा देवी के मन्दिर की सीढ़ियों पर आयी। सखियां बाहर ही रूक गयीं। रूक्मिणि ने मन्दिर में प्रवेश किया, और मन्दिर का द्वार भीतर से बन्द कर लिया। उसी समय मूसलाधार पानी बरसने लगा। भयंकर बरसात में सैनिक भीग रहे थे। राज पुरोहित ने पूजा की थाली देते समय रूक्मिणि को बतला दिया था, कि अम्बा देवी की मूर्ति के पीछे एक सुरंग है, जो सीधी किले के पीछे जाती हैं वहीं पर बरगद के पेड़ के नीचे वासुदेव प्रतीक्षा करते मिलेंगे! रूक्मिणि, वासुदेव कृष्ण के साथ यथाशीघ्र द्वारिका को प्रस्थान कर जाये।

भयभीत डरी हुई रूक्मिणि कुछ क्षण मौन अम्बा देवी के सामने अपने पिता की रक्षा की प्रार्थना करती रही। उसके उपरान्त मूर्ति के पीछे उसने गुफा का द्वार खोला। गुफा में प्रवेश किया, और किले के बाहर हो गयी। जब रूक्मिणि किले के बाहर आयी, तो भयंकर पानी बरस रहा थाँ। उसे बरगद के पेड़ के नीचे द्वारिकाधीश के दर्शन हुए। रूक्मिणि को लगा, कि उसे सब कुछ मिल गया है। दौड़ती हुई श्रीकृष्ण के पास आयी। उनके गले में जयमाला डाल दी, फिर फूट-फूटकर रोने लगी। श्रीकृष्ण ने उसे सान्त्वना दी। रूक्मिणि को लेकर लकड़ी के पुल को उन्होंने पार

किया। छिपे हुए स्थान से रथ को बाहर निकाला। वहां से जाने से पूर्व श्रीकृष्ण ने बाण के द्वारा लकड़ी के पुल को ध्वस्त कर दिया। जिससे जरारांध आदि असुर राजाओं के सैनिक उनका पीछा न कर सकें। कृष्ण, रूक्मिणि को लेकर द्वारिका की ओर बढ़ चले।

उधर काफी समय तक मन्दिर का द्वार नहीं खुला, तो जरासंध ने मन्दिर का दरवाजा तोड़ने का आदेश दिया। मन्दिर के द्वार को तोड़कर जब शिशुपाल, जरासंध और रूक्मि मन्दिर के भीतर गये, तो उन्हें वहां रूक्मिणि कहीं पर नहीं दिखायी दी। कुछ क्षणों तक तीनों स्तब्ध रहें। पुनः जब वे चैतन्य हुए तो उन्हें वस्तु का भान हुआ। शिशुपाल के मुख से अनायाश निकला,

''लगता है, कृष्ण, रूकमणि को उठा ले गया।''

मन्दिर से निकल कर तीनों दौड़कर गढ़ी के प्राचीरों पर आये। उन्हें सैनिकों ने बताया, कि दूर पर एक रथ दौड़ता चला जा रहा है, जिसकी ध्वजा द्वारिकाधीश के रथ से मिलती हैं यह सुनकर जरासंध क्रोध से पागल हो उठा। उसने रूक्मी को सम्बोधित करके कहा,

''मित्र रूक्मि! तुम्हारे पिता ने हमारे साथ धोखा किया है। मैं विधर्भ साम्राज्य को नष्ट-भ्रष्ट कर दूंगा तथा वहां की सारी जनता को बन्दी बनाकर असुरों के हाथ बेच दूंगा। जैसा मैं प्रतिशोध लूँगा, ऐसा इतिहास में किसी ने लिया नहीं होगा।''

''महाराज जरासंध! आप व्यर्थ में संदेह कर रहे हैं। इसमें विधर्भराज का कोई दोष नहीं है। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ, कि कृष्ण से छुड़ाकर मैं अपनी बहन को अभी लाऊँगा अन्यथा मैं कभी भी विधर्भ में प्रवेश नहीं करूँगा!'' रूक्मि ने शपथपूर्वक वहां से जरासंध की सेनाओं को लेकर कूच किया। उसके पीछे जरासंध तथा सभी असुर राजा अपनी सेनाओं की टुकड़ियों को लेकर श्रीकृष्ण को घेरने चल दिये।

बढ़ती हुई श्रीबलराम की सेनाओं को मार्ग में ही सूचना मिल गयी थी, कि श्रीकृष्ण कौडिन्यपुर से निकलकर अम्बावती की ओर चले गये हैं। श्रीबलराम ने भी सुसंगठित सेनाओं का मुख अम्बावती की ओर मोड़ दिया। विशाल सैन्य वाहिनी सेना अम्बावती की ओर निरन्तर बढ़ती जा रही थी।

रूक्मि ने एक सैनिक टुकड़ी के साथ छोटे रास्ते से निकलकर श्रीकृष्ण को घेर लिया। ललकार कर कहा,

''वासुदेव! मेरी बहन को रथ से उतार कर तुम अपने प्राण बचाकर चले जाओ! मैं तुम पर आक्रमण नहीं करूँगा! यदि तुमने मेरी बात न मानी, तो मुझे आज इस धरती से तुमको उठाना पड़ेगा!''

''रूक्मि! पागलपन मत करो! मेरे रास्ते से हट जाओ। रूक्मिणि स्वेच्छा से मेरे

साथ जा रही है। मैं तुम्हारी हत्या नहीं करना चाहता। मेरे रास्ते से हट जाओ।'' श्रीकृष्ण ने रूक्मी को सचेत किया। परन्तु, रूक्मी नहीं माना और उसने यह कहते हुए आक्रमण कर दिया,

''सुरनायक! आज एक असुर की तरह कन्या का अपहरण करके भगाये लिये जा रहे हो। तुम्हें इस पाप का उचित दण्ड मिलेगा!''

कृष्ण और रूक्मि में भीषण संग्राम छिड़ गया। भयभीत डरी हुई रूक्मिणि थर-थर कांपती, असहाय सब देख रही थी। श्रीकृष्ण ने रूक्मि की सैन्य टुकड़ी को देखते ही देखते नष्ट कर दिया। रूक्मि भी घोड़े के नीचे गिर पड़ा। श्रीकृष्ण ने उसके सभी अस्त्र-शस्त्र काट दिये। रूक्मि असहाय और निहत्था हो गया। तभी वहां सैन्य टुकड़ी के साथ बलराम भी पहुँच गये। बलराम को देखकर श्रीकृष्ण भी चौंक उठे। बलराम ने ललकार कर कहा,

''कन्हैया! इस पापी के टुकड़े-टुकड़े कर दो!'' श्रीकृष्ण वस्तु स्थिति भांप चुके थे। उन्हें लगा कि बलराम जी, रूक्मि को मार डालेंगे। इसलिए स्वयं उतरे और उन्होंने निहत्थे रूक्मि को धरती पर पटक दिया। बलराम ने पुनः ललकार कर कहा,

''कृष्ण, रूक्मि को मार डाले।'' इस पर दयालु कृष्ण ने उत्तर दिया,

''भैया! निहत्थे रूक्मि को मारने से हमें क्या मिलेगा! इसकी छोटी बहन रूक्मिणि रथ पर बैठी हुई है। यदि आप आज्ञा दें, तो मैं रूक्मि को अपने साथ द्वारिका ले जाऊँ। बड़ा भाई भी तो कन्या दान कर सकता है!''

श्री बलराम हंसे! श्रीकृष्ण की दयालु भावना बलराम को यद्यपि न पसन्द थी, फिर भी, श्रीकृष्ण की हर बात को बड़े भाई होकर भी वह टालते नहीं थे। जरासंध के साथ भी युद्ध में प्रत्येक बार उसे निहत्था करके पकड़ा। प्रत्येक बार बलराम, जरासंध को मार डालना चाहते थे। परन्तु, श्रीकृष्ण उसे सम्मान सहित छोड़ देते थे। इस बार भी कृष्ण के ऐसा कहने पर बलराम हंसकर रह गये। फिर भी उन्होंने कृष्ण को आदेश दिया, कि रूक्मि की दाढ़ी नोचें। श्रीकृष्ण को ऐसा करना पड़ा। जिस नदी के किनारे श्रीकृष्ण ने रूक्मि की दाढ़ी नोची थी, उस नदी का नाम इस घटना के कारण **दाढ़ी-पीढ़ी** पड़ गया। आज भी यह नदी दाढ़ी-पीढ़ी नदी ही कहलाती है। जहां पर विधर्भ के प्राचीन लोग इस कथा की स्मृति में अपनी दाढ़ी नोचते हैं। अम्बावती का नाम अब अमरावती हो गया है।

श्रीकृष्ण ने रूक्मि को रथ के खम्भे के साथ बांध लिया। और मुस्कराकर रूक्मि से कहा,

''रूक्मि! मेरे मित्र! भाई बलराम से तुम्हारी रक्षा के लिए तुम्हें अपमानित करना पड़ा। अब मैं तुम्हें अपने साथ द्वारिका लिये जा रहा हूँ। अब तो नहीं कहोगे, कि

मैं एक असुर की तरह तुम्हारी बहन को उठाये लिये जा रहा हूँ? बड़ा भाई भी तो पिता की भांति कन्या दान का अधिकारी होता है। मित्र! तुम रूक्मिणि का कन्यादान करोगे न!'' कृष्ण ने हंसते हुए कहा और रथ पर बैठ गये। श्री बलराम को सम्बोधित करते हुए कहा,

''भाई सावधान! पीछे असुर जरासंध, दन्तवक्त्र और भौमासुर अपनी सेनाओं को लेकर आ रहे हैं। ध्यान रखना! कहीं ऐसा न हो कि आप से परास्त होकर ये असुर राजा विधर्भराज को सतायें? इसलिए असुर राजाओं से लोहा लेने के उपरान्त यथाशीघ्र कौंडिन्यपुर की ओर सेनाओं को लेकर जाना। विधर्भराज को असुरों के आतंक से निर्भय करना!''

श्री बलराम को वस्तु स्थिति से परिचित कराकर श्रीकृष्ण, रूक्मिणि को तथा रूक्मि को लेकर द्वारिका की ओर बढ़ गये। रूक्मिणि ने चैन की सांस ली। भय के कारण उसका सुन्दर चेहरा बुझ सा गया था।

जरासंध, दन्तवक्त्र और भौमासुर तथा शिशुपाल आदि राजा तेजी से सेनाओं के साथ जब नदी के तट पर आये, तो सामने उनको बलराम की शक्तिशाली सेनाओं के उमड़ते सागर दिखे। जरासंध स्तब्ध रह गया। जरासंध की निगाहें, विशाल कंधों वाले बलराम पर पड़ीं, जिसकी पिघलती हुई तेज आंखों का सामना वह भी नहीं कर सकता था। बलराम ने गरज कर कहा,

''मातामह! आप ने ही कहा था, कि हम सदा युद्ध करेंगे! आपकी सेवा में बलराम आपके सामने है। मातामह! मैं आ गया हूँ। आप युद्ध के लिए आदेश करें। इस बार तो आप को बचाने वाला श्रीकृष्ण भी मेरे साथ नहीं है।''

असुरराज जरासंध ने विशालकाय बलराम को देखा। सागर सी लहराती उसकी सेनाओं को देखा। जरासंध भय से कांप उठा। शीघ्रता से उसने अपने अश्व पर लगे ध्वज को नीचे झुका दिया। बलराम की ओर देखने का उसमें साहस भी नहीं था। उसने अपने घोड़े को वापस घुमाया। सेना को लौटने का आदेश कर दिया। बलराम की ओठों पर विजय की मुस्कान थिरक उठी।

असुर राजाओं की सेनायें लौट चलीं। लौटते जरासंध को दौड़कर शिशुपाल रोककर कहा,

''महराज जरासंध! यह आप क्या कर रहे हैं? रूक्मिणि का क्या होगा?''

''अरे मूर्ख! देखता नहीं सामने बलराम खड़ा है। मूली, गाजर की तरह अभी हम सबको काट कर रख देगा। कृष्ण भी नहीं हैं यहाँ पर, जो इसे शान्त और संयत रख पाये। इस स्थिति में युद्ध करने का अर्थ है, मौत को दावत देना। रूक्मिणि को भूल और जल्दी भाग यहां से!'' जरासंध ने उसे समझाया तथा वहां से शीघ्रता

से सेना के भीतर अपने अश्व को दौड़ाता हुआ निकल गया। हताश शिशुपाल को भी झण्डे झुकाकर वहां से भागना पड़ा।

कृष्ण का रथ उड़ा जा रहा था, रूक्मिणि सहित द्वारिका की ओर!

वेदव्यास! इतिहास की इस घटना को वक्त ने न जानें किस-किस तरह तोड़-मरोड़कर प्रस्तुत किया हैं समय के अन्तरालों में सत्य के विलोम भी सत्य हो जाते हैं।

रूक्मिणि के विवाह के उपरान्त विधर्भराज ने रूक्मि को अपने राज्य से अलग कर दिया। महाराज भीष्मक सारा विधर्भराज वासुदेव श्रीकृष्ण को अर्पित करना चाहते थे, परन्तु श्रीकृष्ण ने विनम्रता से उनके प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। आहत रूक्मि क्रोध से उबलता हुआ अम्बावती आया। रूक्मिणि के पूजा के मन्दिर को रूक्मि ने ध्वस्त कर दिया। श्रीकृष्ण और रूक्मिणि की शेषशायी प्रतिमा को भी उसने उठाकर कहीं फिंकवा दिया। रूक्मिणि उस मूर्ति के लिए आजीवन तड़पती रही। जिसने उसे द्वारिकाधीश तक पहुँचाया था। द्वारिकाधीश तथा विधर्भराज ने भी उस मूर्ति को खोजने के बहुत प्रयास किये। परन्तु, वह मूर्ति नहीं मिली। रूक्मिणि उस मूर्ति के लिए व्याकुल ही रही।

इतिहास की लुप्त हो गयी उस मूर्ति को वेदव्यास! मैंने अम्बावती में ही खोज निकाला। वह मूर्ति आज भी अमरावती में विद्यमान है। उस मूर्ति के साथ भावनाओं से बंधी हुई इतिहास की नायिका की आत्मा को भी मैंने पहचाना है। आस्थाओं में फंसा मन युगों और अन्तरालों को नहीं जानता है।

इस कथा को यहीं रोककर मैं गोविन्द की कथा के साथ ही आगे बढ़ना चाहूँगा। मेरी इच्छा है, कि महाभारत के महाकाव्य की जो तुम्हारी कल्पनायें थीं, थोड़ा उन कल्पनाओं को भी दुहरा लूँ। उसके बाद ही सांदीपनी ऋषि के आश्रम लौट चलें।

हरि ॐ! नारायण हरि!

महाभारत की कल्पना!

वेदव्यास! सत्यवती को दिये अपने वचन के अनुरूप ही तुमने एक महाकाव्य की कल्पना की। इतिहास की दहलीज पर अध्यात्म को लाकर खड़ा कर दिया। हे युगान्तर दृष्टा! ग्रन्थ के आरम्भ में ही तुमने महाकाव्य के साथ चुनौती दे डाली।

"मेरे ग्रन्थ को हे धरती वालों! तुम पूजा करोगे। कवि और भाष्यकार इस पर भाष्य करेंगे। ज्ञान और विज्ञान का यह आधार होगा। जो कुछ इस ग्रन्थ में होगा, उससे हटकर फिर इस विश्व में कुछ भी न होगा। हजारों-हजारों साल भाष्य करने के बाद भी तुम जान न पाओगे, कि मैंने कहा क्या है।"

अपनी इस चुनौती को तुमने महाभारत के आरम्भ में एक नाटकीय कथा के रूप में दिया है। कथा कुछ इस प्रकार है।

तुम अपनी कुटिया में विचार मग्न बैठे हुए हो। तुम्हारे मन में विचार दौड़ रहे हैं। जिन वेद रूपी अमृतमय ग्रन्थों का तुमने गणपति के साथ संकलन किया है, उन ग्रन्थों तक पहुँचना धरती के मनुष्य के लिए सम्भव नहीं है। वेद रूपी उन्नत शिखरों तक पहुँचने के लिए महाभारत रूपी महाकाव्य की तुम कल्पना करते हो। जब तुम इस महाकाव्य की कल्पनाओं में खोये हुए हो, तभी स्वयं भगवान ब्रह्मा जी तुम्हारी कुटिया में पधारते हैं। तुम उनका स्वागत, पूजन तथा सत्कार करते हो। भगवान ब्रह्मा तुमसे पूछते हैं,

"वेदव्यसा! तुम किन विचारों में खोये हुए हो? तुम्हारी चिन्ता का कारण क्या है?"

"भगवन्! वेदों के अमृतमय ज्ञान को तथा मोक्ष के मार्ग को स्पष्ट करने के लिए मैंने एक महाकाव्य की कल्पना की है। मेरा यह काव्य शेषशायी महाविष्णु के पूर्ण अवतार भगवान वासुदेव श्रीकृष्ण के ऐतिहासिक घटनाक्रम पर आधारित होगा। इस महाकाव्य में, इतिहास, अध्यात्म, युद्ध, विज्ञान-आयुर्विज्ञान, नीतिशास्त्र, शिल्प,

ज्योतिष तथा सभी प्रकार के ज्ञान विज्ञान के साथ मनुष्य मात्र के अमरत्व के रहस्य भी दिये होंगे। मैंने ऐसे सोलह लाख श्लोकों के एक महाकाव्य की कल्पना की है। इस महाकाव्य के बारह लाख श्लोक देवलोक के लिए होंगे। जिन्हें देवर्षि नारद देवलोक में गाकर सुनायेंगे। ये लोक अलिखित ही रहेंगे। तीन लाख श्लोकों का महाकाव्य पितृलोक के लिए होगा। पितृलोक में शुकदेव जी इसे गाकर सुनायेंगे। ये श्लोक भी अलिखित ही रहेंगे। एक लाख श्लोकों का महाकाव्य मृत्युलोक के लिए होगा जो कि लिपिबद्ध होगा।''

तुम्हारी बात सुनकर भगवान ब्रह्मा ने कहा,

''वेदव्यास! जिस महाकाव्य को तुम मृत्युलोक के लिए प्रकट करने जा रहे हो! वह सम्पूर्ण विश्व में सदा-सदा के लिए एक विलक्षण महाकाव्य होगा। हजारों सालों तक कवि भाष्यकार तुम्हारे इस महाकाव्य का भाष्य करेंगे! संत, तापस और मनीषीजन तुम्हारे इस महाकाव्य पर उपदेश करेंगे। ज्ञान और विज्ञान की सम्पूर्ण धारायें तुम्हारे इसी महाकाव्य से प्रस्फुटित होंगी। परन्तु, हजारों सालों तक कवि और भाष्यकार जान न पायेंगे, तुम्हारे शब्दों के रहस्यों को। तुम्हारे इस महाकाव्य के रहस्य को पाना युगों-युगों तक मनुष्य जाति के लिए सम्भव न होगा। जो तुम्हारे महाकाव्य में न होगा, वह विश्व में भी कहीं नहीं होगा। तुम्हारा महाकाव्य पंचम महावेद कहलायेगा।''

''भगवन्! इस महाकाव्य का लिपिक कौन होगा? क्योंकि मैं इस महाकाव्य को योग मार्ग से प्रकट करूंगा। ऐसी अवस्था में मेरे इस ग्रंथ को लिखना तो मेरे लिये सम्भव नहीं होगा, इस महाकाव्य को लिपिबद्ध कौन करेगा?''

''वेदव्यास! भगवान गणपति का आवाहन करो! जिन्होंने चारों वेदों का संकलन किया है, वे ही इस पंचम महावेद के लिपिक होंगे।'' ऐसा कहकर ब्रह्माजी तुमको आशीर्वचन देते हुए अन्तरध्यान हो गये।

अपने महाकाव्य के लिए तुमने भगवान विनायक गणपति श्री गणेश जी का आवाहन किया। विनायक प्रकट हुए। परन्तु, उन्होंने इस महाकाव्य को लिखने में असमर्थता व्यक्त की। विनायक ने कहा,

''वेदव्यास! एक लाख श्लोकों के महाकाव्य को लिखने का समय मेरे पास नहीं है। ब्रह्मा जी का आदेश है, इसलिए मैं लिखने के लिए तैयार तो हूँ। इसके साथ ही मेरी एक शर्त भी है! तुम बोलते जाओ और मैं लिखता जाऊँ। तुम्हें धारा प्रवाह बोलना होगा। यदि बीच में तुम्हारी वाणी रुक गयी तो मेरी कलम भी रुक जायेगी। फिर मैं अगला श्लोक नहीं लिखूंगा।''

''क्या आप मुझे सोचने और समझने का अवसर भी प्रदान नहीं करेंगे?''

''नहीं वेदव्यास! मैं सोचने का एक क्षण भी तुम्हें नहीं दूंगा।'' भगवान गणपति ने उत्तर दिया।

''भगवन्! फिर एक शर्त मेरी भी है कि आप मेरे श्लोकों का अन्तर्निहित सत्य जो अपरिवर्तनीय हैं तथा नित्य हैं अर्थात् ऋतम् को जाने बिना नहीं लिखेंगे।''

''वेदव्यास! मुझे तुम्हारी यह शर्त स्वीकार है।''

''भगवन्! आप मेरी शर्त एक बार फिर सोच लें। मेरे ग्रन्थ के रहस्य को मैं जानता हूँ। शुकदेव जानते हैं! संजय भी जानता है अथवा नहीं मुझे इसमें संदेह है। सम्पूर्ण सचराचर में और कोई भी मेरे ग्रन्थ के रहस्य को नहीं जानता है। यहां तक कि आप भी नहीं जानते हैं।''

''वेदव्यास! फिर भी मुझे तुम्हारी शर्त स्वीकार है।'' भगवान विनायक ने कहा।

फिर कथा आरम्भ हुई। तुम्हारे हर श्लोक पर गणपति की कलम रुकती रही। जब भी तुम पूछते,

''भगवन् अगला श्लोक भी बोलूँ?''

''ठहरो वेदव्यास! तुम्हारे इस श्लोक का अन्तर्निहित नित्य सत्य तो जान लूँ।'' भगवान गणपति उत्तर देते।

जहाँ विरंच के समान महाज्ञानी भगवान गणपति की भी कलम बार-बार रुक जाती है, ऐसे सूक्ष्म रहस्यमय ग्रन्थ को देने वाले हे देव! तुम्हें शत-शत प्रणाम! श्रीबलराम के सामने जो तुमने गोविन्द के लिए प्रतिज्ञा की थी, उसे तुमने पूरा किया। माँ सत्यवती को जो तुमने वचन दिया था। उसे भी तुमने पूरा किया। इतिहास को पृष्ठभूमि में रखकर तुमने महाभारत जैसा अद्भुत महाकाव्य दिया। तुम्हारी और गणपति में लगी शर्त के स्तर पर मैं इस महाकाव्य के निहित सत्य को अपनी इस कथा में समय-समय पर दुहराना चाहूँगा! तुम्हारी यह कथा ही अमृत है। क्षण भंगुर जीवन को अमरता प्रदान करने वाला यह विलक्षण महाकाव्य है।

वेदव्यास! रहस्यों के जादूगर! मैंने तुम्हारे बारह लाख श्लोकों को, जो तुमने देवलोक के लिए प्रकट किये हैं। जिन्हें केवल देवर्षि नारद ही सुनाते हैं तथा तीन लाख श्लोक जो तुमने पितृलोक के लिए प्रकट किये हैं, जिन्हें शुकदेव गाते हैं मैंने उन पन्द्रह लाख श्लोकों को भी ढूंढ़ लिया है। समय आने पर इन श्लोकों का रहस्य भी प्रकट कर दूंगा। तुमने कहा था, तुम्हारे ग्रन्थ के रहस्य को शुकदेव जानते हैं और तुम जानते हो, इसके अतिरिक्त और कोई नहीं जानता है। वेदव्यास तुम्हारे ग्रन्थ के रहस्य को कोई ओर भी जानता है।

हरि ॐ! नारायण हरि!

38

गोपियों की पीड़ा!

वृन्दावन की प्रत्येक सुबह और शाम न जाने कितनी उदास और बोझिल है। जब से गोविन्द गये हैं, वृन्दावन का सब कुछ उजड़ गया है। जाते समय गोविन्द ने कहा था, कि वे शीघ्र आयेंगे। परन्तु, वे तो लौटे ही नहीं। मथुरा से ही गुरूकुल पढ़ने चले गये। कौन जानें कब लौटेंगे। व्याकुल, तड़पती मौन पीड़ा सहती निष्पाप गोपियां! राधिका जी की मनस्थिति तो और भी अधिक पीड़ा दायक है। कृष्ण ने जाते समय अपनी बांसुरी राधिका जी को दी थी और कहा था, कि लौटकर जब आयेंगे, तभी राधिका के सामने ही बांसुरी बजायेंगे। जब-जब निगाहें गोविन्द की बांसुरी पर पड़ती हैं, अन्तर्मन असह पीड़ा और व्यथा से कराह उठता है। मौन, पीड़ा पीती निष्पाप तपस्विनी राधिका! बाहर से शान्त और मौन, स्थिर और गम्भीर, भीतर सावन भादों सा बरसता अन्तर्मन!

यशोदा जी की पीड़ा तो बार-बार उनके नेत्रों से फूट पड़ती है। नन्द बाबा के चेहरे पर भी ऐसी ही सांझ सी उतर आयी है। हर समय उनका चेहरा भीगा सा बोझिल और उदास रहता है। बोलते भी बहुत कम हैं। उनका किसी काम में मन भी नहीं लगता है। दुबले भी बहुत हो गये हैं। राधिका जी बृज की चहेती ही नहीं वरन् सबकी पावन गुरू भी हैं। सबकी व्यथा उन्हें छू जाती है। उन्हें लगता है कि उन्होंने ही सबको साधना की राह पर चलाया है। सबकी पीड़ा, व्यथा के लिए वह ही जिम्मेदार हैं। उन्होंने ही तो कहा था! कि श्रीकृष्ण के सहज, सुलभ, मोहक सुन्दर बाल स्वरूप में परम् ब्रह्म की कल्पनाओं को बसा लो। जिस रूप में परमेश्वर को भाव करोगे, प्रभु उसी रूप में साधना का फल देते हैं। नारायण का रूप कैसा? भक्त

की भावना जैसी! भोले गोप और गोपियां सदा-सदा के लिए उस बाल रूप में खो गये हैं। कृष्ण ही उनका सर्वस्व था। कृष्ण गया, सर्वस्व लुट गया। उजड़ गया! उजड़ गयीं उनके मन की बस्तियां! लुट गये सुख और साधना के क्षण! अब तो टूटा मन हर क्षण कराहता, कचोटता, बोझिल सांझ और सुबह कितनी उदास, कितनी हताश! राधे! तूने यह क्या कर डाला! तू तो उनके जीवन में अमृत बरसाने चली थी। उनके जीवन को ईश्वर रूप से, ऐश्वर्य से भरपूर ऐश्वर्यमय बनाने चली थी। यह सब लुट क्यों गये? राधा पूछती स्वयं से!

जिद करके राधिका सबको यमुना जी के तट पर लायी। सघन वन में यमुना के तट पर सब बैठे राधिका जी की ओर देख रहे हैं। राधिका जी कृष्ण की बात छेड़ती हैं। वे सब बिलख उठते हैं। राधिका जी उनकी पीड़ाओं को और अधिक उभारती हैं। नन्द बाबा और यशोदा भी फूट-फूटकर रोने लगते हैं। कृष्ण की वेदना सबके चेहरे पर, उनकी आंखों में, उनकी सिसकियों में, उनकी सांसों में और उनके रोम-रोम में उतर आयी है। राधिका जी मौन स्थिर ओर गम्भीर हैं। वे उन सबको समझाती हैं और कहती हैं,

''देखो! तुम सब जो कर रहे हो उचित नहीं है। परमेश्वर सदा बाहर से लोप हो जाते हैं। इसलिए कि भक्त उन्हें अपने अन्तर हृदय में बसा सकें। साधना की उच्चतम चोटियों को छू सकें। इसीलिए हमारे बाल-कन्हैया भी बाहर से लोप हो गये हैं। जिससे हम उन्हें अपने अन्तर हृदय में खोज सकें। जब भी अपना कोई प्रिय खो जाता है, बाहर की आंखें जब उसे देख नहीं पाती हैं। तो स्वाभाविक रूप से जीव मन की आंखों से उसे कल्पनाओं में देखने लगता है। यह जीव की स्वाभाविक स्थिति है। इसीलिए प्रभु भक्त की भावनाओं का सम्मान करते हुए उसे दर्शन देते हैं और फिर उसी के हित में लोप हो जाते हैं। जिससे वे साधना और तपस्या की राह पर और भी अधिक सुदृढ़ होकर चल सकें। जब तक गोविन्द बाहर थे, हम उनके पीछे इन्द्रियों के द्वार से बाहर थीं। हम भी तो स्वयं को कृष्ण से अलग मानती हुए अपने से बाहर गोविन्द के पीछे उनकी दीवानी होकर दौड़ रही थी। हमारे मन और इन्द्रियां उनको बाहर-बाहर ढूंढ़ रही थी! गोविन्द बाहर से लोप हो गये हैं। जिससे वे हमारे और अधिक करीब हो सकें। हम सब अपने अन्तर्मन में गोविन्द को विराज कर उनकी साधना, आरती, पूजन, दर्शन तथा स्पर्श का आनन्द लें। देह रूपी देवालय में गोविन्द को सदा-सदा के लिए बसा लें। यही सच्चे साधक की राह है। सृष्टा बाहर से लोप हो जाता है, जिससे भक्त अन्तर्मुखी हो, तथा अन्तर्मन में सृष्टा को बसाकर उससे योग कर, अद्वैत कर सके।

हम सब मनुष्य हैं। हम पत्थर नहीं। हमने गोविन्द को असीम प्यार किया है।

हमारे अन्तर्मन की तड़प और व्यथा स्वाभाविक है। उनके लिए मन तड़पेगा ही। आंखें बरसेंगी मन को तड़पने दो, नेत्रों को भी बरसने दो। स्वयं को रोको मत। परन्तु, यह मत भूलो कि हमें इस तड़पन और विरह को साधना की राह देकर, गोविन्द से अन्तिम योग करना है। उन्हें अपने अन्तर्मन में बिठाओ। उनकी मोहक छवि को मूँद कर आंखों में, बेसुध होकर निहारो। अन्तर्मन में गोविन्द को सजाओ, संवारो। गोविन्द की आरती, पूजन, वंदन करो। गोविन्द को असीम प्यार करो। बाह्य जगत की सीमायें हैं। अन्तर जगत सीमाओं से रहित है, निर्द्वन्द है, स्वतंत्र है। मूंदकर आंख गोविन्द से लिपटो। मन चाहा प्यार करो। गोविन्द के संग झूमों। गोविन्द के संग गाओ। ऐसे खो जाओ उनमें, ऐसे बस जाओ उनमें कि गोविन्द से जुड़, गोविन्द हो जाओ। यही साधना की राह है। इस राह में भगवान भक्त के हाथों बंध जाते हैं। गोविन्द हमारे भीतर हैं उसे असीम प्यार की डोर से कसकर बांध लो। विरह, वेदना, पीड़ा और व्यथा को प्रेम, साधना, तपस्या योग तथा अद्वैत में ढाल लो। कृष्ण तुम्हारा है, तुम कृष्ण की हो, यह सम्बन्ध अमिट बना लो!

हरि ॐ! नारायण हरि!

गुरुकुल लीला!

गुरूकुल में गोविन्द अपने बड़े भाई बलराम जी के साथ विद्या अध्ययन कर रहे हैं। गुरूकुल का पवित्र वातावरण, पावन ऋषि सांदीपनि की छत्र छाया, वेद-वेदांगों, ज्ञान-विज्ञान, आयुर्वेद, धनुर्वेद तथा सभी प्रकार के ज्ञान-विज्ञान का अनुपम महा प्रयाग है। गोविन्द का परिचय उनके सहपाठी सुदामा से होता है। कृष्ण को पाकर सुदामा धन्य हो जाते हैं। गुरूकुल की महिमा है कि गरीब ब्राह्मण लड़का सुदामा, युवराज श्रीकृष्ण का सहपाठी ही नहीं वरन् अन्तरंग मित्र और सखा है। प्राचीन काल में शिक्षा का अधिकार निर्मल और निष्पाप तपस्वी, सन्यासियों के हाथ में दिया गया था। समाज का दूषित प्रभाव बालक के कोमल मन पर न पड़े इसीलिए गुरूकुल घनघोर वनों में ही बसाये जाते थे। गुरूकुल की उस शिक्षा पद्धति तथा प्राचीन मान्यताओं के कारण भारत की संस्कृति दासता के भी इतने लम्बे अन्तरालों को झेलकर नष्ट नहीं हुई। देश की स्वतंत्रता के बाद शिक्षा पर, दलगत राजनीति, स्वार्थपरता और संकीर्ण विचारधाराओं का नौकरशाही वर्ग हावी हो गया। आधुनिक शिक्षा अभिशप्त हो गयी।

गुरूकुल के पवित्र और मनोरम वातावरण में भगवान श्रीकृष्ण अद्‌भुत लीलायें करते हैं। एक बार लकड़ी काटने वन को गये हुए थे। गुरूमाता ने सुदामा को भुने हुए चनों की पोटली दी थी और कहा था कि दोनों मिलकर खाना। जंगल में बरसात होने लगी, लोभी सुदामा, कृष्ण के हिस्से के चने भी स्वयं खा गया। ऐसी ही बहुत सी मनोरम लीलायें कथाओं के रूप में नाना सद्‌ग्रन्थों के रूप में आती हैं।

एक बार सुदामा और कृष्ण नदी में नहा रहे थे। सुदामा ने श्रीकृष्ण से पूछा,

''श्रीकृष्ण! लोग कहते हैं कि तुम माया रचाना जानते हो?''

''यह माया क्या होती है सुदामा?'' कृष्ण भोलेपन से पूछते हैं।

सुदामा कंधे झटक कर रह जाते है। भोला सुदामा भी क्या जाने कि माया क्या होती है? दोनों नदी में नहा रहे हैं। सुदामा पानी में डुबकी लगाते हैं और जब सिर बाहर निकालते हैं तो क्या देखते हैं कि नदी में सुदामा बहे जा रहे हैं। नदी में अचानक भयंकर बाढ आ गयी है। कृष्ण, सुदामा की ओर पीठ किये नदी के तट पर ध्यानस्थ हैं। डूबते हुए सुदामा, कृष्ण को पुकारते हैं। परन्तु समाधिस्थ कृष्ण तक उनके शब्द पहुँच नहीं पाते हैं। सुदामा बह जाते हैं। बहते हुए सुदामा को एक केले का बड़ा पेड़ बहता हुआ मिलता है। सुदामा उस पेड़ का सहारा लेकर बहने लगते हैं। तभी उनकी निगाह केले के दूसरे किनारे पर पड़ती है जहां एक काला, विषैला नाग बैठा हुआ है। सुदामा भय से सिहर उठते हैं। परन्तु, उनकी मजबूरी है। केले के पेड़ को छोड़ भी नहीं सकते हैं। इसी प्रकार कई दिन, कई रात सुदामा बहते रहते हैं। थक कर चूर-चूर होकर भी केले के पेड़ पर ही सो जाते हैं।

निन्द्रा से जब सुदामा चैतन्य होते हैं, तो स्वयं को नदी के किनारे पर पड़ा हुआ पाते हैं। ढेर सारे सैनिक सुदामा जी को घेरे हुए हैं। उनके हाथ में भाले तथा अन्य अस्त्र-शस्त्र हैं। सुदामा भय से कांपने लगते हैं। उनसे प्रार्थना करते हैं कि वे सुदामा जी को छोड़ दें। सुदामा बहते हुए यहां चले आये हैं। उन्होंने जान-बूझकर कोई गलती नहीं की है। अपने ब्राह्मण होने की भी सुदामा दुहाई देते हैं। इस पर उन सैनिकों का सरदार उत्तर देता है,

''श्रीमान! आप हमारे राजा हैं। हमारे देश का राजा बहुत समय पहले मर गया था। हमने जानना चाहा कि अब हमारा राजा कौन होगा, तो आकाशवाणी हुई कि जो व्यक्ति इस नदी में बहता हुआ आयेगा वहीं तुम्हारा राजा होगा। राजकन्या से उसका विवाह कर उसे राज गद्दी पर बिठाओ। महाराज आप ही पहले व्यक्ति हैं, जो इस नदी में तैरते हुए मिले हैं। इसलिए आप हमारे राजा हैं। हम सब आपके दास हैं, अनुचर हैं।''

राजा बनने की बात सुनकर दुबले-पतले सुदामा की छाती गर्व से फूल उठती है। प्रसन्न चित्त सुदामा जी सैनिकों के साथ राज महल में आते हैं। सुन्दर रूपसी राजकन्या से उनका विवाह होता है। वे उस देश के महाराजा सुशोभित होते हैं। सुदामा जी बड़े प्रसन्न हैं कि बिना श्रम के उन्हें सारे ऐश्वर्य प्राप्त हो गये हैं। समय बीतता जाता है। महाराज सुदामा के एक लड़का भी होता है, सुदामा जी बड़े प्रसन्न होते हैं। पत्नी और पुत्र के साथ धर्मपूर्वक राज्य संभालते हैं, उनके सुख का ठिकाना भी क्या है।

कुछ वर्षों के उपरान्त भयंकर अकाल पड़ता है। अकाल की भयानकता बढ़ती चली जाती है। अकाल कई वर्ष तक लगातार पड़ता चला जाता है। लोग भूखों मरने लगते हैं। नदी नाले सब सूख जाते हैं। पशु-पक्षी मर-मर कर गिरने लगते हैं। राजपुरोहित की सलाह पर सुदामा जी इन्द्र को प्रसन्न करने के लिए एक बहुत बड़ा यज्ञ रचाते हैं। यज्ञ जब चल रहा होता है। उसी समय आकाशवाणी होती है,

"मैं तुम्हारे यज्ञ से प्रसन्न हूँ। वर्षा अवश्य होगी। परन्तु, उसके लिए जरूरी है कि राजा अपनी पत्नी एवं पुत्र के साथ उसी स्थान पर जाये जहां से उसे तैरता हुआ पाया गया था। राजा अपने पुत्र और पत्नी के साथ नदी में स्नान करेगा तभी पानी बरसेगा।"

सुदामा अपनी पत्नी और पुत्र के साथ सेनाओं सहित उसी नदी के तट पर आते हैं। युवराज नहाने की उत्सुकता में नदी में कूद जाते हैं और डूबने लगते हैं। उनको डूबते देखकर महारानी जी भी उनके पीछे नदी में कूद जाती हैं। युवराज को बचाने में महारानी और युवराज दोनों ही नदी में डूब जाते हैं। सुदामा, पत्नी और पुत्र की अकाल मृत्यु की पीड़ा से रोने लगते हैं, विलाप करने लगते हैं। उसी समय पुनः आकाशवाणी होती है,

"ऐ नगरवासियों! तुम्हारे अकाल का कारण तुम्हारा महाराजा सुदामा ही है। जिस प्रकार इसकी पत्नी और पुत्र की जल समाधि हुई है। उसी प्रकार उसको भी नदी में डुबाकर मार दो। तभी अकाल समाप्त होगा।"

आकाशवाणी सुनकर महाराजा सुदामा को कंपकंपी लग जाती है। अभी तक तो पत्नी और पुत्र के विक्षोभ में रो रहे थे। अब अपनी ही जान के लाले पड़ गये हैं। सुदामा बार-बार अपने ही सैनिकों से गिड़गिड़ाते हैं। अपनी जान की भीख माँगते हैं। परन्तु, सैनिकों पर उसका जरा भी असर नहीं पड़ता है। वे सुदामा को घसीट कर नदी के भीतर ले जाते हैं। जबरदस्ती उनको जल में गोता देते हैं। जल के भीतर सुदामा का दम घुटने लगता है, वे तड़प उठते हैं। उन्हें लगता है कि उनका प्राणान्त हो जायेगा। सुदामा आखिरी प्रयास करते हैं जल से बाहर सिर निकालने का। किसी प्रकार सैनिकों से स्वयं को छुड़ाकर सुदामा तेजी से जल के ऊपर आते हैं। बाहर का दृश्य देखकर वह आश्चर्य चकित रह जाते हैं।

सुदामा क्या देखते हैं कि वही नदी का तट है जहां से वे नहाते समय बह गये थे। सामने गोविन्द कपड़े बदल चुके हैं तथा गीले कपड़ों को निचोड़ते हुए कह रहे हैं,

"सुदामा! अभी कितनी देर और नहाओगे? गुरूमाता हम दोनों की प्रतीक्षा कर रही होगी। अब जल्दी जल से बाहर आओ न।"

सुदामा को कुछ समझ में नहीं आता। सुदामा का वहां निरन्तर बहते रहना। सुदामा का विवाह होना और उनका राजा हो जाना, वर्षों तक पत्नी और पुत्र के साथ राज सुख भोगना, यह सब क्या था? सुदामा, कृष्ण से पूछते हैं,

''गोविन्द! तुमने मुझसे माया रची थी क्या?''

''यह माया क्या होती है सुदामा?'' कृष्ण भोलेपन से पूछते हैं।

''मुझे पता नहीं!'' सुदामा खीझकर उत्तर देते हैं।

मार्ग में सुदामा जी, गोविन्द द्वारा रचित लीला की गहराइयों में सुख और दुख तथा नाना अनुभूतियों की कल्पना करते गुरूकुल लौट आते हैं।

इसी प्रकार की अद्भुत रहस्यमयी लीलायें भगवान श्री गोविन्द अपने गुरूकुल प्रवास में करते हैं। दक्षिणा के रूप में गुरूमाता को उनका पुत्र असुरों से छुड़ाकर लाकर देते हैं। वहीं भगवान को पांचजन्य शंख की प्राप्ति होती है। गुरूकुल में ही उन्हें अस्त्र-शस्त्र और युद्ध कौशल विद्या के साथ सुदर्शन चक्र की भी प्राप्ति होती है।

जब भगवान कृष्ण वृन्दावन में नहीं हैं, ऐसे समय में बृज की गोपियों का महारास बड़ा ही अद्भुत और विलक्षण होता हैं गुरूकुल में विराज रहे गोविन्द शरद पूर्णिमा की रात में, वृन्दावन में पधारते हैं। एक से अनेक होकर बृज की गोपियों के साथ महारास की अद्भुत लीलायें करते हैं। ऐसे महारास जिसको अधिकारी ही देख सकता है, सुन सकता है, जान सकता है। महारास के वह क्षण अन्तर्मन को छूने लगे हैं। रे मन! चल उन्हीं क्षणों में। महारास का अमृतपान करें।

हरि ॐ! गोविन्द हरि!

40

महारास लीला!

शरद पूर्णिमा की रात है। यमुना का तट। राधिका जी सभी बृजवासियों के साथ विराज रही हैं। गौवें और बछड़े भी उनके साथ में हैं। राधा जी सबको यहां लेकर आयीं हैं। राधिका ने सबसे कहा है, आज गोविन्द आयेंगे। फिर महारास होगा। राधा जी, गोविन्द की बांसुरी भी साथ लेकर आयीं हैं। नंदबाबा को लगता है, राधा जी, गोविन्द के मोह में बावली हो गयी है। श्रीकृष्ण तो सांदीपनि ऋषि के आश्रम में हैं। भला वे किस प्रकार आयेंगे। परन्तु, राधा की बात सब मानते हैं।

जब से सबने राधिका जी से गोविन्दमय होने का महा मन्त्र पाया है। उनकी उदास जिन्दगी में तपस्या के नये अंकुर फूट पड़े हैं। गोविन्द के संग जाने का उन्हें अलौकिक मार्ग मिल गया है। प्रत्येक क्षण कृष्णमय है। उठती, बैठती, सोती, जगती वे कृष्ण के संग हैं। घर, आंगन कृष्णमय है। बृज की गलियों में भी डोलती हैं, तो गोविन्द को संग लिए हुए। फिर आज गोविन्द के साथ महारास क्यों न होगा? श्री राधे सबसे पूछती हैं,

"बताओ गोविन्द कहां हैं? क्या वे हमको छोड़कर चले गये हैं?"

"वे हमारे अन्तर्हृदय में हैं! हमने उन्हें जाने नहीं दिया है।" वे सब उत्तर देते हैं।

राधिका जी ने फिर कहा है कि गोविन्द में ध्यानस्थ हो जाओ। सभी गोप और गोपियां, नंद और यशोमति पेड़ों के नीचे शरद पूर्णिमा की रात्रि में गोविन्द में ध्यानस्थ हो गये हैं। लगता है कि जैसे गौवें और बछड़े भी राधा के शब्दों को जानते हुए मौन समाधिस्थ बैठे हैं। कृष्ण की प्यारी गौवें और बछड़े भी जैसे गोविन्द के

आने की प्रतीक्षा कर रहे हैं। राधा ने कहा है, आज रात गोविन्द अवश्य प्रकट होंगे। वे सभी गोविन्द में समाधिस्थ हैं। अंग-अंग, रोम-रोम कृष्णमय हो रहा है। पूर्णिमा की रात फिसलती चली जा रही है। लगता है जैसे यमुना का जल भी स्थिर हो गया है। चन्द्रमा की पड़ती रोशनी से सारी यमुना एक चांदी का ओढ़ना सा ओढ़ स्थिर हो गयी है। चांदी की सड़क सी नजर आती है। सम्पूर्ण वातावरण एक रहस्यमय सम्मोहन में डूबता सा जा रहा है। सभी गोविन्द में ध्यानस्थ हैं। अंग-अंग कृष्णमय हो चुका है। हल्की ठण्डक है। मंद समीर भी मौन बहा जा रहा है। ध्यान की अवस्था गहरी होती जा रही है, तभी वायु में अष्टगन्ध की सुगन्ध प्रस्फुटित होने लगती है। समाधिस्थ गोप और गोपियां रोमांचित हो उठते हैं। अष्टगन्ध की सुगन्ध तो केवल गोविन्द के ही शरीर से प्रकट होती है। उन्हें लगता है, उनका कृष्ण, उनके समीप हो रहा है। वायु में अष्टगन्ध की मोहक सुगंध गहराती जा रही है। गोविन्द आ रहा है। सम्पूर्ण वातावरण में सम्मोहन गहराता जा रहा है। सबके मन स्थिर हो चुके हैं। एक कृष्ण की छवि है। उसी की ध्यान मूर्ति है। अन्तर्मन एक गोविन्द को गा रहा है। शेष सम्पूर्ण विचार समाप्त हो चुके हैं। समाधियां गहन होती जा रही हैं। लगता है, जैसे चन्द्रमा भी स्थिर हो गया है।

तभी हल्की सी आवाज जैसे पैरों के नूपुर और कमर की घंटियां गूंज उठी हों। गोपियों का लगता है, बाल कन्हैया समीप हो रहे हैं। एक हल्की सी मधुर किलकारी की आवाज! चन्द्रमा से भरती मोहक बाल-कन्हैया की छवि। सब गोपियां और गोप, गोविन्द में समाधिस्थ इस अद्भुत अलौकिक दृश्य को देख रहे हैं। आसमान से उतरते उनके अराध्य की मनोहर छवि दूर से आती बांसुरी का लहराता स्वर! वह आ रहा है! सभी को ऐसा लगता है। चन्द्रमा की शीतल किरणें धरती पर बिखरती अचानक नीलाभ मणियों के स्वामी को प्रकट करने लगती हैं। यशोदा को लगता है, उसका लाड़ला, उसकी गोद में उतर आया है। यशोदा जी, कन्हैया को अपने सीने से भींच लेती हैं। लगता है उन्हें जैसे उनकी लम्बी तड़पन और प्यास आज तृप्ति का सागर पा गयी है। उन्मादिनी सी आत्मविभोर वत्सल से छलछलाई हुई, बाल-कन्हैया को चूमती चली जाती है। उनका प्यासा मातृत्व वरद हुआ है।

नन्द जी को लगता है, जैसे उनका लाड़ला लता की भांति उनके सीने से लिपट गया है। नन्द जी के नेत्र बरसने लगते हैं। गोविन्द को अपनी बांहों में भींचे बेसुध वे रोये जा रहे हैं। गोपियों को लगता है, गोविन्द उनके सामने खड़ा है। रोमांच हो उठता है! वे सब स्वयं को गोविन्द के सामने खड़ा पाती हैं। सबको लगता है, जैसे कन्हैया उनके सामने खड़ा कह रहा है, आओ महारास करें। मैं आ गया हूँ! प्रत्येक गोपी को लगता है कि कन्हैया ने उनके हाथ पकड़ रखे हों। गोपियां, गोविन्द के

संग झूम-झूमकर नाच रही हैं। उसके सुख का वर्णन कौन कर सकता है? चन्द्रमा की प्रत्येक किरण ने गोविन्द का रूप धरा है। हर एक गोप और गोपी के पास गोविन्द प्रकट हो गये हैं। सम्पूर्ण वातावरण घुंघुरूओं की आवाज से खनकने लगा है। नंदजी, गोविन्द को अपनी बांहों में समेट समाधिस्थ उन्हें प्यार किये जा रहे हैं। यशोदा जी एक क्षण भी अपने कन्हैया को अपनी छाती से अलग नहीं करना चाहती हैं। सभी के पास गोविन्द हैं। अद्‌भुत महारास के क्षण हैं!

राधा जी के पास पहुँच कर गोविन्द ने एक मोहक मुस्कान के साथ कहा है,

''राधे! मैं आ गया हूँ। ला मेरी बांसुरी।''

राधा जी ने गोविन्द को बांसुरी थमा दी है। मुरली की मनोहारी आवाज सारे वातावरण में गूंजने लगी है। राधा, गोविन्द से लिपट गयी हैं। हर ओर कृष्ण हैं! सबके संग कृष्ण हैं! सबने कृष्ण का संग पाया है! चारों ओर धरती और आकाश में जहाँ देखो गोविन्द हैं और गोविन्द के साथ झूमकर नाचती राधिका जी की मनोहर छवि है। महारास चल रहा है! महारास ही तो जीवन है! महारास ही तो सृष्टि है! महारास ही तो सचराचर है।

जब भी गोविन्द बनकर आत्मा, जड़ प्रकृति के साथ महारास करते हैं। पेड़ों पर नये पुष्प खिलते हैं। जड़ प्रकृति खेत की मिट्टी मोहक फल और फूल बन जाती है। जब भी गोविन्द गगन में महारास करते हैं, तो बिन्दु जुड़कर ग्रह, नक्षत्र और ब्रह्माण्ड हो जाते हैं। रूप धरकर ग्रह और नक्षत्र भी कृष्ण के संग अहर्निश महारास करते हैं। सम्पूर्ण सचराचर महारास से प्रकट होता है। जीवन के रस में रसमय होकर जीवन्त हो उठता है। महारास ही धड़कन है, महारास ही सांसें हैं! महारास ही जीवन का प्रत्येक क्षण है। अपने ही आत्मा गोविन्द के साथ आत्मस्थ होकर आत्मा के उस अमृत का पान करते हुए आत्मसंगी बनो! अन्तरात्मा गोविन्द के साथ झूमकर नाचो, गाओ! भुलाकर स्वयं को, भुलाकर संसार को, श्रीकृष्ण को अर्पित करो। उसका स्पर्श सुख लो, उससे लिपट जाओ। कृष्ण में खो जाओ। जीवन का प्रत्येक क्षण महारास है। कहीं नहीं अंधेरा है, दिन तो दिन है। रात भी शरद पूर्णिमा की चांदी सी चमकती उजली रात है। बसा लेते हैं जो गोविन्द को, उनके जीवन में फिर अंधेरे कभी नहीं आते। कृष्ण के संग महारास करो। मोहक कृष्ण को सदा-सदा के लिए स्वयं में बसा लो। कृष्ण में डूबकर जीना सीखो! महारास का अद्‌भुत सुख पाओगे।

दूसरी ओर सांदीपनि ऋषि के आश्रम में गोविन्द समाधिस्थ हो गये हैं। सुदामा, कृष्ण को पुकारते हैं। परन्तु, कृष्ण कुछ उत्तर नहीं दे पाते हैं। गोविन्द वहां हैं ही कहां! सुदामा, कृष्ण की बांह पकड़ कर हिलाना चाहते हैं। परन्तु, कृष्ण का स्पर्श

मिलते ही वे स्वयं प्रगाढ़ निद्रा में सो जाते हैं। सुदामा महारास का अमृत नहीं पाते हैं। महारास का दर्शन, स्पर्श और सुख केवल वही पा सकता है, जो अधिकारी है महारास का अधिकारी वही होता है, जिसके जीवन के प्रत्येक क्षण में संशय रहित होकर कृष्ण बस जाते हैं। जो सम्पूर्णता, समग्रता तथा व्यापकता से स्वयं को, कृष्ण को अर्पित कर देते हैं। कृष्ण ही जिसका सब कुछ है। वे ही महारास के अधिकारी हैं।

हरि ॐ! नारायण हरि!

कुरूवंश!

कुरूवंश का उद्‌गम कुरू से माना गया है। इसका अर्थ यह कदापि नहीं लगाना चाहिए कि इसके पूर्व यह वंश नहीं रहा है। महाराज के पिता, पितामह रहे होंगे। कहने का तात्पर्य मात्र इतना है कि वंश का नाम कुरूवंश महाराज कुरू से ही पड़ा। जिस स्थान का आधुनिक नाम कुरूक्षेत्र है, उस स्थान पर महाराज कुरू ने, कुरू यज्ञ करवाये थे। कुरू यज्ञ का वर्णन ऋग्वेद के पंचम् मण्डल तथा अन्य मण्डलों में भी आया है। कुरू यज्ञ का अर्थ है, शरीर कुरू को आत्मा रूपी ब्रह्म ज्वालाओं में ब्रह्म यज्ञ कर, जीव और आत्मा के द्वैत को, योग मार्ग से अद्वैत करते हुए, ब्रह्माण्ड से ज्योति होकर प्रकट होना। महाराज कुरू ने ऐसे असंख्यों यज्ञ आत्मस्थ योगियों के हित में करवाये थे। इसी से इस क्षेत्र का नाम कुरूक्षेत्र पड़ा। कुरू की संतान होने के उपरान्त उनके वंशज कौरव कहलाये। महाभारत, महाकाव्य में एक विलक्षण बात यह भी है, कि पुत्र धृतराष्ट्र के तो व्यापकता से कौरव ही कहलाते हैं, जबकि पाण्डु के पुत्र पांडव नाम धारण करते हैं। यदा-कदा ही 'कुरू नन्दन' शब्द का प्रयोग उनके हित में होता है। इस वंश में इससे पूर्व भी महा बलशाली और प्रतापी राजा हुए हैं, यथा-महाराज दुष्यन्त, उनके पुत्र भरत। महाराज नहुष, ययाति आदि प्रतापी राजाओं की ही संतति में महाराज शान्तनु का नाम आता है। शान्तनु के पुत्र देवव्रत हुए, जो भीष्म के नाम से प्रसिद्ध हुए। महाराज शान्तनु के दूसरे पुत्र सत्यवती से हुए जिनके नाम विचित्रवीर्य और चित्रांगद थे। इनकी पत्नियों के नाम अम्बे और अम्बालिके थे। जिसका अपहरण कर लाये थे। भीष्म! उनका विवाह उन्होंने अपने भाइयों से करवा दिया था। विचित्रवीर्य और चित्रांगद संतानहीन ही मृत्यु को प्राप्त हो गये थे। वेदव्यास ने इन ऐतिहासिक पात्रों को भी अध्यांत्मिक रूप में चित्रित किया है। जहां एक ओर इतिहासिक पुरूष हैं, वहीं पर वेदव्यास ने इनका आध्यात्मिक रूपान्तरण कर प्रत्येक व्यक्ति के प्रत्येक क्षण की कथा बना दिया है। महाभारत, महाकाव्य में इनके आध्यात्मिक स्वरूप को ही

वास्तविकता से उभारा गया है। मैं चाहूँगा इन ऐतिहासिक कथाओं से उभरती आध्यात्मिक कथाओं को भी हम सब दुहराते चलें। सबसे पहले महाराज नहुष की कथा को लेते हैं। नहुष ऐतिहासिक पात्र होते हुए भी महाभारत के विशुद्ध आध्यात्मिक रूपक कथा के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं।

महाराज नहुष, महा प्रतापी राजा थे। वीर याद्धा होने के साथ ही महाराज नहुष महा ज्ञानी अध्यात्म पुरूष भी थे। अपनी आयु के साथ ही उन्होंने राज-पाठ का परित्याग किया। महाराज नहुष वानप्रस्थी होकर वन में घनघोर तपस्या करने लगे। फूस की कुटिया बनाकर नदी के तट पर सघन वन में महाराज नहुष घनघोर तपस्या में लीन हो गये। अतीत का सम्राट वर्तमान में एक अकिंचन संत बन परम तपस्याओं को प्राप्त हो गया।

उसी काल में देवराज इन्द्र ने स्वर्ग में वृत्रासुर का वध किया। उन्हें ब्रह्म हत्या का दोष लगा। देवताओं के राजा इन्द्र अभिशप्त हो गये। वे सूक्ष्म कीट का रूप धारण कर कमल नाल में बैठकर घनघोर तपस्या करने लगे। देवताओं का राज सिंहासन खाली हो गया। राजा विहीन देवता परेशान हो उठे। देवासुर संग्राम चल रहा था। राजा के बिना युद्ध संचालन गड़बड़ाने लगा। सारे देवता ब्रह्मा जी के पास गये। उन्होंने ब्रह्मा जी से कहा, कि वे किसी को इन्द्र का स्थान प्रदान करें। राज सिंहासन का खाली रहना देवताओं के हित में नहीं है। ब्रह्मा जी ने तीनों लोकों में दृष्टिपात किया। उन्हें देवताओं का राजा बनने के लायक कोई भी देवता उचित नहीं लगा। तभी उनकी दृष्टि मृत्यु लोक में तप करते महाराज नहुष पर पड़ी। ब्रह्मा जी ने देवताओं से कहा, ''तपस्वी नहुष के अतिरिक्त कोई भी व्यक्ति इन्द्र का स्थान लेने के योग्य नहीं है। इसलिए आप लोग जाकर मृत्यु लोक से महान नहुष को ले आयें। उसे इन्द्र का सिंहासन प्रदान करें।''

ब्रह्मा जी के आदेश पर देवता मृत्यु लोक में आये, उन्होंने महाराज नहुष से प्रार्थना की। ब्रह्मा जी की भावना से उन्हें अवगत कराया। अनुनय, विनय करके वे महाराज नहुष को सदेह देवलोक में ले आये। महाराज नहुष देवलोक के राजा इन्द्र बन गये। महान तपस्वी ने ऐसा भयंकर तप किया कि उसकी तपस्या के आगे देवता भी नतमस्तक हुए। ब्रह्माजी के आदेश पर नहुष को सशरीर स्वर्ग में ले जाकर देवताओं ने उसे अपना राजा बना लिया। मृत्यु लोक का नहुष देवताओं का राजा इन्द्र बन गया।

इन्द्र के सोने, चांदी के सिंहासन और स्वर्ण के मुकुट को उस तपस्वी ने धारण किया, तो उसके शरीर की कांति मुकुट और सिंहासन में समाने लगी। इन्द्र के विलासी जीवन का प्रभाव नये इन्द्र पर भी छाने लगा। तपस्वी नहुष अपनी तप

साधना को भूल विलास में लिप्त राजा इन्द्र बन बैठा।

भोग विलास में डूबे हुए नहुष ने पूर्व के राजा इन्द्र की पत्नी शचि को देखा। कामान्ध नहुष का मन पतिव्रता शचि पर डोल गया। नहुष ने शचि को संदेश भेजा कि जब नहुष देवताओं का राजा इन्द्र है, तो महारानी शचि भी उनकी सेवा में क्यों नहीं उपस्थित होती? शचि को भी इन्द्र बने नहुष की सेवा में आना ही होगा। नहुष के सुख और आमोद के लिए उसे भी स्वयं को अर्पित करना होगा!

भयभीत पतिव्रता शचि देवगुरू बृहस्पति के पास जाकर फूट-फूटकर रोई। शचि ने देवगुरू बृहस्पति से नहुष की पतित कामना बताई। नहुष की इस पतित भावना से छुटकारा पाने का उपाय पूछा। देवगुरू बृहस्पति ने पतिव्रता शचि को सांत्वना दी तथा कहा,

''तुम्हारे सतीत्व की रक्षा का उपाय मेरे पास नहीं है। इसका उपाय तो स्वयं देवराज इन्द्र बता सकते हैं। तुम मेरे साथ चलो हम उन्हें खोजते हैं। वे ही इसका उपाय बतलायेंगे।''

शचि ने देवगुरू का अनुसरण किया। वे दोनों इन्द्र को खोजते हुए इन्द्र के पास जा पहुँचे। जब शचि ने इन्द्र का दर्शन पाया तो फूट-फूट कर रोने लगी। बिलखती हुई शचि ने इन्द्र से कहा,

''तुम तो तपस्या के द्वारा ब्रह्महत्या के शाप से मुक्त हो जाओगे। परन्तु, जिस पाप के लिए इन्द्र बने नहुष ने मुझसे कामना की है, उसका प्रायश्चित क्या होगा? आज पापी नहुष ने देवताओं का राजा इन्द्र होकर भी मेरे सतीत्व को नष्ट करने की कामना की है। देवलोक में भी एक पतिव्रता के सतीत्व की रक्षा अब कहां सम्भव है?''

देवेन्द्र ने रानी शचि को सांत्वना दी और कहा,

''प्रिय शचि! भय का परित्याग करो। नहुष का तप इन्द्रासन पर बैठने से नष्ट हो चुका है। वह शीघ्र ही स्वर्ग से पतित होकर मृत्युलोक में चला जायेगा। तुम उससे कहो कि तुम उसका स्वागत करोगी। तुम उसका स्वागत तभी करोगी जबकि वह ऋषियों की पालकी में बैठकर तुम्हारे पास आयें। ऋषियों की पालकी बैठकर जब नहुष चलेगा तो प्रत्येक कदम पर उसके पाप का भार बढ़ता जायेगा। तुम्हारे पास पहुँचने से पहले ही मार्ग में वह अभिशप्त होता मृत्युलोक गमन कर जायेगा। तुम्हारे सतीत्व की रक्षा स्वतः हो जायेगी।''

जिस प्रकार देवेन्द्र ने शचि को समझाया। उसी के अनुरूप महासती शचि ने नहुष को संदेश भेज दिया। नहुष से कहा, कि वह ऐसी पालकी में बैठकर आये, जिसे ऋषि उठा रहे हों। देवताओं के राजा का स्वागत शचि उसी पालकी में ही

करेगी। ऋषियों की पालकी में आना ही देवताओं के राजा की शोभा है। कामान्ध नहुष, इन्द्र के भ्रमजाल में फंस गया। उसने ऋषियों को आदेश दिया कि वे नहुष की पालकी को उठाकर शचि के महल की ओर चलें। देवताओं के राजा के आदेश को सौम्य, शान्त और संयमी ऋषि अवहेलना न कर सके। देवेन्द्र की पालकी को बूढ़े ऋषि उठाकर चलने लगे। ज्यों-ज्यों पालकी के पाप का भार बढ़ता जाता, बूढ़े ऋषि भार बढ़ने के कारण डगमगाने लगे। कामान्ध और कामातुर, नहुष से देरी सहन नहीं हो पा रही थी, उसने बूढ़े ऋषि अगस्त को लात मारी और आदेश दिया,

''सर्प! सर्प!!'' अर्थात् शीघ्र-शीघ्र चल। ऋषि को लात मारने से नहुष का शेष तप भी नष्ट हो गया। ऋषि ने नहुष को श्राप दे दिया,

''सृप भव्!''

ऋषि से अभिशप्त होकर नहुष, अजगर बनकर धरती पर आ गिरा। फूस की कुटिया में तप के संग से नहुष ने इन्द्रासन पाया। परन्तु इन्द्र के सिंहासन और मुकुट के संग से तपहीन होकर मनुष्य की योनि खोता नहुष, अजगर बनकर धरती पर आ गिरा।

अजगर बने नहुष ने घनघोर तपस्या की। अपने तप के बल से उसने ऋषि अगस्त को प्रकट किया। महा मुनि अगस्त ने प्रकट होकर नहुष से कहा,

''नहुष! तुमने घनघोर तप करके मेरा आवाहन क्यों किया? मैं तुम्हारा कोई हित नहीं कर सकता। यदि श्राप से मुक्त होना चाहते हो तो महाविष्णु का आवाहन करो, मैंने तुम्हें श्राप दिया है, उसका उद्धार मैं स्वयं कैसे कर सकता हूँ?''

नहुष ने कहा,

''महामुनि! मैं नहुष हूँ। मैंने अपने उद्धार के लिए आपका आवाहन नहीं किया। महामुनि! मैंने कभी किसी से भिक्षा भी नहीं चाही है। मैंने तो सिर्फ आपको इसलिए बुलाया है, कि आप कृपा करके यह बतायें कि आपने मुझे, नहुष को क्यों अभिशप्त किया?''

''तुम कामान्ध और कामातुर हो गये थे। वासनाओं ने तुम्हें अन्धा कर दिया था। इसलिए तुम मुझसे अभिशप्त हुए।'' मुनि ने कहा।

''महामुनि! इसमें मेरा अपराध क्या है? आप तो जानते हैं, कि मैं नहुष हूँ। ''नह'' माने ओढ़ना' और ''हुशच्'' माने 'काम'। मेरा नाम नहुष है, काम को ओढ़ करके ही तो मैं पैदा हुआ हूँ। काम ही मेरा रूप है। काम को ओढ़ने वाला अर्थात् नहुष यदि कामान्ध हो गया तो वह श्राप का अधिकारी कैसे हुआ?'' नहुष ने पूछा।

दोनों अपने-अपने पक्ष पर वार्तालाप करने लगे। मुनि अगस्त प्रयास करते, यह सिद्ध करने के लिए कि उसके द्वारा नहुष का अभिशप्त होना उचित था। नहुष

इसे स्वीकारने को कतई तैयार नहीं थे। उसके मत से नहुष जो कुछ भी कर रहा था, वह सहज स्वाभाविक उसके नाम के अनुरूप ही था। इसलिए वह श्राप का अधिकारी नहीं है। अन्त में अगस्त मुनि ने नहुष से पूछा,

''नहुष! एक बात बता, तूने इन्द्रासन कैसे पाया?''

इस पर नहुष ने अपनी घनघोर तपस्याओं की ओर इंगित करते हुए वेद की एक ऋचा पढ़ी,

इन्द्रेहि मत्स्यन्धसो विश्वेभिः सोमपर्वभिः।
महाँ अभिष्टिरोजसा।। 1. 9. 1 ।।

हे महान! यज्ञ! यह जीवन जगत जो कुछ भी है। 'मत्स्यन्धस' का खेल ही तो है। चाहे मैं संसार के सामने खड़ा हूँ अथवा ईश्वर की राह हूँ, सब कुछ मत्स्यन्धस का खेल ही है। जिसने मत्स्यन्धस खेल के रहस्य को जाना, उसी ने अभीष्ट ओज अर्थात् देवत्व को, अमरत्व को पाया।

मत्स्यन्धस प्राचीन युग का एक खेल है, इस खेल में लकड़ी का एक खम्भ गाड़ा जाता है। खम्भ के ऊपर एक लकड़ी की घूमने वाली चरखी लगाई जाती है। चर्खी के साथ तागे से एक लकड़ी की मछली बांधी जाती है। फिर उस चरखी को तेजी से गोल-गोल घुमाते हैं। चर्खी के साथ बंधी मछली भी तत्परता से वृत्ताकार घूमने लगती है। खम्भ के नीचे एक बड़े कढ़ाव में तेल भर कर उसे खौलाते रहते हैं। खेल की मर्यादा यह है कि खौलते तेल में नाचती हुई मछली की परछांई को देखकर, मछली की आंख को बींधना। इस खेल का नाम है मत्स्यन्धसा।

जो कुछ भी जीवन जगत है, खेल मत्स्यन्धस का ही है। भौतिक जीवन में भी व्यक्ति सोचता है कि वह संसार को भोगता है, जबकि सत्य यह है कि व्यक्ति अपनी ही आत्मा के क्षणों को भोगता है। यदि आत्मा इन्द्रियों को सामर्थ्य ही न दे, तो वह क्या भोग सकता है? उसी प्रकार ईश्वर की राह में भी झुकता मन्दिर में, मूर्ति के सामने! लेकिन झुका तो अपनी ही अन्तरात्मा में। इस देह रूपी देवालय में झुक रहा है। परछांइयों से सत्य खोजना ही तो जीवन है। यही तो जिन्दगी है। सम्पूर्ण जीवन मत्स्यन्धस का खेल ही तो है।

नहुष ने इस ऋचा को सुनाकर कहा,

''महामुनि! मैंने सम्पूर्ण जीवन को मत्स्यन्धस का खेल जाना। इसीलिए सम्राट होकर भी मैं अपनी आत्मा से बंधा रहा। जीवन का प्रत्येक क्षण मैंने आत्मस्थ होकर जिया। इसीलिए राज पाट का परित्याग कर मैं आत्मस्थ हो सका। अपनी इस धारणा के कारण नहुष होकर भी मैं काम विमुख हुआ और मैंने इन्द्रासन पाया। महामुनि! जिसे आपसे वरद् होना चाहिए था। नहुष होकर भी जिसने इन्द्रासन

पाया। उसे आशीर्वाद देने के स्थान पर आपने अभिशप्त क्यों किया?''

''नहुष! मैंने ठीक ही अभिशप्त किया। क्योंकि तुम अपने मार्ग से भटक गये थे। सम्पूर्ण जीवन को तुमने मत्स्यन्धस का खेल जानकर जिया, जिसके कारण तुम देवलोक के भी राजा बने। इस ऋचा के द्वारा तुमने अनुपम तपस्या का मार्ग अपनाया था। मैं तुम्हें कभी अभिशप्त नहीं करता, यदि इन्द्रासन पर बैठकर भी तुम इस ऋचा को याद कर पाते। दुर्भाग्य से इन्द्रासन पर बैठते ही तुम भूल गये कि इन्द्रासन भी तो खेल मत्स्यन्धस का ही है। इस ऋचा को भूल जाने के कारण ही, उस पावन राह से भटक जाने के कारण हे नहुष! मैंने तुम्हें अभिशप्त किया।''

''महामुनि! मैं आश्वस्त हूँ। मैं अपनी भूल को स्वीकारता हूँ।'' विनम्रता पूर्वक नहुष ने उत्तर दिया।

''हे नहुष! मेरा श्राप भी तुम्हारे लिए वरदान है। इन्द्रासन को पाने वाले अपने पुण्य को भोगने के उपरान्त पुनः मृत्युलोक में जन्म लेते हैं। तुम इसी रूप में तपस्या करो। तुम्हारे मन में कुछ संदेह शेष हैं। उन संदेहों का निवारण तुम्हारा ही वंशज युधिष्ठिर आकर करेगा। संदेहों के निवारण के उपरान्त तुम आवागमन से रहित नित्यावस्था अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होंगे। जहाँ से तुम्हारा पतन फिर कभी नहीं होगा।'' ऐसा कहकर नहुष को आशीर्वाद और साधुवाद देते महामुनि अन्तर्ध्यान हो गये।

समय फिसलता रहा, अजगर बना नहुष घनघोर तप करता रहा। अजगर की योनि और उसकी मर्यादा के कारण जो भी जीव उसके पास आता था, अभिशप्त होने के कारण उसे उसको खाना पड़ता था। योनि की यथा मर्यादाओं का पालन करता हुआ नहुष, वेद की इस अनुपम ऋचा के मार्ग पर चलकर निरन्तर घनघोर तप करता रहा। समय निर्बाध गति से युगों में बदलता चला गया। उसी के वंशजों में पाण्डवों को बारह वर्ष का वानप्रस्थ तथा एक वर्ष का अज्ञातवास भोगना पड़ा। पाण्डव उसी वन के समीप आकर रहने लगे, जहां नहुष घनघोर वन में तपस्या कर रहा था।

हरिण अपनी सींगों में ऋषि की अरणी को फंसाकर भाग खड़ा हुआ। ऋषि ने वनवास भोगते हुए महाराज युधिष्ठिर से प्रार्थना की, कि हरिण से उसकी अरणी ला दे। जिससे वह होम आदि कर सके। युधिष्ठिर ने भीम से कहा। भीम अरणी के लिए हरिण का पीछा करने लगे। हरिण तो मिला नहीं। भीम नहुष के शिकंजे में जाकर फंस गये। अजगर बने नहुष ने भीम को जकड़ लिया। हजार हाथियों की शक्ति रखने वाले भीम ने बहुत प्रयास किये छुड़ाने के। परन्तु, वे किसी प्रकार भी स्वयं को अजगर की पकड़ से अलग नहीं कर पाये। थककर भीम निढ़ाल हो

गये, इस विचार से कि यह अज़गर् नहीं कोई विलक्षण शक्ति है। भीम ने सारी चेष्ठाएं त्याग दीं। स्वयं को भाग्य के सहारे छोड़ दिया।

भीम को लौटने में देरी होती देख युधिष्ठिर स्वयं भीम की खोज में चल दिये। भीम को खोजते हुए युधिष्ठिर भी वहां आये। उन्होंने अपने भाई को अजगर के द्वारा जकड़ा हुआ देखा। युधिष्ठिर समझ गये कि भीम को पकड़ने वाला अजगर कोई साधारण नहीं हो सकता। उन्होंने अजगर से प्रार्थना की,

''देव! आप कौन हैं? आप कोई साधारण अजगर नहीं हैं, मेरे भाई भीम में एक हजार हाथियों का बल है। किसी साधारण अजगर का उसे पकड़ पाना नितान्त असम्भव है। आप कृपा करके बताओ, आप कौन हैं? आपने मेरे भाई को क्यों पकड़ रखा है?''

''प्यारे युधिष्ठिर! मैं तुम्हारा पूर्वज नहुष हूँ। एक काल में मैंने तपस्या द्वारा इन्द्रासन पाया था। अपनी वासनाओं के कारण इन्द्र के महान पद से अभिशप्त होकर मैं अजगर बन गया हूँ। मैं अभिशप्त हूँ, इसलिए मुझे भीम को मारकर खाना ही पड़ेगा। यह सत्य है कि तुम मेरे ही वंशज हो। तुम्हारा हित चाहना ही मेरा धर्म है। परन्तु पुत्र! अजगर योनि की मर्यादाओं का पालन करना भी मेरा धर्म है। इसलिए तुम भीम को मृत हुआ ही समझो।'' नहुष ने युधिष्ठिर को उत्तर दिया।

''देव! भीम के बदले में आप जितने भी पशु कहें, मैं पकड़ कर ला दूँ आप कृपा करके मेरे भाई को छोड़ दें अथवा ऐसा उपाय बतायें जिससे मेरे भाई की प्राण रक्षा हो सके।'' युधिष्ठिर ने विनम्रता पूर्वक कहा।

''प्रिय युधिष्ठिर! मुझे तुम्हारे भाई को ही खाना पड़ेगा। उसके बचने का मात्र एक ही उपाय है, यदि तुम मेरे संदेहों का निवारण कर दो तो मैं इस अभिशप्त योनि से मुक्ति पा जाऊँगा। अन्यथा भीम को खाना ही मेरा उचित धर्म है।'' नहुष ने कहा।

''हे देव! आप कृपापूर्वक अपने संदेहों को प्रकट करें। मैं यथा सम्भव प्रयास करूँगा, कि सभी संदेहों का निवारण हो जाये। आप भी श्राप मुक्त हों तथा मेरा भाई भीम भी अकाल मृत्यु से बच जाये।'' युधिष्ठिर ने नहुष से प्रार्थना की।

नहुष ने अपना पहला संदेह प्रकट किया,

''क्या वर्ण व्यवस्था जन्मना है?''

''नहीं देव! वर्ण-व्यवस्था जन्मना कदापि नहीं हो सकती। वर्ण-व्यवस्था गुण, कर्म, विभागसा है। युगों से चले आ रहे वर्णों में कब, किस काल में किस वर्ण का समावेश हुआ हो इसे किस प्रकार जान सकते हैं? इसलिए यह व्यवस्था जन्मना कदापि नहीं हो सकती! जबकि एक ही पिता आत्मा है तथा एक ही माता प्रकृति

है, जिसके द्वारा सम्पूर्ण सचराचर प्रकट हो रहा है। तब धर्म की दृष्टि से भी जन्मना व्यवस्था सम्भव नहीं है।''

''क्या शूद्र भी ब्राह्मणोचित कर्म करने का अधिकारी है?'' नहुष ने दूसरा प्रश्न किया।

''बारह वर्ष तक सरस्वती नदी के किनारे तप करता, शूद्र वृत्तियों का मनसा, वाचा, कर्मणा परित्याग करता, आत्मवत् अर्थात् ब्रह्मवत जीवन को धारण करता। सब में एक ब्रह्म की भावना को पुष्ट करता, ब्रह्म यज्ञार्थ, समर्पित होकर जीवन यापन करता, शूद्र भी ब्राह्मणोचित कर्म का अधिकारी होता है। उसे यज्ञोपवीत तथा यज्ञोपवीत से उपराम होकर सन्यास का भी अधिकार है।'' युधिष्ठिर ने विनम्रता पूर्वक उत्तर दिया।

''क्या ब्राह्मण शूद्र हो सकता है?'' नहुष का तीसरा प्रश्न था।

''ब्राह्मण वृत्तियों से त्यक्त हुआ ब्राह्मण तत्क्षण शूद्र होता है। ब्राह्मण वृत्तियां दया, क्षमा, सबमें एक ब्रह्म का भाव, आत्म यज्ञार्थ, आत्मसेवार्थ, आत्मवत् जीवन, अभेद ब्रह्म का अभेद स्वरूप होकर साधना, अपरिग्रही होना, सबमें परमेश्वर को देखना। परमेश्वर का होकर परमेश्वर के लिए जीना। इन वृत्तियों से त्यक्त हुआ ब्राह्मण तत्क्षण शूद्र होता है तथा इन वृत्तियों से युक्त हुआ शूद्र ब्राह्मणोचित कर्म करने का अधिकारी होता है।'' युधिष्ठिर ने उत्तर दिया।

''हे युधिष्ठिर! तुमने मेरे सभी संदेहों का निराकरण कर दिया। मैं निःसंदेह हो गया हूँ। इसलिए मेरी श्राप मुक्ति का समय आ गया है।''

अजगर की देह का परित्याग करता, ज्योतिर्मय स्वरूप को धारण करता नहुष प्रकट हो गया। युधिष्ठिर तथा भीम को आशीर्वाद देते हुए, अनन्त में लय हो गया। वेदव्यास! रहस्य लीलाओं के अनूठे जादूगर! महाभारत के नहुष की इस कथा में तुम धरती के मनुष्य मात्र को सचेत कर रहे हो। हम सब अपने मन में बसे इन संदेहों का निवारण अभी से कर लें। अन्यथा हमें भी पतित योनियों में जाकर अपने ही वंशजों का संहार करना पड़ेगा। काश! हमारा सद् विवेक जाग्रत होकर तुम्हारी इन कथाओं के अमृत को हमारे जीवन में सदा-सदा के लिए बसा देता। हे निष्पाप! तुम्हारी इन अमृत कथाओं के द्वारा हम भी आवागमन की सीमाओं को तोड़, संशय रहित होकर, घट-घट में व्याप्त होने वाले अभेद ब्रह्म तत्व को, अभेद होकर ग्रहण कर पाते। सब में एक ब्रह्म का भाव करते। सम्पूर्ण सचराचर को ब्रह्ममय जानते। सम्पूर्ण सचराचर में अभेद ब्रह्म की साधना, अभेद होकर करते। अभेद, अजर-अमर ब्रह्म में सदा-सदा के लिए खोकर ब्रह्म ही हो जाते।

हरि ॐ! गोविन्द हरि!

गांगेय भीष्म!

गंगा पुत्र भीष्म की कथा महाभारत की अमूल्य निधि है। इस ऐतिहासिक महापुरूष को वेदव्यास ने अपने महाकाव्य में तीन स्तरों पर उतारा है। ऐतिहासिक, अध्यात्मिक और प्रकृति-चित्रण में भी गंगा पुत्र भीष्म की कहानी आती है। कथा इस प्रकार है।

महाराज शान्तनु नवयुवक हैं, अविवाहित हैं। महाराज शान्तनु वन में विचरण कर रहे हैं। तभी उन्हें वायु में एक विचित्र सम्मोहक सुगन्ध का आभास मिलता है। महाराज शान्तनु के मन में जिज्ञासा उठती है। ऐसे कौन से पुष्प इस वन में खिले हैं, जिनमें इतनी सम्मोहक सुगन्ध है। जिज्ञासावश महाराज शान्तनु उसी ओर बढ़ चलते हैं, जहाँ से सुगन्ध आ रही है। शान्तनु जब वहाँ पहुँचते हैं, तो देखते हैं कि नदी के किनारे एक अत्यधिक सुन्दर, नवयौवना अपनी केश राशि सुखा रही है। जब भी वह अपने गीले बालों को झटका देती है। चारों ओर सुगन्ध फैल जाती है। उस युवती के सम्पूर्ण शरीर पर अद्भुत, अलौकिक, दिव्य तेज है। शान्तनु को लगता है कि वह कोई देव कन्या है। उसके रूप पर अनायास ही महाराज शान्तनु सम्मोहित हो उठते हैं। उसको पाने की उनकी कामना अति तीव्र हो उठती है। वे उससे कहते,

''देवी! आप कौन हैं? इस निर्जन प्रदेश में अकेली क्यों बैठी हुई हैं?''

''मुझसे यह सब पूछने वाले आगन्तुक आप कौन हैं? आप किस अधिकार से मेरा परिचय पूछ रहे हैं?'' प्रत्युत्तर में रूपसी ने शान्तनु से पूछा,

''देवी! मैं इस भूखण्ड का सम्राट हूँ। तुम्हारी केश राशि से उभरते झोंके ही मुझे

सम्मोहित करके यहां खींच लाये हैं। तुम्हारे अपूर्व सौंदर्य पर मैं सम्मोहित हो गया हूँ। मेरे मन में तुम्हें अपनी पत्नी बनाने की इच्छा है तथा इस भूखण्ड के भावी सम्राट के लिए मैं तुमसे संतान की कामना करता हूँ। मैं अविवाहित हूँ। क्या तुम मेरी रानी बनना पसन्द करोगी?'' शान्तनु एक सांस में ही सब कह गये। उन्हें स्वयं पर आश्चर्य भी हो रहा था, ऐसा लग रहा था। जैसे कोई शक्ति उनके मुँह से इन शब्दों को अनायास प्रकट करा रही हो। उस शक्ति के आधीन ही महाराज शान्तनु बोलते चले जा रहे हों। युवती की मुख मुद्रा गम्भीर हो उठी। कुछ समय तक मौन विचार करती रही, उसके उपरान्त उसने कहा,

''महाराज शान्तनु! आप से पहले मुझे कभी किसी ने इस प्रकार का निमन्त्रण नहीं दिया! राजन्! आप की पत्नी बनने का सौभाग्य मैं अवश्य पाना चाहूँगी। परन्तु, मेरे सम्मुख समस्यायें हैं। जिसके कारण आप के प्रस्ताव को स्वीकार करने में मुझे संकोच है।''

''देवी! आप निःसंकोच अपनी समस्याओं को प्रकट करें।''

''राजन! मैं अपनी समस्यायें आप पर प्रकट नहीं कर सकती हूँ। यदि मुझसे विवाह करना चाहते हैं, तो मेरी दो शर्तें हैं, यदि आप उन्हें मान लेंगे, तभी हमारा दाम्पत्य सम्भव होगा तथा सुखद होगा।''

''देवी आप अपनी शर्तों को स्पष्ट करें!''

''राजन! आप मेरा अतीत नहीं जानना चाहेंगे। आप मुझसे यह नहीं पूछेंगे कि मैं कौन हूँ और कहां से आयी हूँ?'' देवी ने पहली शर्त सुनायी।

''देवी मुझे आपकी यह शर्त स्वीकार है। आपके चेहरे के तेज से ही स्पष्ट हो रहा है कि आप कोई देव कन्या हैं। भला अग्नि से कोई उसका परिचय मांगता है। आपके चेहरे की शोभा स्पष्ट करती है कि आप कुलीन, धर्म परायण तथा तपस्विनी हैं। इसलिए मैं आपसे, आपका अतीत कभी नहीं जानना चाहूँगा।''

''राजन! दूसरा संकल्प आपको लेना होगा। जो मेरे मन में आयेगा, मैं करूंगी आप न तो मुझे रोकेंगे तथा न ही कारण जानने का प्रयास करेंगे।''

''देवी! मुझे तुम्हारी यह शर्त भी स्वीकार है, तुम बुद्धिमती हो, तुम ऐसा कुछ भी नहीं करोगी जो शास्त्र विरूद्ध अथवा धर्म विरूद्ध होगा। इसलिए दूसरा संकल्प लेने में भी मुझको संकोच नहीं है।'' मोहासक्त राजा ने उत्तर दिया।

''राजन! जिस दिन आपने संकल्प भंग कर दिया, मैं तत्क्षण आपका परित्याग करके चली जाऊँगी।''

''देवी! मुझे स्वीकार है। परन्तु, ऐसा समय कभी नहीं आयेगा, जब शान्तनु अपने संकल्प भंग करेगा।''

शान्तनु उस रूपसी को लेकर अपने महल लौट आते हैं। धूम-धाम से उससे विवाह करते हैं। उसके साथ सुख पूर्वक अपना समय बिताने लगते हैं। समय के साथ ही वह युवती गर्भवती होती है। शान्तनु की प्रसन्नता का ठिकाना ही नहीं। समय आने पर उसे पुत्र रत्न की प्राप्ति होती है। सारे राज्य में खुशियां मनाई जा रही हैं। तभी शान्तनु क्या देखते हैं, कि उनकी रानी ने अपने ही जन्में बालक को गोद में उठा लिया है। रात्रि के अंधकार में वह महल से बाहर जा रही है। आश्चर्यचकित शान्तनु उसका पीछा करते हैं। अपनी प्रतिज्ञा के कारण न तो उससे कुछ पूछ सकते हैं तथा न ही उसको रोक सकते हैं। शान्तनु चुपके से उसके पीछे जाते हैं। वह देवी, गंगा नदी के तट पर आती है। अपने नवजात शिशु को गंगा में डुबोकर मार देती है। शिशु को गंगा में बहाकर वह महल की ओर वापस चल देती है। शान्तनु मौन स्तब्ध खड़े इस भयंकर दृश्य को देखते ही रह जाते हैं। मोहवश तथा प्रतिज्ञावश कुछ कह नहीं पाते हैं, वापस महल में लौट आते हैं। अपनी पत्नी से इस विषय में कोई भी चर्चा नहीं करते हैं।

इसी प्रकार उसकी पत्नी के सात संताने होती हैं। परन्तु, रानी स्वयं अपनी प्रत्येक संतान को नदी में डुबाकर मारकर बहा देती है। मोह और प्रतिज्ञाओं से बंधे बेबस शान्तनु कुछ कर नहीं पाते हैं। सात संतानों की मृत्यु के उपरान्त उस देवी के फिर एक संतान जन्म लेती है। महल में एक बार फिर खुशियां मनायी जाती हैं। बालक का नामकरण 'देवव्रत' होता है। शान्तनु भयभीत, चौकन्ने रात्रि में अपनी पत्नी के शयनकक्ष के समीप ही छिपकर बैठते हैं। मध्य रात्रि में उनकी पत्नी पुनः अपनी आठवीं संतान को लेकर गंगा की ओर चल देती है। शान्तनु भयभीत एवं आतंकित उसका पीछा करते हैं। गंगा नदी के किनारे पहुँच कर जैसे ही वह अपने पुत्र को नदी में फेंकना चाहती है। शान्तनु धैर्य के बांध टूट जाते हैं। शान्तनु चिल्लाकर उसे ऐसा न करने के लिए कहते हैं तथा दौड़कर उसके समीप आते हैं और उसे घेर लेते हैं। रानी चौंक उठती है और पूछती है,

''महाराज आप? आप मेरे सामने से हट जायें। अपने संकल्प और प्रतिज्ञाओं का स्मरण करें।''

''देवि! मैं अपना संकल्प भंग करता हूँ। मेरे संकल्प भंग होने से तुम मेरा त्याग कर दोगी। मुझे यह भी स्वीकार है। परन्तु, आठवें पुत्र को मुझे दे दो। जाने से पहले मुझे यह भी बताती जाओ कि मां होकर तुम अपने ही पुत्रों की हत्या क्यों कर रही थी? साथ ही मैं यह भी जानना चाहूँगा कि तुम कौन हो? कहां से आई हो?''

''राजन्! मैं गंगा हूँ। ये आठ वसु थे। जो स्वर्ग में अभिशप्त हुए थे। राजन्! इन्हीं की इच्छा से मैंने नारी का रूप धारण किया। सात वसुओं को यथाशीघ्र लौटाना

था, उनकी इच्छा के अनुरूप मुझे उन्हें मृत्यु देनी पड़ी। आठवां वसु आपके हाथों में है। जिसका नामकरण आपने देवव्रत किया है, यही आठवां वसु ''प्रभास'' है। इसे लम्बे काल तक जीवित रहना होगा। तभी इसके पापों का प्रायश्चित होगा राजन्। यह बड़ा ही वीर पुरूष, धर्म परायण तथा तपस्वी होगा। अपनी अटल प्रतिज्ञा के कारण यह भीष्म के नाम से प्रसिद्ध होगा। महाभारत युद्ध में बाणों की शैय्या पर लेटकर यह अपने पापों का प्रायश्चित करता इच्छानुसार मृत्यु को प्राप्त होगा।

''देवि! ये वसु अभिशप्त क्यों हुए? विस्तार से बताओ।''

''राजन्! आठों वसु अपनी पत्नियों के साथ कपिलमुनि के आश्रम के समीप विहार कर रहे थे। आठवें वसु प्रभास के मन में ऋषि की कामधेनु गाय के प्रति लोभ उत्पन्न हुआ। प्रभास ने कामधेनु गाय को चुरा लिया। शाम को जब गाय नहीं लौटी तथा उसका बछड़ा भूख से चिल्लाने लगा, तो मुनि ने अपनी योग दृष्टि से वसुओं की इस करतूत को देखा। उन्होंने आठों वसुओं को श्राप दे दिया। आठों वसु मृत्युलोक में जन्म धारण का प्रायश्चित करें। सातों वसु जो चोर नहीं थे, ऋषि के पास गये तथा उनसे प्रार्थना करके कहा।''

''ऋषिवर! हम सात वसु निरपराध हैं। चोर तो आठवां वसु प्रभास है। आपने हम सबको अभिशप्त क्यों कर दिया?''

''संग दोष का पाप भी लगता है। श्राप तो उन्हें भोगना ही पड़ेगा। तुम सातों वसु जन्मते ही मृत्यु को प्राप्त हो जाओ, यही तुम्हारी श्राप मुक्ति है। आठवें वसु प्रभास को अपने पापों का पूर्ण प्रायश्चित करना पड़ेगा।''

''ऐसा कहकर ऋषि समाधिस्थ हो गये। राजन्! यह आठों वसु मेरे पास आये। इन्होंने मुझसे प्रार्थना की। इन्हीं की प्रार्थना के अनुरूप मैंने नारी रूप धारण करके तुमसे विवाह किया। सात वसुओं को शीघ्र लौटा दिया। आठवां वसु प्रभास है जिसका नाम देवव्रत रखा है। मैं इस आठवें वसु को समय आने पर आपको लौटा दूंगी।''

ऐसा कहकर गंगा आठवें वसु प्रभास को लेकर लोप हो गयी। कुछ समय उपरान्त उसने अपने पुत्र देवब्रत को महाराज शान्तनु को सौंप दिया। देवब्रत ने धर्नुविद्या की शिक्षा परशुराम आदि दिव्य योद्धा एवं तपस्वियों से पाई। महाराज शान्तनु ने देवव्रत को युवराज घोषित किया।

एक ओर भीष्म ऐतिहासिक एवं पौराणिक पात्र हैं। दूसरी ओर वेदव्यास की कल्पना की आंखों में उन्हें प्रकृति में भी दर्शाने लगते हैं। प्रकृति को ही पितृयान कहा गया है। पेड़ों के फलों से बना यह शरीर आदिकालीन धर्म में पेड़ों का ही पुत्र माना गया है। पेड़ों की लकड़ियों की चिता को ही पितृयान कहा गया है।

शुभ्र शान्त खड़ा हिमालय धवल ही तो महाभारत का महाराज शान्तनु है। राजा हिमालय अर्थात् शान्तनु ने गंगा नदी से विवाह किया। सात पुत्रों को गंगा ने अपनी ही जल धाराओं में डुबा दिया। आज भी सात नदियां गंगा में मिल जाती हैं। आठवां नद, भीष्मक, देवब्रत है। अर्थात् उत्तर मुखी है। देवव्रत का अर्थ उत्तर की ओर जाने वाला भी होता है। भीष्मक महानद आज भी उत्तर की ओर जाने से हिमालय में ही रह जाता है। इस आठवीं नदी को गंगा अपने में समेट नहीं पाती है। उत्तर मुखी होने के कारण यह महानद सर्दियों में जमकर बर्फ का ग्लेशियर बन जाता है। यूँ बाणों की शैय्या पर भीष्म भी महाभारत में सोते हैं।

इसको और अधिक स्पष्ट करने के लिए मैं और अधिक पात्रों को भी स्पष्ट करना चाहूँगा। महाभारत में धृतराष्ट्र के पुत्र कौरवों को धार्तराष्ट्र कहा गया है। जबकि धार्तराष्ट्र शब्द का अर्थ है,

''हंस से वे सुन्दर पक्षी जिनके चोंच और पंजे काले हैं तथा जो जीवधारियों को जीवित ही खाते हैं।''

धार्तराष्ट्र एक विशेष प्रकार की चिड़ियों का नाम है। आज भी यह चिड़ियां उत्तरी हिमालय में पायी जाती है। यह चिड़ियां बाज की तरह हिंसक होती हैं। सदा यह झुण्ड बनाकर उड़ती हैं। कोई भी जीवित मनुष्य, पशु इन्हें मिल जाता है, तो यह उसे जीवित नोच-नोच कर खाने लगती हैं। पशु के मरते ही यह उसे खाना बन्द कर देती हैं। अधखाया जानवर फेंक कर चली जाती हैं। मुर्दा ये कभी नहीं खाती हैं। चिड़ियों के पीछे उड़ते हैं, ''द्रोण''। ''द्रोण'' शब्द का अर्थ है **'मुर्दाखोर पहाड़ी कौवा।'** अधखाये जानवर जो यह फेंक कर चल देते हैं, उन्हें यह मुर्दाखोर पहाड़ी कौवे खाते हैं। पक्षियों में सयाना कौवे को ही माना गया है। इसलिए महाभारत में आचार्य पद द्रोण के पास है। वेदव्यास की विलक्षण दृष्टि है, जो अपने काव्य में प्रत्येक श्लोकों को एक साथ कई स्तरों पर जीवन्त कर लेता है।

जिन्दा नोचकर खाने वाली चिड़ियां मेरी अतृप्तियां और वासनायें ही तो हैं। इच्छायें और वासनायें सामूहिक रूप से हमारे जीवन के क्षणों को नोच-नोच कर खाती हैं। जब मर जाते हैं तो कोई भी वासना हमें नहीं खाती है। यह शरीर चिता की लकड़ियों पर महापात्र को सौप दिया जाता है। फिर उसकी द्रोण बलि होती है। इस प्रकार पात्रों का ऐतिहासिक स्वरूप भी है, पौराणिक गाथा के रूप में भी अद्भुत, अलौकिक और दिव्य महाकाव्य है। प्रकृति के स्तर पर एक महाकवि की पुष्ठ एवं निरन्तर कल्पना का महासागर है। आध्यात्मिक स्तर पर प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का प्रत्येक क्षण एक विलक्षण महाकाव्य है। भीष्म के महाभारत से उभरते आध्यात्मिक स्वरूप को भी स्पष्ट कर देना चाहूँगा।

महाभारत का महासमर आरम्भ होने को है। बड़े-बड़े महारथी आमन-सामने खड़े हुए हैं। मेरी निगाह दो अद्‌भुद महारथियों पर है। दोनों ही अपनी माता के आठवें पुत्र हैं। विचित्र समता है दोनों में। एक ने कहा है, कि वह अस्त्र नहीं उठायेगा। केवल रथ चलायेगा। दूसरे ने कहा कि अस्त्र उठवा ही दूंगा। उसे अस्त्र उठाना ही पड़ेगा। एक है महा प्रतापी भीष्म। जिसका पूर्व नाम देवब्रत है। पूर्व जन्म में आठवें वसु हैं। दूसरे हैं भगवान श्रीकृष्ण, वसुदेव एवं देवकी के आठवें पुत्र। दोनों आमने-सामने खड़े हैं। दोनों महारथी हैं। दोनों दिव्य और आलौकिक पुरूष हैं। ये दोनों महापुरूष ऋग्वेद में भी दो ऋचायें बनकर आमने-सामने खड़े रह जाते हैं। एक जो भीष्म है वह बाह्य यज्ञ का स्वरूप है अर्थात् जो हवन यज्ञ आदि आप करते हैं, वस्तुतः वे यज्ञ भीष्म का ही प्रतीक ही माने गये हैं। दूसरे हैं भगवान श्रीकृष्ण, जो कि आत्मस्थ यज्ञ हैं।

जब जीव की सप्त वासनात्मक अग्नियां ज्ञान की गंगा में सो जाती हैं। तब इस आठवीं अग्नि अर्थात् आत्मज्वाला का ध्यान होता है। उसके जीवन में **प्रभास** होता है। अर्थात् वह स्वयं को जानने की दिशा में सोचने लगता है। अद्‌भुत दिव्य आत्मा का आभास ही तो प्रभास है, जो कि आठवें वसु का नाम है। तब जीव ईश्वर की ओर झुकने लगता है, तो देवब्रत होता है। देवब्रत का अर्थ होता है उत्तर की ओर जाना तथा देवब्रत का अर्थ आत्मा की ओर झुकना भी होता है। आत्मस्थ हुआ मनुष्य हवन यज्ञ आदि की ओर झुकने लगता है। यह बाह्य यज्ञ ही तो अजन्मा कुंवारा भीष्म है। यहीं से जीव देवब्रत होता है। यह यज्ञ ही उसे परमेश्वर का आभास देता है। उसके जीवन का प्रभास होता है। परन्तु, बाह्य यज्ञ कुंवारा भीष्म है। शाकल्य के साथ वाह्य जगत की अतृप्तियां और वासनायें जलाकर मूढ़ और अकिंचन होने का हेतु है। यह सिर्फ जलायेगा बाहर के विषयों को, इच्छाओं को और चाहत को। उपाधियों और भेदभावों को नष्ट करने वाला यज्ञ ही वाह्य यज्ञ है। पुष्ठ अध्यात्मिक आस्था पूर्ण समर्पित भक्ति का स्वरूप वाह्य यज्ञ भीष्म है।

वाह्य जगत से मूढ़ और अकिंचन होकर जब जीव आत्म ज्वालाओं में प्रवेश करता है। स्वयं को आत्मा रूपी अग्नियों में यज्ञ करता है। तभी वह आत्मा रूपी यज्ञ कुण्ड से ज्योतिर्मय जन्म धारण करता कृष्ण का पुत्र, प्रद्युम्न होता है। 'प्र' अर्थात् अजर-अमर 'द्युम्न' अर्थात् कौंधती तड़पती हुई बिजली से स्वरूप में यज्ञ होकर कृष्ण का पुत्र प्रद्युम्न हो जाता है।

केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्य्या अपेशसे।
समुषद्‌भिरजायथाः।। 1. 6. 3।।

(केतुम्) उपाधियों को। (कृण्वन) नष्ट करके। (अकेतवे) अर्थात् अकिंचन।

(पेशो) भेद जगत का भेदभाव। (मर्य्या) सीमा को तोड़कर। (अपेशसे) अर्थात् मूढ़ हो अकिंचन हो। (समुषदिभः) प्रातः काल के उगते सूर्य के समान। (अजायथाः) यदि जन्मना चाहता है।

अन्तर के जगत में, ईश्वर की राह में यदि तुझे जन्मना है। आत्मा की राह का यदि तुझे अनुसरण करना है तो पहले उपाधियों को नष्ट कर और अकिंचन हो भेद जगत की सीमाओं तोड़ और मूढ़ हो जा। जब तक मूढ़ और अकिंचन नहीं होगा, ईश्वर की राह में तेरा जन्म भी नहीं होगा। सर्व प्रथम मूढ़ और अकिंचन हो, तब भीतर में प्रवेश पा, ईश्वर की राह में जन्मने के सौभाग्य को प्राप्त हो। कैसे?

आदह स्वधामनु पुनर्गर्भत्वमेरिरे। दधाना नाम यज्ञियम्।। 1. 6. 4।।

(आदह) आकर दहन हो, यज्ञ हो। (स्वधामनु) आत्मा रूपी धाम में। (पुनर्गर्भत्वमेरिरे) आत्मा के गर्भ में पुनः ज्योतिर्मय सूर्य बनकर प्रकट हो, उत्पन्न हो। (दधाना) धारण कर, अर्थात् चरित्रार्थ कर। (नाम) नाम चरित्रार्थ कर। (यज्ञियम्) यज्ञ के अर्थात् जब वाह्य जगत में मूढ़ और अकिंचन हो जाये। ईश्वर की राह में जन्मने का अधिकार तू पा जाये, तब अन्तर्मुखी हो आत्मा रूपी कृष्ण ज्वालाओं में स्वयं को यज्ञ कर, दहन कर, सूर्य सा तेजस्वी बन उस गर्भ से ज्योतिर्मय सूर्य बनकर पुनर्जन्म को प्राप्त हो तथा यज्ञ के नाम को चरितार्थ कर!

हरि ॐ! नारायण हरि!

43

ऋषि उत्तंक!

महाभारत महाकाव्य में बहुत कम ऐसे पात्र हैं, जो महाकाव्य में आदि से अन्त तक चलते रहे हैं। ऋषि उत्तंक महाभारत के आरम्भ में आता है तथा महाभारत के समाप्ति में जब भगवान हस्तिनापुर से द्वारिका जा रहे होते हैं, तब उनकी भेंट ऋषि उत्तंक से होती है। जनमेजय द्वारा कराये गये सर्प यज्ञ का कारण भी महर्षि उत्तंक को ही दिखलाया गया है। ऋषि उत्तंक आचार्य आयोद धौम्य के शिष्य थे। उन्होंने बहुत मन लगाकर अपने गुरू की सेवा की। गुरू के यहां से शिक्षा लेकर जब उत्तंक जाने लगे तो उसने गुरू को गुरू दक्षिणा के रूप में कुछ देना चाहा, जो भी गुरू की इच्छा हो। गुरू ने कुछ भी लेने से इन्कार कर दिया। परन्तु, उत्तंक गुरू दक्षिणा के लिए जिद करता रहा। उत्तंक के बार-बार कहने पर गुरू ने उत्तंक से कहा, यदि वह गुरू दक्षिणा देना ही चाहता है तो गुरूमाता से पूछ ले, गुरूमाता जो इच्छा करें वह दक्षिणा के रूप में लाकर दे दें। उत्तंक के पूछने पर गुरू पत्नी ने उससे कहा,

''वत्स! तुम राजा पौष्य के यहां उसकी क्षत्राणी पत्नी ने जो दोनों कानों में कुण्डल पहन रखे हैं, उन्हें मांगकर मुझे दे दो।''

उत्तंक राजा पौष्य के पास कुण्डल मांगने के लिए गया। राजा पौष्य ने उत्तंक से कहा, कि वह उनकी पत्नी से जाकर स्वयं उन कुण्डलों को मांग लें। उत्तंक ने महारानी से दोनों कुण्डल मांगे तथा मांगने का कारण भी बताया। इस पर महारानी ने अपने दोनों कुण्डलों को उतार कर दे दिया। कुण्डल देने के बाद रानी ने उत्तंक से कहा,

''नागराज तक्षक इन कुण्डलों को पाने के लिए बहुत प्रयत्नशील हैं। अतः

आपको सावधानी पूर्वक इनको ले जाना चाहिए।''

''देवी! आप निश्चिन्त रहें, नागराज तक्षक मुझसे भिड़ने का साहस ही नहीं कर सकता।'' महारानी से ऐसा कहकर, उनसे आज्ञा लेकर राजा पौष्य के पास आया। और बोला,

''महाराज पौष्य मैं बहुत प्रसन्न हूँ और आपसे बिदा लेना चाहता हूँ। जब उत्तंक वहां से कुण्डल लेकर चले तो नागराज उनके पीछे पड़ गया। परन्तु, ऋषि उत्तंक फिर भी सावधान न हुए। कुण्डलों को जलाशय के किनारे भूमि पर रख स्वयं शौच, स्नान, आचमन, संध्या-तर्पण आदि में लग गये। इतने में ही तक्षक उनके कुण्डलों को लेकर चम्पत हो गया। देवताओं की पूजा करके, गुरूओं को नमस्कार करने के बाद जब उत्तंक जल से बाहर निकले तो उन्होंने तक्षक का पीछा किया, तो वह क्षपणक रूप धरे हुए था। उत्तंक ने दौड़कर उस क्षपगक को पकड़ लिया। क्षपणक का रूप त्याग कर तक्षक नाग का रूप धारण करके सहसा प्रकट हुआ और पृथ्वी में बने एक बहुत बड़े बिल में घुस गया। बिल में प्रवेश करके वह नागलोक में चला गया। ऋषि उत्तंक ने भी नागलोक तक तक्षक का पीछा किया। नाग-लोक में इन्द्र आदि को प्रसन्न कर उत्तंक ने नागराज तक्षक से दोनों कुण्डल लिये और ठीक समय पर दोनों कुण्डल गुरूमाता को दक्षिणा के रूप में अर्पित किये। उसके उपरान्त उत्तंक ने गुरू को प्रणाम किया तथा जो-जो कुछ उसने नागलोक में देखा था, उसकी चर्चा उन्होंने गुरूदेव से की। गुरूदेव ने बताया कि जो-जो कुछ उसने नाग-लोक में देखा था, उसमें रहस्य छिपा हुआ था। दो स्त्रियां जो उसने देखी थीं, वह धाता और विधाता हैं। जो काले और सफेद दो तन्तु थे, वे दिन और रात हैं। बारह अरों से युक्त चक्र को जो छः कुमार घुमा रहे थे वह छः ऋतुयें हैं। बारह महीने ही बारह अर्रे हैं। संवतसर ही चक्र है। इस प्रकार महाभारत की आरम्भ कथा से ही स्पष्ट हो जाता है कि सम्पूर्ण कथा एक रहस्य-लीला के रूप में गायी गयी है। वैदिक संस्कृति में अश्व नाम अग्नि का ही है, अश्विन् सूर्य को कहा गया है तथा अश्विना ब्रह्म अग्नि को कहा गया है। जबकि अश्व शब्द का प्रयोग घोड़े के लिए होता है। इस महाकाव्य का आरम्भ कथाओं के रूप में रहस्यात्मक ढ़ंग से वैदिक शब्दों का परिचय दिया गया है। ''गो'' माने ज्योति तथा ''वर'' माने वरण करने वाला। बैल के द्वारा त्यक्त मल को भी गोबर कहते हैं तथा वैदिक परिभाषा में इसका अर्थ अमृत भी होता है। उत्तंक की कथा में रहस्यमय ढंग से इन शब्दों की परिभाषा का प्रयास किया गया है।

गुरू से सम्पूर्ण रहस्यों को जानने के उपरान्त ऋषि उनसे आज्ञा लेकर चल दिये। ऋषि उत्तंक के मन में नागराज तक्षक के प्रति उनसे बदला लेने की भावना अति

बलवती थी। जिसे वह सदा अपने अंक में समाये रहे। उन्होंने ही काफी समय के उपरान्त महाराज परीक्षित के पुत्र जनमेजय को सर्प यज्ञ के लिए उकसाया। उन्होंने जनमेजय से कहा,

"नागराज तक्षक ने आपके पिता की हत्या की है; अतः आप उस दुरात्मा सर्प से इसका बदला लीजिए। उस पापी ने यह बड़ा भारी अनुचित कर्म किया है, जो आपके पिता को डस लिया। महाराज आप सर्प यज्ञ का अनुष्ठान करके उसकी प्रज्वलित अग्नि में उस पापी को होम दीजिए। आप जल्दी से जल्दी यह कार्य कर डालिए, पिता की मृत्यु का बदला लेना आपका धर्म और कर्तव्य है।"

उत्तंक के ऐसा कहने पर जनमेजय ने अपने मंत्रियों तथा ऋषिगणों से इस घटना के विषय में पूछा। जनमेजय ने ऋषि उत्तंक की इच्छानुसार सर्प यज्ञ करवाया इस प्रकार जनमेजय द्वारा कराये गये सर्प यज्ञ का केन्द्र-बिन्दु भी महर्षि उत्तंक ही हैं।

महाभारत के समापन के उपरान्त जब भगवान वासुदेव वापस हस्तिनापुर को चल देते हैं। उस समय महर्षि उत्तंक से उनकी भेंट की कथा महाभारत में आती है। इस कथा का वर्णन अन्य कई ग्रन्थकारों ने भी किया है। जिनमें आधुनिक कथाकारों में चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य का भी नाम आता है। "महाभारतम्" में उन्होंने इस कथा का विशेष उल्लेख किया है। कथा इस प्रकार है।

महाभारत युद्ध समाप्त हो गया है। युधिष्ठिर गद्दी पर विराजे हैं। भगवान श्रीकृष्ण भी द्वारिका की ओर चल दिये हैं। जब श्रीकृष्ण वन में आये तो उनकी भेंट ऋषि उत्तंक से हुई। श्रीकृष्ण ने देखा तो सघन वट वृक्ष के नीचे ऋषि उत्तंक बैठे हुए मौन तपस्या कर रहे हैं। श्रीकृष्ण ने रथ रोक दिया, रथ से उतर कर वृक्ष के समीप आये। गोविन्द ने ऋषि उत्तंक को प्रणाम किया। रथ की आवाज से ही ऋषि की समाधि टूट चुकी थी। ऋषि उत्तंक ने श्रीकृष्ण को आशीर्वाद दिया तथा पूछा,

"हे यादवेन्द्र! आप कहां से आ रहे हैं तथा कहां को जा रहे हैं?"

"ऋषिवर! मैं हस्तिनापुर से आ रहा हूँ तथा द्वारिका की ओर जा रहा हूँ।"

"हे यादवेन्द्र! आप हस्तिनापुर से आ रहे हैं, महाराज धृतराष्ट्र तो कुशल-मंगल से हैं? उनके पुत्र दुर्योधन, दुशासन तथा पाण्डु पुत्र युधिष्ठिर, भीम आदि सब कुशल पूर्वक हैं?" उत्तंक ने सहज जिज्ञासा से पूछा।

"ऋषिवर! क्या आपको मालूम नहीं की वहां पर भयंकर युद्ध हुए हैं। पाण्डु पुत्रों तथा धृतराष्ट्र पुत्रों में भयंकर संग्राम हुए हैं। अट्ठारह अक्षोहणी सेना महा विनाश को प्राप्त हो गयी है। दुर्योधन, दुःशासन आदि सारे धृतराष्ट्र पुत्र युद्ध में मारे गये हैं। धृतराष्ट्र भी अन्तिम समाधियों के लिए वन गमन कर गये हैं। युधिष्ठिर ही

अब कुरू साम्राज्य के सम्राट सुशोभित हैं।''

भगवान वासुदेव ने सविस्तार ऋषि उत्तंक को महाभारत युद्ध की कहानी तथा उसके परिणामों को बताया। भोला ऋषि उत्तंक मौन स्तब्ध बैठा सुनता रहा। इतने भयंकर संहारों की बात सुनकर उसका मन द्रवित हो उठा। दुखी होकर उसने कहा,

''यादवेन्द्र! इतने भयंकर नरसंहार को क्या तुम रोक नहीं सकते थे? तुम अवश्य रोक सकते थे। परन्तु, तुम तो उनके साम्राज्य का विनाश करना चाहते थे। इसीलिए तुम बैठे रहे और तुमने उन्हें रोका नहीं। सच तो यह है कि तुम उनके वैभव से जलते थे। तुमने जान-बूझकर उनको लड़ाकर मिटाया है, इसलिए तुम दण्ड के अधिकारी हो। मैं तुम्हें अभी श्राप देता हूं।''

यह कहकर ऋषि उत्तंक ने श्रीकृष्ण को श्राप देने के लिए अपना कमण्डल उठाकर अपने हाथ में जल डालने लगे। भगवान ने मुस्कराते हुए कहा,

''रे भोले उत्तंक! मुझे अभिशप्त करने से पहले एक बार मेरी ओर देख तो। ऋषि उत्तंक ने सिर उठाकर श्रीकृष्ण को देखा तो स्तब्ध रह गया। उसके हाथ से कमण्डल छूटकर धरती पर गिरा। उसकी सारी देह पत्ते की तरह कांप रही थी। उत्तंक ने देखा कि श्रीकृष्ण के स्थान पर स्वयं चतुर्भुज भगवान महा-विष्णु प्रकट हो गये हैं। विनीत होकर कांपते हुए स्वर में उत्तंक ने कहा,

''महाविष्णु! मेरे अपराध को क्षमा करें। मैं भोला उत्तंक, भला आपकी माया के रहस्य को क्या जानूं? आपकी लीला अपरम्पार है, मैं तो समझा था कि कोई यादव राजा है, जिससे मैं बात कर रहा हूँ। प्रभु! मैं नहीं जानता था कि कृष्णरूप में आप ही प्रकट होकर यह सब लीला करेंगे? नारायण! मेरे पापों को क्षमा करो।''

''भोले उत्तंक! यहां न किसी ने किसी को मारा है और न ही कोई मरा है। जब-जब धर्म की ग्लानि होती है, धरती के मनुष्य भटकने लगते हैं, तब मैं अपनी ही विभूतियों के साथ प्रकट होता हूँ। एक रहस्यमयी लीला को प्रकट करता, पुनः धर्म की पुनर्स्थापना करता हूँ। हे भोले उत्तंक महाभारत के युद्ध में न किसी ने किसी को मारा है और न ही कोई मरा है। महाभारत युद्ध में, सभी पात्रों में, मैं ही तो नाना रूपों में प्रकट था। शुभ, अशुभ, पुण्य, पाप और न्याय, नीति, सत्य, असत्य तथा आवागमन और मोक्ष के मार्ग को स्पष्ट करने हेतु मैं ही सभी पात्रों के रूप में अद्भुद ज्ञान लीला प्रस्तुत कर रहा था। लीला के समापन में अपनी विभूतियों को समेटता मैं लोप हो जाता हूँ। हे उत्तंक! महाभारत युद्ध प्रत्येक द्वापर के अन्त में मेरे ही द्वारा प्रकट होता है तथा मुझमें ही लय होता है।'' महाविष्णु ने विस्तार से महाभारत रूपी रहस्य-लीला का अनावरण उत्तंक के सम्मुख किया। उसके उपरान्त भगवान उत्तंक से कहा,

''उत्तंक! मैं तुम पर प्रसन्न हूँ, मेरी इच्छा है कि तुम मुझसे कोई वर मांगो।''

ऋषि उत्तंक जिसकी सम्पूर्ण इच्छायें समाप्त हो चुकी हैं, भला वह क्या मांगे नारायण से। उसने विनम्रता से उत्तर दिया,

''महाविष्णु! मेरी कोई इच्छा बाकी नहीं है। मैं आपसे कुछ नहीं चाहता!''

''उत्तंक! मेरी मर्यादा है कि जो मेरे इस स्वरूप का दर्शन पाता है, वह मुझसे वरद् होता अवश्य है। इसलिए मर्यादा की रक्षा के लिए ही सही, तुम मुझसे वर मांगो।''

भोला उत्तंक सोचने लगा। जिसकी सम्पूर्ण इच्छायें समाप्त हो चुकी हैं। भला वह क्या मांगे? कुछ तो मांगना ही है, आराध्य की मर्यादा का प्रश्न है। सो उत्तंक ने मांगा,

''महाविष्णु! मैं जंगल में रहता हूँ। बहुत बार जंगल में जल का अभाव हो जाता है। यदि ऐसी कोई अवस्था आये, मुझे वन में जल न मिले तथा मैं आपसे इच्छा करूं तो आप किसी को भेज देना। मुझे जल पिला जायेगा।''

महाविष्णु हंसे, 'तथास्तु' कहकर अर्न्तध्यान हो गये। भगवान के दर्शन पाकर उत्तंक भी धन्य हो गया।

समय फिसलता रहा। कुछ वर्ष के उपरान्त वन में भयंकर अकाल पड़ गया। धरती फट गयी। जलाशय सूख गये, पेड़-पौधे सब सूखकर गिरने लगे। पशु-पक्षी प्यासे मरने लगे। जल कहीं नहीं है। वन-वन भटकता प्यासा उत्तंक, उसे कहीं पानी नहीं मिलता है। उत्तंक की प्यास बढ़ती जाती है। प्यास के आवेग को न सह सकने के कारण उत्तंक एक ऊँचे स्थान पर ध्यान मुद्रा में बैठकर महाविष्णु से जल की कामना करता है। उत्सुकता से देखने लगता है।

तभी उत्तंक की दृष्टि एक चाण्डाल पर पड़ती है। चाण्डाल चमड़े की मशक में पानी भरे हुए तथा मशक को पीठ पर रखे हुए चला आ रहा है। ऋषि उत्तंक को देखकर चाण्डाल रुक जाता है। ऋषि को प्रणाम करता है। ऋषि उसे आशीर्वचन कहते हैं। चाण्डाल पूछता है,

''ऋषिवर! लगता है आप प्यासे हैं। मेरी मशक में पानी भरा हुआ है इस मशक के अतिरिक्त इस सम्पूर्ण प्रदेश में जल कहीं पर भी नहीं है। ऋषिवर! आप इस मशक से जल लेकर पी लें।'' चाण्डाल ने विनयपूर्वक कहा। ऋषि उत्तंक अत्यधिक क्रोधित हो उठे,

''रे दुष्ट! तेरा, मुझसे यह वचन कहने का साहस कैसे हुआ? भला एक चाण्डाल के हाथ तथा वह भी मृत चर्म में रखे हुए दूषित जल का मैं पान करूंगा? अधम! मेरे सामने से दूर चला जा। अन्यथा मेरे द्वारा तू आज अभिशप्त होगा।''

भयभीत होकर चाण्डाल ऋषि को प्रणाम करता हुआ वहां से भाग खड़ा हुआ। चाण्डाल के जाते ही चतुर्भुज महाविष्णु प्रकट हो गये। उन्होंने ऋषि उत्तंक से कहा,

''रे भोले उत्तंक! तूने आज अमृत लौटा दिया। मैंने इन्द्र से कहा कि इन्द्र, उत्तंक अभेद हो गया है। उसकी दृष्टि सुदर्शन है। वह प्राणी मात्र में मेरा ही दर्शन करता है। इसलिए उत्तंक अब मोक्ष का अधिकारी है। इन्द्र, उत्तंक को अमृत पिलाकर अक्षय पद प्रदान करो।

परन्तु, उत्तंक, इन्द्र ने मुझे उत्तर दिया, कि उत्तंक अभी अभेद नहीं है। प्राणी मात्र में एक आत्मा का दर्शन उत्तंक नहीं करता है। इसलिए उत्तंक अभेद नहीं है, वह स्वर्ग का भी अधिकारी नहीं है।

उत्तंक! मैंने फिर इन्द्र से कहा कि हे इन्द्र, उत्तंक प्राणी मात्र में मेरा ही दर्शन करता है। उत्तंक अभेद हो चुका है। जाओ उसे अमृत पिला दो। इस पर इन्द्र ने कहा, महाविष्णु आपकी आज्ञानुसार मैं उत्तंक को अमृत पिलाने जाऊँगा। उस समय मेरा रूप चाण्डाल का होगा तथा चमड़े की मशक में अमृत भरकर ले जाऊँगा। यदि उत्तंक अभेद होगा तो मुझमें भी आप ही के दर्शन करेगा। यदि उसमें भेदभाव होगा तो वह जल का पान करने से विमुख होगा। रे भोले उत्तंक! चाण्डाल के रूप में स्वयं देवेन्द्र था तथा मशक में तुम्हारी सारी तपस्या का फल देने वाला अमृत था। रे उत्तंक! तेरी भेद दृष्टि ने आज अमृत गंवाया है। उत्तंक! अब जितना जल चाहे तू पी सकता है।''

महाविष्णु, उत्तंक से ऐसा कहकर अर्न्तध्यान हो गये। अकाल समाप्त हो चुका था। जलाशय जल से परिपूर्ण थे तथा वृक्ष पौधे हरे-भरे थे। उत्तंक पी जितना पीना है। अमृत तो लौट गया है।

उत्तंक शब्द का अर्थ भी स्पष्ट कर दूँ। ''उत'' माने संशय ''अंक'' माने हृदय अथवा गोद। जिसके हृदय में संशय व्याप्त है उसे संस्कृत में उत्तंक कहते हैं। संशय रहित जीव ही अभेद होता है तथा वही अक्षय पद का अधिकारी होता है। अभेद में फँसा व्यक्ति कभी भी अभेद ब्रह्म में व्याप्त नहीं हो सकता है। ऋषि उत्तंक की कथा में दर्शाये गये अमृतमय ज्ञान की पुनर्रावृत्ति ही है। भगवान वेदव्यास के द्वारा महाकाव्य में प्रकट हुए अभेद भक्ति का अमृत दर्शन है।

हरि ॐ! नारायण हरि!

44

कुरु संतति!

हस्तिनापुर के राज सिंहासन पर पाण्डु नरेश बन कर विराजे। अन्धा होने के कारण बड़े भाई धृतराष्ट्र को राज सिंहासन नहीं मिल पाया। राजा पाण्डु का विवाह कुन्ती से हुआ। कुन्ती महाराज पृथु की बेटी थी। कुन्ती का पूर्व नाम पृथा था। शिशु काल में ही राजा कुन्ती भोज ने पृथा को गोद ले लिया। राजा कुन्तीभोज के द्वारा पुत्री रूप में ग्रहण किये जाने के उपरान्त इसका नया नाम कुन्ती पड़ गया। कुन्ती की उत्पत्ति यज्ञ के द्वारा हुई थी। वह साधारण मानवी नहीं थी। इस रहस्य का अनावरण भी कर देना उचित होगा अन्यथा इस महाकाव्य की विचित्रता में पाठक फंस कर ही रह जावेगा।

जिन पात्रों की ऐतिहासिकता से हटकर, महाकाव्य विश्वव्यापी घटघट वासी लीला करवाना चाहेगा उनका जन्म तथा स्वरूप असाधारण हो जायेगा । जहां पात्र एक ओर इतिहास का सत्य शाश्वत अंग है, वहीं दूसरी ओर रहस्यलीला में प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का अभिन्न शाश्वत भाव भी है।

एक बार दुर्वासा ऋषि राजा कुन्तीभोज के यहां पधारे। कुन्ती ने उनकी बहुत सेवा की। प्रसन्न होकर ऋषि ने कुन्ती को देवताओं के आवाहन का मंत्र दे दिया। ऐसा मंत्र जिसके द्वारा जिस देवता का आवाहन हो वह प्रकट होकर कुन्ती को संतान से वरद करे। मंत्र पाकर कुन्ती बहुत प्रसन्न हुई।

एक बार प्रातः काल के समय वह सूर्य को निहार रही थी, उसी समय उसके मन में मंत्र की परीक्षा लेने की इच्छा उठी। कुन्ती ने मंत्र द्वारा विधिवत सूर्य देवता का आवाहन किया। सूर्य देव ने प्रकट होकर कुन्ती को पुत्र से वरद कर दिया।

कुन्ती भयभीत हो उठी। कुंवारेपन में ही उसे पुत्र की प्राप्ति हो गयी थी। भयभीत होकर कुन्ती ने उस बालक को एक पेटी में रखकर गंगा नदी में बहा दिया। बालक बहता हुआ धृतराष्ट्र के सारथी अधिरथ को मिला। अधिरथ निःसन्तान था। उन्होंने नवजात शिशु को अपनी पत्नी राधा को दिया। राधा मनोयोग से उस शिशु का लालन-पालन करने लगी। शिशु के शरीर पर जन्म से ही कवच तथा कुण्डल विराज रहा था। राजा पाण्डु का प्रथम विवाह कुन्ती से हुआ।

राजा पाण्डु का दूसरा विवाह मद्र देश की राजकुमारी माद्रि के साथ हुआ। अन्धे धृतराष्ट्र का विवाह गांधार देश की राजकुमारी गांधारी के साथ हुआ। जब गांधारी ने सुना कि उसके पति अन्धे हैं, तो उसने भी अपनी आंखों पर काली पट्टी बांध ली। काली पट्टी उसके जीवन में सदा उसकी आंखों पर बंधी रही। उसके जीवन में केवल दो बार, विशेष कारणवश, ये पट्टी खुली थी।

राजा पाण्डु अपनी पत्नियों के साथ विहार कर रहे थे। ऋषियों की कुटियों के समीप वे पत्नियों सहित एकान्तवास कर रहे थे। एक दिन सिंह के धोखे में उन्होंने ऋषि दम्पत्ति को आहत कर दिया। मरते समय ऋषि ने राजा को श्राप दिया,

''राजन् सन्तान की इच्छा के लिए काम क्रीड़ा में निमग्न हम दोनों को तुमने आघात किया है। मैं तुम्हें श्राप देता हूँ कि जब भी तुम काम अवस्था को प्राप्त होगे, तुम्हारे शरीर का पात हो जायेगा। तुम तत्क्षण मृत्यु को प्राप्त हो जाओगे।''

राजा पाण्डु बहुत दुःखी हुए। वे निःसंतान थे। ऋषि के श्राप के कारण अब वे सन्तान की कामना भी नहीं कर सकते थे। दुःखी मन से राजा पाण्डु ने राजसिंहासन अपने बड़े भाई धृतराष्ट्र को सौंप दिया तथा स्वयं अपनी दोनों पत्नियों के साथ ऋषियों के समीप ही कुटिया बनाकर घनघोर तप करने लगे। परन्तु मन उनका संतान के लिए तड़पता रहा। उनकी अन्तरव्यथा से दोनों पत्नियां भी दुःखी रहने लगी। एक दिन कुन्ती ने महाराज पाण्डु को अपने मंत्र के विषय में बताया। महाराज पाण्डु अति प्रसन्न हुए। उन्होंने कुन्ती से मंत्र के द्वारा धर्मराज का आवाहन करने को कहा। कुन्ती ने विधिवत धर्मराज का आवाहन किया। धर्मराज प्रकट हुए तथा वरदान के रूप में युधिष्ठिर, पुत्र के रूप में, कुन्ती को प्रदान किया। राजा पाण्डु शिशु युधिष्ठिर को पाकर अति प्रसन्न हुए। कुछ काल के उपरान्त पाण्डु के कहने पर कुन्ती ने वायु देवता का आवाहन किया तथा वायु देवता द्वारा वरदान के रूप में भीम को पाया। पाण्डु की इच्छा के लिए ही कुन्ती ने इन्द्र का आवाहन किया। पुत्र के रूप में उसे अर्जुन की प्राप्ति हुई। कुन्ती ने माद्रि को मंत्र देकर अश्वनी कुमारों का आवाहन करने के लिए कहा। माद्रि के आवाहन पर दोनों अश्वनी कुमार प्रकट हुए। वरदान के रूप में उन्होंने माद्रि को दो पुत्रों से वरद किया। नकुल और

सहदेव, अश्वनी कुमारों के वरदानों से प्रकट हुए।

एक दिन माद्रि को नहाते देखकर उसके यौवन पर महाराज पाण्डु आसक्त हो उठे। कामवासना ने उनकी मति हर ली। ऋषि के श्राप को ही वे भूल गये। जबरन उन्होंने माद्रि को अपनी बांहों में कस लिया और कामातुर हो उठे उसी क्षण उनका देहपात हो गया। महाराज पाण्डु मृत्यु को प्राप्त हुए।

पाण्डु की मृत्यु माद्रि को सहन न हुई। उसने हठपूर्वक राजा पाण्डु की चिता पर देह त्यागने का संकल्प ले लिया। कुन्ती ने बहुत मनाना चाहा। परन्तु माद्रि न मानी। कुन्ती ने माद्रि से पूछा

"बहन माद्रि! मैं तुम्हें रोकूँगी नहीं। परन्तु एक बात मुझे बताओ? पति के साथ देह त्यागने से पति लोक प्राप्त होना उचित है? अथवा पति को ही परमेश्वर मानकर, निरन्तर उसी में ध्यानस्थ रहते हुए, तपस्या के द्वारा ज्योर्तिमय स्वरूप को धारण कर, पति लोक को प्राप्त हो जाना!"

"बहन कुन्ती! तुम मुझे गलत समझ रही हो। मैं इसलिए चिता की अग्नियों में प्रवेश नहीं कर रही हूँ, कि पति लोक की प्राप्ति हो। बहन, मैं तो स्वयं को महाराज पाण्डु का हत्यारा मानती हूँ। यह जानते हुए भी कि महाराज पाण्डु अभिशप्त हैं। जब भी वे कामासक्त होंगे उनकी मृत्यु हो जायेगी। सब जानते हुए भी मैंने ऐसी अवस्था उत्पन्न की, जिससे महाराज पाण्डु कामासक्त होकर मृत्यु को प्राप्त हो गये। बहन, मैं स्वयं को महाराज का हत्यारा मानती हूँ। मैंने पाप किया है। नारी हूँ। भरत-खण्ड की भूमि पर हूँ। मुझे कोई दण्ड न देगा। ऐसी अवस्था में मेरे पापों का प्रायश्चित कैसे होगा? बहन! मैं प्रायश्चित के रूप में इन अग्नियों का वरण कर रही हूँ।" ऐसा कहती हुई माद्रि, पाण्डु की चिता में प्रवेश कर, पाण्डु के साथ ही गमन कर गयी।

विधवा कुन्ती पांचों बेटों के साथ लौटकर हस्तिनापुर आ गयी। पांचों भाई पितामह भीष्म की छत्र-छाया में पलने लगे। कुन्ती को लिवाने के लिए उनके भाई वसुदेव आये। कुन्ती श्रीकृष्ण की बुआ है।

धृतराष्ट्र और गांधारी से भी कोई संतान प्राप्त न हुई। एक बार महर्षि वेदव्यास हस्तिनापुर पधारे थे। वरदान के रूप में गांधारी ने उनसे सौ पुत्रों की कामना की। वेदव्यास ने गांधारी को वरदान दिया। उचित समय पर गांधारी गर्भवती हुई। प्रसव में उसने संतान के स्थान पर एक "मांस पिण्ड" को जन्म दिया। "मांस पिण्ड" को प्रकट होने की बात सुनकर धृतराष्ट्र और गांधारी अत्यधिक दुःखी हो उठे। उसी समय महर्षि वेदव्यास पधारे। उन्होंने धृतराष्ट्र और गांधारी की व्यथा सुनी। वेदव्यास मुस्कराये। उन्होंने सैनिकों को आदेश दिया कि इस मांस के पिण्ड के सौ टुकड़े

कर दो। सैनिक ने मांस पिण्ड पर सौ बार तलवार चला दी। सौ बार वार के कारण टुकड़े एक सौ एक हो गये। एक सौ एक मांस के लोथड़ों को एक सौ एक घी से भरे हुए घड़ों में डाल दिया गया। उन घड़ों पर पहरा बिठा दिया गया। कालान्तर में पहले घड़े से दुर्योधन प्रकट हुए। दूसरे घड़े से दुःशासन। इस प्रकार प्रकार सौ घड़ों से सौ कौरव पैदा हुए। एक सौ एकवें घड़े से एक कन्या ने जन्म लिया। इसका नाम दुःशला पड़ा। सौ भाइयों की वह इकलौती बहन थी। उसका विवाह जयद्रथ के साथ हुआ था। जयद्रथ सौ कौरवों का इकलौता बहनोई था।

वेदव्यास! रहस्य-लीलाओं के जादूगर! यहां भी तुमने इतिहास को जब आध्यात्म की करवट दी, इतिहास अमर आध्यात्म बनकर, नित्य हो उठा। ''धृ'' धातु है। ''धृत'' शब्द का अर्थ है **धारण** करना तथा ''राष्ट्र'' शब्द का अर्थ है भूमण्डल। भू-मण्डलों को धारण करने वाला अर्थात् धृतराष्ट्र कौन? धृतराष्ट्र शब्द का अर्थ है भू मण्डलों को धारण करने वाला। ग्रहों और नक्षत्रों को अपने हाथों पर खिलाने वाला। ऐसा अन्धा राजा धृतराष्ट कौन है? **अन्धा काल**!! अर्थात् समय। अपनी कथाओं में तुमने धृतराष्ट्र को, काल का अवतार बताया भी है।

समय को तुमने अन्धा धृतराष्ट्र क्यों बनाया? इसलिए कि समय अन्धा है। वह सब को एक ही लाठी से हांकता है। इस अन्धे समय अर्थात् धृतराष्ट्र का सारथी है संजय। संजय शब्द का अर्थ है - **जीवनजयी**। जिसने जीवन को जीत लिया हो। अर्थात् अन्धा काल जिसे अतीत में न फेंक सके। अर्थात् जो सदा वर्तमान में स्थित हो। संजय!

अन्धे काल धृतराष्ट्र का सारथी अर्थात वर्तमानरूपी संजय को भीतर और बाहर की आंखें प्राप्त हैं। संजय के पास वाह्य नेत्र भी हैं, तथा अन्तर चक्षु से भी संजय वरद है। धृतराष्ट्र भीतर बाहर दोनों ही प्रकार से अन्धा है।

क्या हम अतीत को देख सकते हैं? कदापि नहीं! क्या हम भविष्य को देख सकते हैं? कदापि नहीं! क्या हम वर्तमान को देख सकते हैं? स्पष्ट है कि वर्तमान ही दृष्टिगोचर है। जवकि भूत और भविष्य दोनों ही हम नहीं देख सकते हैं। इसलिए धृतराष्ट्र अन्धा है, और संजय के पास बाहर की आंखे हैं। पुनः प्रश्न पूछना चाहूँगा। क्या आप अतीत के लिए अतीत में जा सकते हैं? अथवा भविष्य के लिए भविष्य में जा सकते हैं? कदापि नहीं! भविष्य तथा अतीत दोनों की कल्पना हम वर्तमान में ही बैठकर कर सकते हैं। न तो हम अतीत के लिए अतीत हो सकते हैं तथा न भविष्य के लिए भविष्य ही। भविष्य और अतीत की कल्पना वर्तमान में ही सम्भव है। वर्तमान का नाम संजय है। अन्तर दृष्टि भी संजय को ही प्राप्त है। धृतराष्ट्र नितान्त अन्धा है।

अन्धे धृतराष्ट्र को राजराजेश्वर क्यों बनाया गया? इसलिए कि अन्धे वक्त के आगे सब राजा हारते हैं। जो कुछ हम मकान-दुकान बनाते हैं। राष्ट्र ऐश्वर्य बनाते हैं। वक्त एक हल्की सी चपत लगाकर हमें चिता की लकड़ियों पर मुट्ठी भर राख में बदल देता है। हमारा राज-पाट सब छिन जाता है। अन्त में जीतता है अन्धा काल! धृतराष्ट्र! बड़े-बड़े राज राजेश्वर जो इस धरती को जीते, परन्तु वे भी धृतराष्ट्र के आगे सब के सब हारे।

इसलिए अन्धा काल धृतराष्ट्र सबसे बड़ी शक्ति है। उसकी पत्नी? आंखों पर पट्टी बांधने वाली, गांधारी। गांधारी कौन है? स्वयं अपनी आंखों पर अन्धता की पट्टी बांधना ही गांधारीवाद है। आंखों के होते हुए भी अन्धता ही जीना।

हम जानते हैं, न कोई साथ आया है, और न साथ कोई जायेगा। जो कुछ इस भौतिक जगत में बटोरा है वह सब यहीं धरा रह जायेगा। इसे जानते हुए भी हम माया की पट्टी से स्वयं को अन्धा किये, बीबी, मकान, दुकान, मेरा-तेरा, अपना-पराया, बस इन्हीं भ्रमों में भटकते रहते हैं। जीवन का स्वर्ण लुटता रहता है। खो कर जीवन के स्वर्ण को, चिता की लकड़ियों पर, अन्धा काल, धृतराष्ट्र हमें पराजित कर देता है। जो वर्तमान का जीवन्त सत्य था, वही अतीत बनकर रह जाता है। वर्तमान इतिहास का पन्ना बन जाता है।

इस अन्धे काल और गांधारी के दाम्पत्य से एक पिण्ड प्रकट होता है। उस पिण्ड से, एक सौ एक, सन्तानें उत्पन्न होती हैं। यह सब क्या है? स्वयं को अन्धा करने की मनोवृत्ति गांधारी तथा अन्धे वक्त के सहयोग से, मेरे मस्तिष्क रूपी पिण्ड से, उत्पन्न होने वाली एक सौ एक संताने; अनंत लिप्सायें, वासनायें, अतृप्तियां और इच्छायें ही तो कौरव हैं। मेरे एक ही मस्तिष्क रूपी पिण्ड से यह सब असंख्य होकर प्रगट होती हैं। टुकड़ों में बंट जाती है जिन्दगी मेरी। टुकड़े-टुकड़े होकर बंट जाता हूँ मैं और मेरा सम्पूर्ण अस्तित्व। यही तो गांधारी और धृतराष्ट्र की संतानें हैं।

धृतराष्ट्र के पुत्र होने से, कौरव, धार्तराष्ट्र भी कहलाते हैं। गीता में कौरवों के लिए इसी शब्द का प्रयोग बारम्बार आया है। धार्तराष्ट्र एक चिड़िया का नाम है। अमरकोष में इस शब्द की व्याख्या इस प्रकार है

''वे हंस से सुन्दर पक्षी, जिनके चोंच और पंजे काले हैं। जो जीवधारियों को जीवित पकड़कर नोच-नोचकर खाते। उन्हें धार्तराष्ट्र कहते हैं।''

धार्तराष्ट्र नामक यह पक्षी उत्तरी हिमालय में आज भी पाये जाते हैं। यह एक प्रकार के हिंसक बाज होते हैं। इनका सम्पूर्ण रंग हंस की भांति सफेद होता है। इनके चोंच और पंजे काले रंग के होते हैं। यह पक्षी सदा समूहों में उड़ते हैं। इनकी विशेषता यह है कि वे केवल जिन्दा मांस ही खाते हैं। जिस पशु, पक्षी तथा मनुष्य

को ये पकड़ पाते हैं उसे जीवित ही नोच-नोचकर खाने लगते हैं। बीच में ही जब वह मर जाता है तो अधखाया मुर्दा फेंककर चले जाते हैं। तत्क्षण मारा हुआ मांस भी वह नहीं खाते हैं। बस उसे तभी तक नोच-नोचकर खाते हैं जब तक वह तड़पता, चीखता और चिल्लाता है।

धार्तराष्ट्र के समूहों के पीछे पहाड़ी कौवों के झुण्ड उड़ते हैं। संस्कृत में मुरदाखोर पहाड़ी कौवों का नाम है ''द्रोण''। द्रोण शब्द का अर्थ है,

''मुरदाखोर पहाड़ी कौवा, काला घना बादल इत्यादि।

धार्तराष्ट्र के समूहों के पीछे, द्रोणों के समूह, मात्र इसलिए उड़ते हैं कि जो भी अधखाया जानवर धार्तराष्ट्र फेंक देंगे। उसे द्रोण आनन्द से खायेंगे। महाभारत के युद्ध में भी कौरवों के साथ आचार्य द्रोण हैं। पक्षियों में सयाना होता है कौवा। इसीलिए आचार्यपद महाभारत में द्रोण को ही मिला है। मेरी इच्छायें और अतृप्तियां सुन्दर धार्तराष्ट्र ही तो हैं। इच्छायें और लिप्सायें यदि सुन्दर न हों, तो मैं उनमें फंसूँ क्योंकर? पत्नी और संतान का भाव यदि मुझे सुन्दर न लगता तो मैं क्योंकर धार्तराष्ट्र का आवाहन किया होता! फिर ये धार्तराष्ट्र एक से अनेक हो उठते हैं। मेरी ही इच्छायें और अतृप्तियां तथा कथित स्वजनों का भाव, बन के चिन्ता, ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, लोभ, मोह इत्यादि मेरे ही जीवन को नोच-नोचकर खाने लगती हैं। जीवन, दुःख, पीड़ा और आतंक का भयानक शोर बनकर रह जाता है। कौरव शब्द का अर्थ है, अनन्त शोर अर्थात् अनन्त नाद! सारा जीवन इन्हीं धार्तराष्ट्रों के द्वारा नोचा जाता है। जहां मर गया, तो यह धार्तराष्ट्र फिर नहीं सताते हैं। यह सिर्फ जिन्दा ही खाते हैं। (कौ = अनन्त, असंख्य! रव = शोर! कौरव = अनन्त शोर)

धृतराष्ट्र का छोटा भाई है पाण्डु। पाण्डु कौन है? पांच तत्वों से बना यह शरीर ही तो पाण्डु है। पांच तत्वान्डों से निर्मित शरीर पाण्डु कहलायेगा। चेतना शक्ति ही शरीर रूपी पाण्डु की पत्नी, कुन्ती है, जो कुण्ठा से कुन्तल सा ज्ञान लाये, जो जड़ प्रकृति को ज्ञान की अनुभूतियों से स्वर्ग सा ज्योर्तिमय बनाये, उसे कुन्ती कहते हैं। कुन्ती का पूर्व नाम पृथा है। जो जीव को जड़त्व से पृथक करे, उसे पृथा कहते हैं। इस प्रकार प्रत्येक शरीर पाण्डु कहाया तथा प्रत्येक शरीर की चेतना शक्ति कुन्ती कहलाई। चेतना और कल्पना (माद्रि) के द्वारा ही नवजात शिशु धीरे-धीरे अज्ञान से ज्ञान की ओर बढ़ता है।

चेतना और कल्पना के पुत्रों के नाम हैं, युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव। इनका जन्म भी विलक्षण रूप से होता है। कुन्ती अर्थात् चेतना शक्ति, बुद्धियों को सहज संभोग के द्वारा उत्पन्न नहीं कर सकती है। ज्ञानदायिनी कुन्ती के पांच पुत्र, पांच ज्ञान बुद्धियां ही हैं। कुन्ती इन्हें यथा देवताओं से ही वरदान के

रूप में पाती है। धर्म का ज्ञान धर्माचार्यों, सत्संग, धर्माचरण तथा सद्ग्रन्थों के स्वाध्याय के द्वारा प्राप्त होता है। इसलिए धर्म बुद्धि युधिष्ठिर धर्म के द्वारा ही कुन्ती तथा पाण्डु को प्राप्त होता है। युधिष्ठिर शब्द का अर्थ है युद्ध + स्थिर = युधिष्ठिर। जो जीवन रूपी संग्राम में, आत्मा में ही स्थिर हो गया है। जिसके आत्मस्थ भाव को भौतिक विषय और वासनायें विचलित नहीं कर सकते हैं, उसे युधिष्ठिर कहते हैं।

भीम वायु के पुत्र हैं। भीम संकल्प शक्ति का प्रतीक है। किसी भी मनुष्य की संकल्प शक्ति, परिस्थितियों तथा वातावरण से उत्पन्न होती है। इसलिए भीम परिस्थितियों और वातावरण को देने वाले वायु के पुत्र माने गये हैं। प्राण वायु को ऋग्वेद में उपाचार्य ही माना गया है।

अर्जुन इन्द्रियों के द्वारा अर्जित पुत्र हैं। दस इन्द्रियों के अर्जन से अर्जित होने के कारण, अर्जुन इन्द्रियों के अधिपति मन अर्थात् इन्द्र के पुत्र कहलाते हैं।संस्कृत भाषा में मन का पर्यायवाची इन्द्र होता है। इस प्रकार आत्मज्वालाओं में स्थिर होता भाव युधिष्ठिर है प्राणों में बलिष्ठ होता भाव, वायु का पुत्र संकल्प के प्रतीक भीम है। सधी हुई इन्द्रियों तथा मन की संतान निर्णायक बुद्धि अर्जुन हैं।

माद्रि अर्थात् कल्पना शक्ति के पुत्र अश्वनी कुमारों के वरदान नकुल और सहदेव हैं। नकुल ज्ञान का प्रतीक है तथा सहदेव भक्ति का प्रतीक है। नकुल शब्द का अर्थ है, जिसका कोई कुल न हो'। जो अवैध संतान हो। भला ऐसा क्यों? ज्ञान का कोई कुल नहीं होता। ज्ञान कुल की मर्यादाओं से ऊपर ही हुआ करता है। जब भी ज्ञानी ज्ञान के परम तत्व को प्राप्त होता है वह सन्यास को प्राप्त हो जाता है। सन्यासी का कोई कुल नहीं होता। सन्यासी की कोई सन्तान नहीं होती। सन्यासी किसी का जाति और कुल नहीं जानता। सन्यासी सबमें एक ब्रह्म का भाव रखता है। सन्यासी सचराचर को ब्रह्ममय ही जानता है। ज्ञानी अपनी पूर्णता को जब प्राप्त होता है तो अभेद हो जाता है। ज्ञान सदा नकुल ही रहता है।

सहदेव शब्द का अर्थ होता है सह+ देव = सहदेव। सह माने संग करना, संयोग करना अथवा साथ देना। देव शब्द का अर्थ होता है ईश्वर। सहदेव शब्द का अर्थ हुआ ईश्वर को प्राप्त करने वाला। ईश्वर से संयोग करने वाला। ईश्वर का साथी। भक्ति मार्ग का द्वैत इस नाम में सिद्ध है। कोई ईश्वर का साथ कर रहा। ईश्वर किसी को अपने संयोग में ला रहा है। इस प्रकार भक्त और भगवान का द्वैत सहदेव नाम में स्पष्ट हो जाता है।

महाभारत की कल्पना करें। एक ओर है अन्धा काल धृतराष्ट्र। उसके पुत्र कौरव अर्थात् भौतिक लिप्सायें, वासनायें, इच्छायें तथा अतृप्तियां। फिर इन कौरवों की

संताने जो इन्हीं विचारों से उत्पन्न होती हैं, यथा क्रोध, मोह, मद, मत्सर, ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, प्रतिशोध आदि-आदि।

दूसरी ओर पांच तत्वों से बना शरीर रथ, दस इन्द्रियां ही जिसके दस घोड़े हैं। अजर, अमर आत्मा श्रीकृष्ण ही इस रथ के सारथी हैं। श्रीकृष्ण ही आत्मा होकर शरीर रूपी रथ को जीवन्त तथा गतिमान बनाये हुए हैं। लक्ष्य निर्णायक बुद्धि रूपी अर्जुन इस रथ के महारथी, धनुर्धर हैं मायाओं के महासमर ही महाभारत है।

आत्मा कृष्ण सारथी, बुद्धि अर्जुन महारथी, शरीर रथ तथा जीवन का प्रत्येक क्षण, एक जुझारू योद्धा का संग्राम। इतिहास से उभरता अमर आध्यात्म, जगमगाता मोती। इतिहास में ही रहस्य-लीलाओं के अद्भुत चितेरे! तुम्हारे इन रहस्यों का जितना गम्भीर चित्रण करूं यह रहस्य उतना ही जगमग और ज्योर्तिमय हो उठता है। घट-घट वासी श्रीकृष्ण की भांति ही तेरा यह महाकाव्य, महाभारत, प्रत्येक व्यक्ति की देह में उसके जीवन की जीवन्त कथा बनकर उभरने लगता है। ये कोरा अतीत का इतिहास मात्र ही नहीं रह जाता, प्राणवान मनुष्य मात्र का, प्रत्येक युग की नित्य कथा बनकर जगमगाने लगता है। श्रीमद्भागवत् गीता भाष्य में मैं पात्रों का व्यापक परिचय दूंगा।

हरि ॐ! नारायण हरि!

मथुराधीश श्रीकृष्ण!

मथुरा दुलहिन सी सजी हुई है। एक बहुत बड़े उत्सव की प्रतीक्षा की घड़ियां समाप्त होने को है। महाराज उग्रसेन, मथुरा साम्राज्य के भविष्य, वसुदेव नन्दन श्रीकृष्ण का राज्याभिषेक करेंगे। चिर प्रतीक्षित क्षण समीप हो रहे हैं। महाराज उग्रसेन अत्यधिक प्रसन्न हैं। उन्हें, श्रीकृष्ण को राजमुकुट पहनाने का परम हर्ष है। महाराज उग्रसेन मथुरा साम्राज्य को श्रीकृष्ण जैसा भावी सम्राट देकर स्वयं को धन्य मानते हैं। उन्हें इस बात से बहुत अधिक संतोष है कि उन्होंने मथुरा साम्राज्य को श्रीकृष्ण जैसा सम्राट देकर सिंहासन और मुकुट दोनों को धन्य किया है। इसके लिए वे मन ही मन महाराज वसुदेव के आभारी हैं। उन्हें इस बात की अत्यधिक प्रसन्नता है कि श्रीकृष्ण को राज सिंहासन सौंप कर वे सुख पूर्वक तथा धर्म पूर्वक वानःप्रस्थ धर्म का आचरण करेंगे।

युवराज श्रीकृष्ण, राजगुरू तथा अन्य विद्वान ब्राह्मण संत एवं मनीषीजनों के साथ सम्पूर्ण धार्मिक तथा पारम्परिक कृत्यों का निर्वाह कर रहें हैं। उनके द्वारा गोदान, स्वर्ण रत्नादिक का दान, सभी प्रकार के धन धान्य अन्नादिक तथा वस्त्र आदि निरन्तर बांटे जा रहे हैं। चारों ओर चहल-पहल है। सम्पूर्ण साम्राज्य में रागरंग उत्सव आदि मनाये जा रहे हैं। भरत-खण्ड तथा अन्य-सुदूर देशों से राजागण पधार चुके हैं। श्रीकृष्ण को एक कमी खटक रही है। मगध नरेश महाराज जरासंध तथा उनके अन्तरंग मित्र अन्य राजागण, भी नहीं आये हैं। उनके न आने की चिन्ता महाराज उग्रसेन को भी है। महाराज उग्रसेन अपने समधी, महाराज जरासंध, के प्रति सशंकित हो उठे हैं। उन्होंने सेना को पूरी तरह से युद्ध सन्नद्ध कर रखा है। उन्हें

भय है कि कहीं जरासंध अचानक आक्रमण न कर दे। जरासंध के न आने के कारण सभी के मन सशंकित हैं। जरासंध अपने सभी मित्र राजाओं के साथ अचानक मथुरा साम्राज्य पर आक्रमण कर सकता है। उत्सव में भी इस शंका से सभी सावधान हैं।

भगवान श्रीकृष्ण का यथा समय पर मथुराधीश के रूप में पूजन हुआ है। सभी गणमान्य राजाओं के बीच में महाराज उग्रसेन ने उन्हें मथुरा का शासन सौंप दिया है। भगवान श्रीकृष्ण मथुराधीश सुशोभित हुए हैं। चेदि नरेश, विधर्भराज, महाराज पाण्डु आदि सभी राजाओं ने श्रीकृष्ण को आशीर्वचन कहते हुए मंगल कामनायें प्रदान की हैं। सारे राज्य में धूम-धाम से उत्सव आदि मनाये जा रहे हैं। किसी ओर से भी किसी प्रकार के अमंगल की सूचना नहीं मिली है। इस बात से महाराज उग्रसेन अति प्रसन्न हैं।

गुप्तचरों ने महाराज उग्रसेन को 'अस्ति' और 'प्राप्ति' के मथुरा नगर की ओर आने की सूचना दी। गुप्तचरों ने बताया कि दिवंगत महाराज कंस की दोनों पत्नियां, बिना किसी प्रकार की अंगरक्षक टुकड़ियों को साथ लिए, गुप्त रूप से मथुरा नगर में प्रवेश कर रही हैं। महाराज उग्रसेन ने अनुचरों को आदेश दिया कि वे उन्हें उसी प्रकार आने दें। उनके किसी भी कार्य में बाधा तब तक न उत्पन्न करें जब तक ऐसा करने की मजबूरी न हो। सूचना श्रीकृष्ण को भी प्राप्त हुई है कि दोनों रानियां उनके व्यक्तिगत निवास की ओर चली गयी हैं। श्रीकृष्ण सभा भवन से उठकर अपने महल की ओर जाते हैं। वहाँ 'अस्ति' और 'प्राप्ति' जो कि पहले से विद्यमान हैं, उनको प्रणाम करते हैं। 'अस्ति' और 'प्राप्ति' श्रीकृष्ण को आशीर्वाद देती हैं। श्रीकृष्ण के उज्जवल एवं मंगलमय भविष्य की कामना करती हैं। उसके उपरान्त वे दोनों श्रीकृष्ण से भेंट अर्थात् उपहार की कामना करती है। श्रीकृष्ण उनसे अनुरोध करते हैं वे निःसंकोच अपनी इच्छा को प्रकट करें। विनीत होकर अस्ति श्रीकृष्ण से विनय पूर्वक कहती है, ''हे गोविन्द! आपने हमसे हमारा पति सुख छीन लिया तथा पुत्र सुख से भी हम सदा के लिए वंचित हो गयी हैं। हे गोविन्द! इसके लिए हम किंचित भी आप को दोष नहीं देती हैं। वे सब अपने पापों के कारण ही आपके द्वारा परम गति को प्राप्त हुए हैं। नारायण! हम असुर राज जरासंध की बेटियां हैं। असुर धर्मा हैं। आप भली भांति जानते हैं कि असुर धर्म में नारी की अत्यधिक, दीन और दयनीय स्थिति है। अपने पिता जरासंध के कारण ही हम असुरधर्म की प्रताड़ना, कुण्ठा तथा घुटन को प्राप्त नहीं हुई हैं। हे गोविन्द! हमारे पिता जरासंध ने मथुरा साम्राज्य को तहस-नहस करने का संकल्प ले रखा है। वे अवश्य आपसे युद्ध करने के लिए आवेंगे। नारायण! हम आपसे अपने पिता जरासंध के जीवन की भीख मांगती हैं। यदि पिता ही न रहे तो हमारा

जीवन अत्यधिक घुटन भरा दयनीय हो जायेगा।''

''मैं आपकी पीड़ा को भलीभांति समझता हूँ। मथुरा साम्राज्य ही आपका घर है। अब भी चाहे हमारे साथ सुख पूर्वक सम्मान पूर्वक रह सकती हैं। आप हमारे साथ साधिकार रहें। परन्तु! जरासंध को मैं अभय किस प्रकार प्रदान कर सकता हूँ? युद्ध में कौन मरेगा, कौन जियेगा? इसका निर्णय अभी कैसे सम्भव है? हां! मैं आपको वचन देता हूँ कि मैं अपने हाथों से महाराज जरासंध का वध नहीं करूँगा। जहाँ तक सम्भव हो सकेगा श्री बलराम को भी उनका वध करने से रोकूंगा।''

''हे गोविन्द! आपने हम पर अति कृपा करी। हम जैसी कामना को लेकर आयी थीं वे पूर्ण हुई हैं! हम अति संतुष्ट हैं। हमारे पिता महापराक्रमी जरासंध को आपके अतिरिक्त कोई भी योद्धा मार सकने में समर्थ नहीं हैं।''

ऐसा कहकर 'अस्ति' और 'प्राप्ति' भगवान श्रीकृष्ण की स्तुति एवं वन्दन करती हुई लौट गयी। श्रीकृष्ण ने अपने द्वारा दिये हुए वचन का सदैव निर्वाह किया।

जरासन्ध का शाब्दिक अर्थ है - **जरा + सन्ध**। जरा अर्थात जीर्ण, कमजोर तथा बुढ़ापे को भी जरा अवस्था कहते हैं। सन्ध कहते हैं सन्धियों अर्थात् शरीर के जोड़ों को। गठिया रोग को भी जरासन्ध कहते हैं। असुरराज जरासन्ध की कथा भी कुछ इस प्रकार ही है। उसकी दो मातायें थीं। उन्होंने ऋषि द्वारा दिये गये फल को आधा आधा बांट कर खा लिया। जिससे उनके आधे आधे बच्चे हुए। दोनों अधूरे बच्चों को जंगल में उनके पिता महाराज ने फिंकवा दिया। जरा नाम की एक राक्षसी ने उन दोनो टुकड़ों को कुतुहलवश उठाकर जोड़ने की कोशिश की तो बालक जी उठा और बड़े जोर से रोने लगा। राक्षसी डरकर भाग गयी। इस प्रकार बालक का नाम जरासन्ध पड़ा। असुरराज जरासन्ध भीम द्वारा अपनी सन्धियों के चीरने पर ही मारा गया था। इतिहास में यह अति क्रूरकर्मा, अतिबलशाली असुर सम्राट हुआ है। इसकी जन्म रहस्यमय कथा की चर्चा लगभग सभी पौराणिक ग्रन्थों में मिलती है।

हरि ॐ! गोविन्द हरि!

वानप्रस्थ धर्म!

श्रीकृष्ण को मथुराधीश के रूप में पाकर मथुरा की नगरी धन्य हो गयी। श्रीकृष्ण के मथुराधीश सुशोभित होने के उत्सव अभी शान्त ही हुए थे कि महाराज उग्रसेन ने वानप्रस्थ धर्म को प्राप्त होने की घोषणा कर दी। कल का सम्राट निकट भविष्य में एक अकिंचन सेवक के रूप में प्राणीमात्र की सेवाओं को समर्पित होगा। मथुरा में जिसने भी सुना स्तब्ध रह गया।

जिस युग की कहानी है उस युग का मनुष्य, अपने जीवन के मूल्यों को अच्छी तरह से समझता और पहचानता था। उस युग की मान्यताओं के अनुरूप मनुष्य का जीवन एक पाठशाला के समान था। बचपन का अज्ञान कलयुग का अंधेरा था। गुरूकुल का ज्ञान उसके जीवन में प्रकाश लाता, गृहस्थ का कर्मयोग उसे ईश्वर की भांति जीने की प्रेरणा देता। वानप्रस्थ धर्म को प्राप्त हो, वह प्राणी मात्र की समर्पित सेवाओं का अकिंचन ईश्वर हो जाता। सम्पूर्ण राज-पाट वैभव, ऐश्वर्य और जीवन का परित्याग करता, भीतर, बाहर, एक ब्रह्म की भावना सजाता, मृत्यु से पहले मृत्युंजय होने चल देता। उस युग में प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन को उचित अवस्था के अनुरूप ही ग्रहण करता था। चाहे वह व्यवसायी हो, क्षत्रिय योद्धा हो, वैद्य हो अथवा कोई भी हो, उसके जीवन की प्रौढ़ावस्था, वानप्रस्थ धर्म में आकर मुखरित एवं जगमग हो उठती थी।

गुरूकुल में ज्ञान पाया। ज्ञान को जाना मात्र है। गृहस्थ हुआ, गुरूकुल का ज्ञान व्यवहारिक रूप में परखने लगा। गृहस्थ में जब जीवन का अमृत और तत्व पा लिया तो उसने उस अमृतमयी तत्व से अद्वैत कर सब में एक ब्रह्म देखता, भेदभाव एवं

मेरा और तेरा की भावना से ऊपर उठता, आत्मा की भांति ही समर्पित सेवाओं का अभेद ईश्वर हो गया। महाराज उग्रसेन वानप्रस्थ धर्म को धारण करने की तैयारी में हैं।

सभी राज-राजेश्वरों को सूचनायें भेजी जा रही हैं। महाराज उग्रसेन ज्योर्तिमय राह जाने हेतु सबको आमंत्रित कर रहे हैं। हर ओर आमंत्रण भेजे गये हैं। निमंत्रण महाराज जरासंध के पास भी आया है। जरासंध ने सुना तो चिहुँक उठा। प्रतिशोध और प्रतिहिंसा से उसका तन मन जलने लगा। दूत को विदा करने के उपरान्त, महाराज जरासंध, बदले की भावना से प्रेरित होकर मथुरा पर आक्रमण की योजना बनाने लगा। अचानक आक्रमण करने के लिए उन्होंने अपने सहयोगियों को बुलाया। सहयोगियों के समझाने-बुझाने पर महाराज जरासंध शान्त हो गये। उनके इष्ट मित्रों ने उन्हें समझाया। उनका युद्ध महाराज उग्रसेन से नहीं हैं उन्हें तो कृष्ण से बदला लेना है। इसलिए महाराज उग्रसेन द्वारा वानप्रस्थ धारण करने के क्षणों में, उन्हें कदापि मथुरा पर आक्रमण नहीं करना चाहिए। महाराज उग्रसेन के वानप्रस्थ धर्म को प्राप्त हो जाने के उपरान्त ही जरासंध को मथुरा पर आक्रमण कर उसे ध्वस्त कर देना चाहिए।

जरासंध का संकल्प भी यही था। जिस देश में उसकी बेटियां विधवा हुई हैं, वह उस सम्पूर्ण साम्राज्य को तहस-नहस करके रख देगा। ''अस्ति'' और ''प्राप्ति'' जहां सुख पूर्वक नहीं जी पायीं हैं, जरासंध वहां किसी को जीने नहीं देगा। जरासंध का संकल्प श्रीकृष्ण के साम्राज्य को ध्वस्त करना था, न कि केवल उग्रसेन से उसका कोई प्रतिशोध था। मंत्रियों और सहयोगियों के समझाये जाने के उपरान्त जरासंध शान्त हो गया। उसने निर्णय लिया कि वह वानप्रस्थ हेतु हो रहे यज्ञ उत्सव में भाग ही नहीं लेगा।

चहुं ओर राजाओं तथा ऋषि और मनीषी जन को बुलाने के लिए मंत्री तथा राज परिवार के लोग एवं दूत आदि भेजे जा रहे हैं। महामुनि वेदव्यास के लिए भगवान श्रीकृष्ण स्वयं चल दिये हैं। गोविन्द जानते हैं कि वेदव्यास जैसे तपस्वी के लिए उन्हें स्वयं ही जाना चाहिए। वेदव्यास के पावन आश्रम पर पहुँचकर श्रीकृष्ण ने उन्हें प्रणाम किया। श्रीकृष्ण को देखकर वेदव्यास गद्‌गद् हो उठे। आनन्दातिरेक, भाव-विभोर वेदव्यास ने गोविन्द को आसन पर बिठाकर उनकी आरती उतारी है। वेदव्यास के सुख की सीमा नहीं है। श्रीकृष्ण ने वेदव्यास को महाराज उग्रसेन द्वारा वानप्रस्थव्रती होने हेतु किये जा रहे राजसूर्य यज्ञ में चलने की प्रार्थना की है। वेदव्यास ने सहर्ष उसे स्वीकार कर लिया है। इन दिनों भगवान वेदव्यास वेदों के संकलन में व्यस्त हैं। उन्होंने श्रीकृष्ण से प्रार्थना की कि गोविन्द वेद आदि के

संकलन में उनका सहयोग करें। वासुदेव ने उनकी आज्ञा को शिरोधार्य किया है। वेदव्यास को लेकर भगवान श्रीकृष्ण मथुरा में पधारते हैं। महाराज उग्रसेन द्वारा विनयपूर्वक याचना करने पर वेदव्यास यज्ञ के आचार्य पद को ग्रहण करते हैं।

यमुना के किनारे राजसी वस्त्रों से सुसज्जित एवं अलंकृत महाराज उग्रसेन यज्ञ स्थल पर प्रवेश करते हैं। दूर-दूर से आये विद्वान ब्राह्मणजन मन्त्रोंच्चार द्वारा महाराज का स्वागत करते हैं। महाराज के पीछे वस्त्राभूषण तथा धनधान्य और गौवों को लेकर अनुचर तथा राज परिवार के लोग चले आ रहे हैं। महाराज गौवों तथा अन्न, वस्त्र और आभूषणों का दान ब्राह्मणों को करते हैं। अपनी देह पर धारण किये हुए सम्पूर्ण रत्न आभूषणों का भी एक-एक कर परित्याग करते हुए दान करते हैं। श्वेत वस्त्र को धारण कर, अपने शरीर पर रखे हुए सम्पूर्ण वस्त्र तथा आभूषणों का परित्याग कर, महाराज पुनः यमुना नदी में स्नान करके यज्ञ मण्डप में प्रवेश पाते हैं। वेदव्यास उन्हें विधिवत वानप्रस्थ धर्म में दीक्षित करते हैं। महाराज उग्रसेन यज्ञ आदि सम्पूर्ण धार्मिक कृत्यों का समापन करते हुए वानप्रस्थी हो जाते हैं। कल का सम्राट आज जन-जन का अकिंचन सेवक है उसे आत्मा की भांति ही जीव मात्र की समर्पित सेवाओं को शिरोधार्य करना है। जिस प्रकार परमेश्वर घट-घट वासी आत्मा के रूप में सम्पूर्ण सचराचर को जीवन्त कर रहा है, उसी प्रकार वानप्रस्थी को, ईश्वर द्वारा निरन्तर प्रकट हो रहे सचराचर रूपी बाग में, माली बनकर सबकी सेवा करना है। ईश्वर सबको सांस और धड़कन देते हुए, सबको जीवन का अमूल्य क्षण प्रदान करता हुआ, किसी भी प्रत्युत्तर की अथवा प्रतिफल की कामना नहीं करता है। उसी प्रकार वानप्रस्थी को बिना किसी फल की कामना के, जीव मात्र की निष्काम आत्मसमर्पित सेवाओं को शिरोधार्य करना है। बदले की में भावना से अथवा सकाम भाव से किसी भी कार्य को नहीं करना है। राजा और रंक में, एक नारायण हैं! इसी भाव को लेकर प्रत्येक क्षण समर्पित सेवाओं में ही जीवन के क्षणों को व्यतीत करना है तथा निरन्तर आत्मस्थ होते हुए, आत्मा के साथ अद्वैत करते हुए; योग अग्नियों में स्वयं को समर्पित करना है। यही वानप्रस्थ धर्म है।

राजसूय यज्ञ का अर्थ भी स्पष्ट कर दूं। ''राज'' शब्द का अर्थ होता है ज्योति तथा ''सूय'' शब्द का अर्थ होता है उत्पन्न करना। इस प्रकार राजसूय यज्ञ का अर्थ हुआ ज्योतियों को उत्पन्न करने वाला यज्ञ। जब भी कोई राजा राज-धर्म से तथा ग्रहस्थ धर्म से उपराम होता था, वह राजसूय यज्ञ करता, वानप्रस्थ धर्म को प्राप्त होता था। ज्योतियों को उत्पन्न करने वाला यज्ञ ही राजसूय यज्ञ कहलाता है।

कालान्तर में, दासता के लम्बे अंतरालों में, लुप्त हो गयी भारत-भारती को जब तथाकथित आधुनिक विद्वानों ने उभारना चाहा तो विदेशियों की देखा-देखी, राजसूय

यज्ञ का अर्थ दूसरे राजाओं को पराजित कर, उन्हें अपमानित करना तथा अपने मिथ्याभिमान के सिक्के जमाना, भ्रांतिवश उत्पन्न कर दिया। भारत की आदि संस्कृति में किसी को गुलाम बनाना, मानवता के मुंह पर तमाचा मारने के समान है तथा ईश्वर के नाम पर दी गयी एक गन्दी-भद्दी गाली है। भारत की संस्कृति में आदिकाल में इस प्रकार की वृत्तियां केवल असुर राजाओं तक सीमित थीं। सुर राजा किसी को गुलाम बनाने में विश्वास नहीं करते थे। सुर और असुर के भेद को मैं अपनी इस कथा में पहले भी स्पष्ट कर चुका हूँ। गुलामी के दिनों में विदेशियों से प्रभावित, भारतीय विद्वानों ने भी, इस प्रकार के कलंकित आचरण को सुर राजाओं के साथ थोपना आरम्भ कर दिया। यह नितान्त भ्रान्तिपूर्ण एवं असत्य है। गुलामी के दिनों में सम्भवतः सोये हुए हिन्दुत्व को जगाने के लिए, गुलामी की जंजीरों को तोड़ने के लिए या बहुसंख्यकों को जगाने के लिए, शब्दों में भ्रमित अर्थ बनाये गये तथा इस प्रकार कथायें गढ़ी गई। भगवान श्री रामचन्द्र ने भी लंका को जीतने के उपरान्त उसे गुलाम नहीं बनाया। वहां की जनता को दास बनाकर अयोध्या में नहीं लाये। उन्हें स्वतंत्र और सुखद सम्मानपूर्ण जीवन प्रदान कर, स्वतंत्र राष्ट्र घोषित करके, श्री रामचन्द्र लौट आये थे। इसी परिपाटी को भारत की सेनाओं ने वर्तमान युग में भी बांगला देश में निर्वाह किया है। भारतीय सेनाएं अपनी उच्च महानता के साथ, बांगला देश को स्वतंत्र राष्ट्र घोषित कर, उसी प्रकार लौट आयी, जैसे श्री रामचन्द्र ने लंका में किया था। शब्दों के अर्थ अनर्थ सम्भवतः अज्ञानवश हुए हों। इसकी पूरी सम्भावना है गुलामी की घुटन को तोड़ने के लिए जनमानस में जोश और शौर्य को उत्पन्न करने के लिए विनम्र कथाओं का, भ्रमात्मक नाटकीय रूपान्तरण किया गया हो। जैसे कि रामायण में भी लवकुश प्रकरण में तथा श्री रामकथा में व्याप्त उप कथाओं में, तथा क्षेपक कथाओं में आया है। आप इसे विस्तार सरयु-के-तट नामक शोध उपन्यास में पायेंगे।

हरि ॐ! नारायण हरि!

47

आक्रमण!

वेदव्यास! तुम्हारे संग जीने का आनन्द ही कुछ और है! कल्पनाओं के जगत में, हर क्षण तुम्हारे समीप होते क्षण, अतीत की उन स्मृतियों को अनुभूतियों के संग जीने का आनन्द! मुझे निरन्तर अन्तर्मुखी किये जाता है। वह क्षण इतिहास में भले अतीत कहलायें! परन्तु मेरे जीवन का प्रत्येक सजा-धजा सुस्पष्ट तथा ज्योतिर्मय वर्तमान क्षण हैं वे! मेरा अतीत, वर्तमान और भविष्य वे क्षण ही हैं! जिन्हें कल्पनाओं के लोक में मैं जी लेता हूँ, संग तुम्हारे।

आश्रम के शान्त और पवित्र वातावरण में झिलमिलाती हुई सूरज की किरणें फैलती चली जा रही हैं। वातावरण की हल्की, मोहक, ठन्डी हवा, तन को छू रही है। मन का पंछी फिर उन्हीं अन्तरालों में तुम्हें संग लिए, उड़ना चाहता है। कल्पनाओं की अमराइयों में बौर कुछ-कुछ पकने लगे हैं। एक बार फिर मैं तुम्हीं को खोजता अतीत की कल्पनाओं की ओर, गहन अन्तरालों में उड़ता चला जा रहा हूँ।

श्रीकृष्ण को पाकर मथुरा धन्य है। निर्धूम दहकते हुए अंगारों की चमक सा ज्योतिर्मय स्वरूप ही मथुरा नरेश है। जग-मग ज्योतिर्मय, मुस्कराती हुई नयनाभिराम छवि! वह मथुरा सम्राट ही नहीं, जन-जन का परमेश्वर है। श्रीबलराम जी राज्य के सभी कार्यों का स्वयं निरीक्षण करते हुए, मथुराधीश का सहयोग करते हैं। श्रीकृष्ण उनकी अन्तरात्मा हैं। जो कृष्ण के बिना वे रह भी तो नहीं सकते हैं। जब से श्रीकृष्ण-मथुराधीश सुशोभित हुए हैं, तभी से मथुरा साम्राज्य; संत, मनीषी, तापस योगीजन तथा सन्यासियों का गढ़ बन गया है। ज्ञान, विज्ञान, शिल्प, ज्योतिष, नाट्यकला, संगीत आदि सभी प्रकार के ज्ञान-विज्ञान की धाराओं को, जैसे एक विशाल घर मिल गया है। मथुरा, किसी राजा की नगरी से कहीं अधिक; अध्यात्म, कला, ज्ञान, एवं विज्ञान का अथाह सांस्कृतिक केन्द्र बन गयी है। स्वयं सम्राट,

तपस्वी एवं मनीषी जनों की सेवा में प्रस्तुत रहते हैं। श्रीकृष्ण जन मानस के अभिन्न मित्र और सखा हैं। उनका सखवाद सभी के अन्तर्मन को छू जाता है। राजा और प्रजा में भय का सम्बन्ध समाप्त हो चुका है। सम्राट तो उनके सखा हैं। मित्र हैं, उनके अन्तर हृदय के देवता हैं। जन-जन का असीम प्यार उनके लिए उमड़ता रहता है। उस युग वे पहले सम्राट हैं, जो साम्राज्यवादी न होकर, ईश्वर की भांति ही, साम्यवादी हैं। वेदत्रयी में सामवेद का साक्षात् स्वरूप ईश्वर ही मथुराधीश हैं। श्रीकृष्ण जीवन्त सामवेद हैं। साम कला की दृष्टि से तथा साम्य भाव से भी, वे वेद के जीवन्त प्रतिमूर्ति हैं। वे नटवर नागर भी हैं तथा जन-जन के अन्तरंग सखा भी हैं। उनके पास जाने से किसी को भी भय नहीं होता है। उद्धव जी उनके अन्तरंग मित्र, सखा एवं सहयोगी हैं। वेदव्यास! मथुरा को अपनी पावन पूजा स्थली के रूप में सम्मान देते हैं। यूं तो श्रीकृष्ण भौतिक रिश्तों से उनके पौत्र के समान हैं; परन्तु वेदव्यास जैसे अद्भुत तपस्वी, योगी, मंत्रदृष्टा ऋषि, त्रिकालज्ञ के वे इष्ट हैं, आराध्य हैं, सब कुछ हैं।

श्रीकृष्ण ने मथुरा साम्राज्य की बागडोर हाथ में लेते ही स्पष्ट कर दिया है कि जिन उद्देश्यों से प्रेरित होकर उन्होंने शस्त्र धारण किये, उन्हीं उद्देश्यों को लेकर मथुराधीश का साम्राज्य भी चलेगा। कृष्ण ने कहा था,

''हम शस्त्र धारण करते हैं; असहाय, दीन, और सताये हुए लोगों की रक्षा के लिए। हम शस्त्र धारण करते हैं, सचराचर रूपी बगिया की रक्षा के लिए। हम शस्त्र धारण करते हैं असुरत्व को तथा दूसरों को सताने की वृत्तियों को मिटाने के लिए। हमारे शस्त्र कभी भी सत्ता के मिथ्याभिमान के लिए प्रयुक्त नहीं होंगे। सीमाओं के विस्तार के लिए तथा धरती को पाने के लिए, हम कभी शस्त्र धारण नहीं करेंगे।''

बचपन के संकल्प को श्रीकृष्ण ने मथुराधीश होकर भी निभाया है। राजा और प्रजा के सम्बन्ध के विषय में भी कृष्ण ने कहा था,

''जिस प्रकार ईश्वर आत्मा होकर जीव-मात्र का अन्तरंग मित्र और सखा है। आत्म स्वरूप होकर परमेश्वर जीव मात्र का रक्षक, पोषक और भर्तार है। वही स्थान राजा का प्रजा में है। हम सब एक ही आत्मा से प्रगट होते हैं। राजा और प्रजा का भेद मात्र एक सामाजिक नाटकीय औपचारिकता है। आत्म स्वरूप होकर हम सब एक हैं, समान हैं, सखा हैं।''

सहृदय, सरस, सरल एवं प्राणी मात्र के सखा श्रीकृष्ण, राजनीति एवं नीति ज्ञान में अपना साक्षी नहीं रखते हैं। वे नीति पुरूषोत्तम हैं। मित्र के लिए जितने सरल हैं, शत्रु के लिए वे उतने ही असम्भव हैं। जरासंध मथुरा पर अवश्य आक्रमण करेगा,

यह बात मथुराधीश, भगवान श्रीकृष्ण जानते हैं, उनसे छिपा नहीं है। सावधानी पूर्वक, गुप्तरूप से जरासंध के प्रत्येक क्षण के कार्यकलाप श्रीकृष्ण तक निरन्तर पहुँचते रहते हैं। इसी बीच उन्हें पता चलता है कि जरासंध ने अपने सभी असुर राजाओं से मिलकर एक विशाल सैन्यवाहिनी का संगठन किया है तथा जरासंध मथुरा पर आक्रमण करने की तैयारी कर रहा है। श्रीकृष्ण जानते हैं कि इस युद्ध को यदि मथुरा के समीप लड़ा गया तो उससे मथुरावासियों को अत्यधिक कष्ट उठाना पड़ेगा। श्रीबलराम तथा अन्य मित्र राजा और सहयोगियों के साथ, मथुरा साम्राज्य की सीमा पर ही, जरासंध के आक्रमण को ध्वस्त करने की तैयारी में संलग्न हो जाते हैं। गुप्तचरों को भ्रम में रखने के लिए श्रीकृष्ण, नाना प्रकार के मायाजाल भी रचते हैं। गुप्तचर श्रीकृष्ण को असावधान समझकर, जरासंध को मथुरा पर आक्रमण करने की सलाह देते हैं। जरासंध मथुरा पर आक्रमण करने चल देता है। मथुरा पहुँचने से पहले ही, असावधानी के क्षणों में जरासंध स्वयं को श्रीकृष्ण की सेनाओं में घिरा पाता है। उसी अवस्था में जरासंध को श्रीकृष्ण एवं बलराम से युद्ध लड़ना पड़ता है। युद्ध में जरासंध पराजित होता है। श्रीबलराम अन्य सेनापतियों की भांति ही, जरासंध को, यमलोक पहुँचा देना चाहते हैं। परन्तु श्रीकृष्ण बलपूर्वक एवं हठपूर्वक श्रीबलराम को ऐसा नहीं करने देते हैं। जरासंध बन्दी बना लिया जाता है। श्रीकृष्ण जरासंध को सम्मानपूर्वक बन्धन मुक्त करते हुए उन्हें विदा कर देते हैं। श्रीकृष्ण महाराज जरासंध को किसी प्रकार भी अपमानित नहीं करना चाहते हैं। श्रीबलराम श्रीकृष्ण के इस व्यवहार को नहीं समझ पाते हैं। तब श्रीकृष्ण उन्हें अपने द्वारा अपनी मामियों ''अस्ति'' और ''प्राप्ति'' को दिये गये संकल्प की कहानी सुनाते हैं।

दुःखी, आहत, एवं अपमानित जरासंध मगध लौट जाता है। जरासंध पुनः आक्रमण की तैयारी आरम्भ कर देता है। श्रीकृष्ण जानते हैं कि असुरराज जरासंध मथुरा पर अवश्य दुवारा आक्रमण करेगा। इसलिए वे भी सेनाओं के संगठन में उलझ जाते हैं। इस प्रकार जरासंध कृष्ण पर 17 बार आक्रमण करता है। प्रत्येक आक्रमण में जरासंध की सेनाएं बुरी तरह से ध्वस्त होती हैं तथा जरासंध पराजित होकर बन्दी बनाया जाता है। प्रत्येक बार श्रीकृष्ण, बन्दी जरासंध को सम्मानपूर्वक छोड़ देते हैं। श्रीबलराम प्रत्येक बार कृष्ण के इस व्यवहार का विरोध करते हैं। परन्तु श्रीकृष्ण मानते नहीं। श्रीकृष्ण अपने द्वारा दिये गये वचन की मर्यादाओं को किसी भी प्रकार से खण्डित करने को तैयार नहीं हैं। इन भीषण युद्धों के कारण मथुरा साम्राज्य को भी काफी कष्ट झेलना पड़ता है।

हरि ॐ! नारायण हरि!

48

उद्धव और गोपियाँ!

उद्धव, मथुराधीश भगवान श्रीकृष्ण के अन्तरंग सखा एवं सलाहकार हैं। अति विद्वान, तपस्वी एवं मननशील हैं। मथुराधीश उन्हें अति सम्मान देते हैं। श्रीबलराम भी राज्य के कार्यभार में हाथ बांटते हैं मथुराधीश फिर भी उदास हैं। एकान्त के क्षणों में उनके नेत्र छलछला उठते हैं। यह बात उद्धव जी से छिपी नहीं रहती है। विवाह आदि में उनकी कोई रूचि नहीं है। ब्रह्मचर्य व्रती होकर जीने की उनकी इच्छा है। बहुत बार अधीनस्थ राजाओं एवं मित्रों ने उन्हें समझाने की कोशिश की, परन्तु वासुदेव कुछ सुनना नहीं चाहते हैं। हमेशा बात टाल जाते हैं। मथुराधीश होकर भी एक योगी. तपस्वी सा जीवन है उनका। शिकार आदि में उनकी रुचि कतई नहीं है। उनके जितने भी अन्तरंग मित्र हैं सभी उच्चकोटि के विद्वान एवं तपस्वी हैं। सलाहकारों में भी बाहुल्य उनका ही है। ब्रह्मज्ञानी, ऋषि, साधु निरन्तर मथुरा आते रहते हैं। अधिक समय वासुदेव का उन्हीं की सेवा में बीतता है। एकान्त के क्षणों में खोयी आंखों में अनायास ही आंसुओं की लड़ियाँ प्रकट हो जाती हैं। जो उद्धव को तथा अन्य मित्रों को व्यथित कर देती हैं। उसका कारण जानने के भी उन्होंने बहुत प्रयास किये। परन्तु निरस्त करने वाली एक उदास फीकी मुस्कान वासुदेव की उन्हें मौन कर देती है। मथुरा का सुख, वैभव, आनन्द वासुदेव को छू भी नहीं पाता है। दिन में मस्त रहते हैं परन्तु सुवह शाम न जाने क्यों उदास हो जाती हैं। रहस्य किसी को बताते नहीं है। अत्यन्त संकोची हैं। एक बार एकान्त पाकर उद्धव जिद ठानकर उनके सामने बैठ जाते हैं।

''वासुदेव! मुझे बताओ तुम्हारी उदासी के कारण क्या हैं? मैंने तुम्हारी आंखों में

बहुत बार आंसुओं की झड़ियाँ देखी हैं कृष्ण! आज तुम्हें बताना ही होगा।''

''उद्धव! मैं क्या करूँ! बृज मुझे बिसरता नहीं है। वे पवित्र गोप-गोपियां! वह उन्मुक्त वातावरण! निश्छल पवित्र प्रेम! करील की कुंजों को लिपटती झूमती, अल्हड़ शोर करती, खनकती, हवाओं के झोंके! ढलती सांझ के साथ लौटती गायों के खुरों की संगीतमयी झंकृत आवाज! उनके गले की घंटियों की गुन-गुन! उनमें अलौकिक रस घोलता पक्षियों का कलरव! कान्हा! कान्हा!! पुकारते गोप और गोपियों के समूह! विषय वासना और छल-कपट से सर्वथा अनभिज्ञ, उन्मुक्त, निश्छल, पवित्र चेहरे! उद्धव!! वे फिर मेरे सामने खड़े हो जाते हैं। मुझे देखकर हँसते हैं और दूसरे ही क्षण उदास हो जाते हैं। उनके नेत्रों से आंसुओं की धारें बहने लगती हैं। मेरे कानों में अनायास उनकी फुसफुसाती आवाजें आने लगती हैं। कन्हैया! तू शीघ्र आने का वायदा करके गया था। अब हमें भूल गया है। हम तेरी ही प्रतीक्षा में जीवित हैं। तू न कह दे। हम तत्क्षण शरीर त्याग दें। तेरे बिना हम जी नहीं पा रहे हैं गोपाल!

प्रभु का गला अवरुद्ध हो गया है। नेत्रों से जल की धारायें चेहरे को धोकर वस्त्रों से लुढ़कती चरण धोने लगी हैं। उद्धव स्तब्ध हैं। अनजाने में झरोखा खोल बैठे। उन्हें क्या पता था कि तूफान इतना भयंकर है।

''उद्धव बृज मोहे विसरत नाहीं।''

''उद्धव! जब श्री राधा जी, गांव में नव वधू बनकर आयी थीं तब मैं तीन वर्ष का था। श्री राधा ने मुझे असीम प्यार दिया है। मैं उनकी गोद में खेला हूँ। उनके साथ मेरे अतीत के सुखद क्षण पिरोये हुए हैं। मेरे विरह में उनका जीवन असह्य बोझ बन गया है। उस महान पवित्र तपस्विनी को मैं एक क्षण भी तो नहीं भुला पाता हूँ। निष्पाप नन्दबाबा और पवित्र यशोदा माँ के श्री चरणों में मेरा मन निरन्तर भटकता रहता है। वहाँ की माखन मिसरी का आनन्द मुझे मथुरा के पकवानों में नहीं मिलता है। वैसा निश्छल स्नेह और आत्मीय भाव मुझे यहां नहीं मिलता है।''

''वासुदेव! आप कैसी बातें कर रहे हैं। जीवन के अमूल्य क्षणों को कोरी सांसारिकता में नष्ट करना, आपके जैसे विद्वान परम ज्ञानी परम तपस्वी को शोभा नहीं देता है।''

''कैसे कहा उद्धव?'' प्रभु ने आश्चर्य से पूछा।

''मथुराधीश! आप वेद-वेदान्तों के परम ज्ञानी हैं। महर्षि सान्दीपनि के सभी शिष्यों में आप सिरमौर हैं। अतीत की स्मृति में; फूहड़-गंवार गोपियों की खातिर दुःखी होना! उनके लिये विचलित रहना! जीवन के अमूल्य, अमृतमय क्षणों को दुःख एवं पीड़ा में नष्ट करना, परम ब्रह्म की भक्ति को त्याग कर, भौतिक सुखों

की स्मृति में समय नष्ट करना, आपको कदापि शोभा नहीं देता।" उद्धव ने समझाते हुए कहा।

"उद्धव! तुम्हारा कथन उचित लग रहा है कुछ और कहो।"

"श्रीकृष्ण यह संसार क्षणभंगुर है, स्वप्न की नांई है। इसमें जो भी सत्य है सो निराकार अविनाशी ब्रह्म है। सम्पूर्ण गतियों को देने वाला होकर भी प्रत्येक गति में स्थिर है। सचराचर को धारण, सृजन, संहार और पुनः प्रकट करने वाला है। निराकार परम ब्रह्म ही मात्र शक्ति है। सम्पूर्ण लोक, कालादिक उसके ही आधीन हैं। आत्मा होकर परम ब्रह्म ही घट-घट वासी होकर; जड़त्व को चेतना और जीवन प्रदान करने वाला है। परम ब्रह्म ही अभीष्ट सिद्धियों को देने वाला है। परम् ब्रह्म ही जीवन का सार है। जीव मात्र का लक्ष्य भी वही है परम् ब्रह्म की तपस्या, साधना और भक्ति मनुष्य मात्र का इकलौता लक्ष्य है। ऐसे परम् लक्ष्य को त्याग कर, गंवार गोपियों की भक्ति करना, उनके ही ध्यान में लीन रहना कहां तक उचित है।" उद्धव ने कहा।

"उद्धव! तुम्हारी बातें समझ में तो आती हैं परन्तु मनःस्थिति को बदल नहीं पा रही हैं। उद्धव मुझे गोपियों ने विवश कर रखा है। यदि वे मेरा ध्यान करना छोड़ दें; तभी मैं स्वस्थ होकर तुम्हारे मार्ग का अनुसरण कर सकता हूँ। मुझे लगता ही नहीं वरन् पूर्ण विश्वास है कि जो तुम कह रहे हो वही सत्य है। परन्तु मैं क्या करूं? जब गोपियां मेरे ध्यान में रोती हैं तो मेरे आंसू अनायास निकल पड़ते हैं। उनकी की भक्ति भावनायें मुझे मजबूर कर देती हैं।" प्रभु ने बड़े ही भोलपन से अपनी विवशता उद्धव के सामने सकुचाते हुए रखी।

"वासुदेव! इस समस्या का समाधान तो करना ही होगा। जीवन के अमूल्य क्षणों को इस प्रकार नष्ट नहीं किया जा सकता।"

"उद्धव! इसका समाधान तुम्हीं कर सकते हो। तुम विद्वान हो, ज्ञानी हो, तपस्वी हो! परम् ब्रह्म के मर्म को जानने वाले हो। तुम जाकर गोपियों को परम् ब्रह्म की साधना का उपदेश करो। जब वे मेरा ध्यान त्याग कर परम् ब्रह्म की भक्ति में लग जावेंगी तो मैं भी स्वस्थ होकर तुम्हारे बताये मार्ग का अनुसरण करूंगा।"

"ऐसा ही होगा वासुदेव मैं आज ही प्रस्थान करूँगा।" उद्धव ने कहा।

"उद्धव मेरी एक प्रार्थना का विशेष ध्यान रखना! मैं उन गोपियों की गोद में खेला हूँ। नन्द और यशोदा मेरे माता-पिता ही हैं। श्री राधा जी को मैंने सदा प्रणाम किया है। गोपियों की गोद में सोया हूँ। उनके चरणों में लोटा हूँ। कहीं ऐसा कुछ न कह देना कि उनको कष्ट हो। मित्र! नन्द यशोमति को प्रणाम करना, श्री राधा जी को जयकार देना! मैं उन सबका ऋणी हूँ! माखन मिश्री का कर्ज उतार नहीं

पाया हूँ।'' प्रभु उद्धव को नाना प्रकार समझाते हैं।

''ऐसा ही होगा वासुदेव।''

''उद्धव! वे गोपियां बहुत संकोची हैं। पराये पुरुष से बात नहीं करती हैं। वे तुमसे भी बात नहीं करेंगी। मेरा पीताम्बर ले जाओ। उसे अपने कंधे पर रखे रहना। तभी वे तुमसे बात करेंगी।''

''ऐसा ही करूँगा वासुदेव! तुम्हारा ऋण भी उतार दूंगा।''

उद्धव नाना वस्त्राभूषण रथ में रख कर बृज की ओर चल देते हैं। मथुराधीश उन्हें विदाई देते हैं। मथुराधीश के मना करने पर भी उद्धव ने रत्न और कीमती वस्त्र रथ में रख लिए हैं। माखन-मिश्री का कर्ज जो उतारना है उनको! निष्पाप निर्मल उद्धव जी बृज की ओर जा रहे हैं।

नन्द के द्वार एक स्वर्णरथ खड़ा हुआ है। बृज में उद्धव आये हैं। कान्हा के परम् मित्र हैं। उनके कन्धे पर कन्हैया का पीताम्बर भी है। नन्द के द्वार पर भीड़ उमड़ पड़ी है। गोप और गोपियों के समूह नन्द के द्वार घेर कर खड़े हैं। उद्धव जी, नन्द और यशोदाजी के साथ बाहर निकल आये हैं। सबका अभिवादन करते हैं। तभी उनकी दृष्टि कृशकाय परम तेजस्विनी देवी पर पड़ती है। सूर्य जैसा दमकता हुआ तेजस्वी स्वरूप जिसे देखते ही उसके चरणों में बिछ जाने को मन करता है। उद्धव देखते ही जान गये हैं कि वे श्री राधा जी ही हैं। उद्धव अनजाने ही उनके चरणों में बिछ जाते हैं।

वे सब उद्धव जी से श्री भगवान का कुशल क्षेम पूछती हैं। उद्धव उन्हें सब कुछ बताते हैं। मथुराधीश की मनः स्थिति का परिचय देते हैं उनकी कृष्ण भक्ति का परित्याग कर परमूब्रह्म की उपासना का उपदेश करते हैं। तो श्री राधा जी उनसे पूछती हैं,

''उद्धव! परम् ब्रह्म रहते कहां हैं?''

''परम् ब्रह्म घटघट वासी हैं। सभी में रहते हैं।''

''उद्धव! क्या परम् ब्रह्म मथुराधीश की देह में भी रहते हैं?''

''हाँ! वह मुझमें भी हैं! तुममें भी हैं! सबमें हैं।'' उद्धव जी समझाते हुए स्पष्ट करते हैं।

''क्या! वह हम फूहड़ गंवार गोपियों में भी रहते हैं?''

''हाँ! परम् ब्रह्म सभी में विराजते हैं।'' उद्धव ने उत्तर देते हैं।

''उद्धव जी! तुमको परम् ब्रह्म की ही सौगन्ध! सच बताओ - तुमने किसी में परम् ब्रह्म को देखा है? हम में फूहड़ गंवार गोपियां ही तो देखीं। श्रीकृष्ण में मथुराधीश ही तो देखा! तुमने परम् ब्रह्म को किसमें देखा? हम मथुराधीश में परम्

ब्रह्म की उपासना करती हैं, हमने वासुदेव को सबमें देखा है। सब कहीं देखा है। रे उद्धव! यदि हम मथुराधीश की उपासक होती और हमारा प्यार भौतिक मिथ्यावाद होता, तो तुम्हीं बताओ मथुरा से बृन्दावन पांच मील (दो कोस) ही तो है; क्या हम उनसे मिलने न जातीं? प्रतिदिन गोपियां मथुरा में दही और मक्खन बेचने जाती हैं। परन्तु मथुराधीश से मिलने नहीं जाती। क्यों? उन्हें घर लौटने की जल्दी है! कन्हैया राह देखता होगा! उद्धव! क्या यह परम् ब्रह्म की उपासना नहीं है? उद्धव! तुझे परम् ब्रह्म की सौगन्ध! बता हमको! परम् ब्रह्म की कभी तूने भावना करके आचरण और व्यवहार भी किया है? किसमें देखा परम् ब्रह्म तूने?''

निष्पाप उद्धव स्तब्ध हैं। अन्तर्मन भीषण तूफान के थपेड़ों में दहलाया हुआ है। 'रे उद्धव! तूने परम् ब्रह्म देखा किसमें हैं। कितना नग्न सत्य! तू उसे जान न पाया! रे उद्धव!!'' उद्धव विचारों के झंझावत् में स्वयं से झूलने लगा है। ''आह कभी सत्य का आभास तक न हुआ। यदि मैंने परम् ब्रह्म को घटघट वासी माना तो देखा क्यों नहीं? सबमें सब देखा! एक परम् ब्रह्म ही तो नहीं देखा! क्या परम् ब्रह्म में मेरी आस्था थी? उद्धव उत्तर दे स्वयं को? ज्ञान के भण्डारी! दुनिया को ब्रह्म के रहस्य बताने वाले! तूने जगती को ब्रह्ममय जानकर कब आचरण और व्यवहार किया? राधे! राधे!! तू कौन है? सत्य का इतना स्पष्ट साक्षात्कार तो मुझे देव भी न करा पाये! हे देवि! तेरे चरणों को कोटि-कोटि प्रणाम है। ज्ञानांध मानता फिरा कि मैं परम् ब्रह्म का उपासक हूँ कन्दराओं की लम्बी समाधियों में; घने वनों में; मौन चिन्तन के क्षणों में भी तो रे उधौ! अपनी वस्तु स्थिति को भांप न पाया था। एक क्षण में सत्य सम्मुख खड़ा करने वाली हे देवि! तू कौन है? रे उद्धव! तूने यदि परम् ब्रह्म को घटघट वासी माना था तो सब में वही है ऐसा मानकर आचरण क्यों नही किया? ''उद्धव मौन स्तब्ध हैं। उनके नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित है, कितना बड़ा धोखा मैं स्वयं को दे रहा था। हे तेजस्विनी देवी तेरा साक्षात्कार ही आज उस भ्रमजाल को तोड़ सका। आज जीवन में पहली बार मैं तुझमें, वासुदेव में, सबमें परम् ब्रह्म को देख पा रहा हूँ! तेरे चरणों में बार-बार प्रणाम है।'' उद्धव जी के नेत्र मुंदे हुए हैं। भीत के सहारे बैठे हैं। विचारों के भीषण तूफान उसके मस्तिष्क हृदय और सम्पूर्ण ज्ञान को मथे जा रहे हैं। नेत्रों से अश्रु जल धारा निरन्तर प्रवाहित है!

नन्द जी कहते हैं उद्धव मैं परम् ब्रह्म तो जानता नहीं। अभी देखा था कन्हैया गौवों की सेवा में लगा हुआ था। मैंने कहा, ''लाला थक गये होंगे, थोड़ा आराम कर लो।'' माना नहीं दूसरी गाय के पास जाकर सहलाने लगा। यशोदा जी कहती हैं, ''उद्धव जी हर क्षण आँखों के सामने रहता है मेरा तो वही परमेश्वर है। अभी गोद में बिठाकर माखन मिश्री खिलाकर आ रही हूँ। चल के देख ले पालने में सो रहा

है।'' गोपियां कहती हैं उन्हें पेड़ों पर बैठा बांसुरी बजाता मिलता है। गायों के पीछे भागता हुआ दिखाई पड़ता है। रात्रि की नीरवता को चीरती बांसुरी की मधुर तान सुनाई देती है। एक गोपी कहती है कि वह जब आ रही थी तो उसने देखा कि लाला पेड़ पर बैठा बांसुरी बजा रहा है वह उसको पकड़ने के लिए दौड़ी। लाला लोप हो गया। कहीं छिप गया। पेड़ का तना ही बेचारी की बाहों में आया। तबतो वह बहुत रोई! बहुत रोई!

उद्धव! यह कैसी लीला है। नन्द उसे गायों की सेवा में देखता है। वही प्रतिमाह कर चुकाने मथुरा जाता है। भण्डारी को ही सामान देकर लौट जाता है। बासुदेव से मिलने का प्रयास भी नहीं करता? उद्धव को लगता है यहाँ की माटी के हर कण में श्रीकृष्ण रूप में परमूब्रह्म प्रकट होकर मुस्करा रहा है। श्री राधा जी कह रहीं हैं, ''उद्धव जी! जिस परमूब्रह्म को आप सिद्ध करना चाहते हैं, आप उसमें ही सिद्ध (व्याप्त) क्यों नहीं हो जाते हैं।''

क्या बात कही है राधे तुमने! उद्धव भीतर बाहर झंकृत हो गया है। उसे लगता है वह दूसरे ज्योर्तिमय धरातल पर उतर आया है। चारों ओर चकाचौंध करने वाला प्रकाश है। उद्धव को अपनी देह से भी प्रकाश की दिव्य किरणें प्रस्फुटित होती दिखती हैं। उन्हीं किरणों के ज्योर्तिमय समूहों में उद्धव स्वयं से कह रहा है,

''इस ज्योति को सिद्ध क्यों करना चाहता है उद्धव? कहां रखेगा! तू स्वयं भी तो क्षण भंगुर है। ज्योति नित्य है। क्यों नहीं अपने स्वरूप को ही इन महा ज्योतियों में ही व्याप्त कर अनन्त हो जाता! ''राधा!! क्या कहा था तुमने? जिस परमूब्रह्म को सिद्ध करना चाहते हो उसमें स्वयं को ही क्यों नहीं सिद्ध (व्याप्त) कर देते? राधे! तुम्हारी जय हो। इन समस्त गोपियों में, मैं आज तुम्हारी और कृष्ण की युगल जोड़ी को ही देखता हूँ।''

उद्धव जी की विचित्र अवस्था है। उद्धव आज, उद्धव को ही नहीं खोज पा रहा है। उद्धव सोचता है; उद्धव कहीं खो गया है। उद्धव गोपियों के चरणों में लोट-लोट जाता है। भोली गोपियां डरी, सहमी, राधा जी की ओर देखती हैं। मानों पूछ रही हों इन्हें क्या हो गया है? अभी तो भले चंगे थे।

राधा जी की निगाहें रथ पर रखे वस्त्राभूषण पर पड़ती हैं, तो वे चौंक उठती हैं।

''उद्धव! यह वस्त्र और कीमती आभूषण तुम क्यों लाये हो?''

उद्धव मौन हैं। अपराधी की भांति सिर झुका लेते हैं। राधा जी पुनः कह रहीं हैं :-

''उद्धव! मथुराधीश की हिम्मत नहीं जो हमको गहने और वस्त्र भेजें! उद्धव अवश्य तुम अपने मन से लाये हो। यह कांच के टुकड़े हमारे माखन मिश्री का

ऋण नहीं उतार सकते। वासुदेव से कह देना, सहस्त्र युगों में भी तुम हमारा कर्ज उतार न पाओगे। सदा हमारे कर्जदार रहोगे। फिर वे गोपियां पलटती हैं, ''सखियो! रथ में माखन मिश्री लाकर भर दो। उद्धव उन से कहना नया ऋण और दिया है।''

उद्धव अपराधी से सिर नवाये हैं। कुछ कहने की उनमें हिम्मत नहीं है। गोविन्द हरि!

कथा का समापन करते हैं। उद्धव जी लौटकर मथुरा आते हैं। वासुदेव उनसे बृज का कुशल क्षेम पूछते हैं, तो उद्धव के नेत्रों में अश्रुजल प्रवाहित हो उठता है। कृष्ण कहते हैं, उद्धव तू तो उन्हें सुधारने लगा था। लगता है। तुझे बीमारी लग गयी है उद्धव भगवान के चरणों में लिपट जाते हैं।

''वासुदेव! मेरे अपराध क्षमा करो। मैंने आपको पहचाना नहीं है!''

भगवान भोलेपन से पूछते हैं, ''कैसे अपराध उद्धव?''

हरि ॐ! नारायण हरि!

49

द्वारिकाओं की कल्पना!

सुर और असुर विचारधाराओं के मध्य निरन्तर तनाव बढ़ता जा रहा था। असुरराज जरासंध, असुर कालयवन, दन्तवक्त्र, भौमासुर आदि अनेक असुर राजा, सभी मानव मूल्यों को ताक पर रख कर अपने प्रदेशों से कन्याओं, बालकों तथा सभी प्रकार के लोगों को दास बनाकर बेचने का व्यापक धन्धा करने लगे थे। असुरों से गुलामों को खरीदने वाले अधिकतर मध्य एशिया के लोग थे। मानवता को गुलाम बनाकर उनके साथ पाशविक व्यवहार कर, उनसे पिरामिड आदि बनवाना तथा भवन आदि का निर्माण करवाने के साथ पशुवत व्यभिचार करना तथा पशुओं की भांति ही उनसे सभी प्रकार के कार्य कराना, असुर धर्म में धर्मसम्मत कार्य था।

असुर राजाओं द्वारा, गुलामों को बेचकर जो धन और ऐश्वर्य मिलता था, उसकी चमक से अन्य छोटे राजा भी प्रवाहित होने लगे थे। इस चमक ने विधर्भराज के पुत्र रुक्मि को भी प्रभावित किया था तथा शिशुपाल भी असुरत्व की ओर झुकता चला गया था। शिशुपाल, वासुदेव श्रीकृष्ण की बुआ के पुत्र थे। बढ़ते हुए असुरत्व को समाप्त करने के लिए, सुरनायक भगवान श्रीकृष्ण, अत्यधिक चिन्तित थे। भरतखण्ड के बन्दी बनाये हुए लोगों का सामूहिक व्यापार मेला, मगधराज जरासंध के यहां ही लगता था।

जिसे आधुनिक पुरातत्ववेत्ता तथा इतिहासकार सूर्य मन्दिर के रूप में जानते हैं, वस्तुतः यह स्थान असुरराज जरासंध का आमोदगृह था। यहीं पर नंगी कन्याओं और युवतियों का व्यापार होता था। खरीददार, अधिकतर मध्य एशिया के व्यापारी लोग होते थे, जो यहां पर इस माल की अच्छी तरह से जांच पड़ताल और परख करते

थे। उसके बाद ही यह युवतियां बोली लगाकर बेची जाती थीं। चूँकि असुर राजा तथा असुरधर्म को मानने वाले लोग, सूर्य को ही असुरराज के रूप में मानते थे, इसलिए उस घृणित स्थान पर सूर्य को असुरराज के रूप में प्रतिष्ठित भी किया गया था।

व्यापारी लोग गुलाम लड़कियों को जगन्नाथपुरी से अपने जहाजी बेड़ों पर लेकर लंका होते हुए अरब सागर से गुजरते हुए मध्य एशिया की ओर बढ़ते थे। औरतों के दूसरे बड़े व्यापारी असुरराज 'बलि' थे। जिससे सम्पूर्ण आधुनिक केरल प्रदेश प्रभावित था। गरीब और असहाय लड़कियों को बेच कर उससे प्राप्त होने वाले धन को, वे जनहित में दान भी करते थे। इसलिए असुरराज बलि महादानी के रूप में जाने जाते थे। यह भी विडम्बना है कि आज भी असुरत्व की मिट्टी से उभरे विदेशी धर्म और सम्प्रदायों के लोग, उन्हीं प्रदेशों से भोली बच्चियों का परोक्ष व्यापार करते हैं। धर्म की आड़ में तथा मदद की आड़ में, उन्हें आज भी खरीद कर विदेशों में ले जाते हैं। असुरराज जरासंध के युग से इन प्रदेशों की अर्थव्यवस्था गुलामों को बेचने पर ही टिकी रहती थी, जिसका थोड़ा-बहुत चलन स्वतंत्र भारत में, 20 वीं सदी के अन्त में भी मिलता है।

श्रीकृष्ण ने इस असुर व्यापार को रोकने के लिए, आधुनिक भाव नगर से लेकर जयद्रथ के साम्राज्य अर्थात सिन्ध के सीमा क्षेत्र तक, सागर के किनारे-किनारे द्वारिकाओं की कल्पना को साकार किया। सम्पूर्ण सौराष्ट्र प्रदेश उन्हीं द्वारिकाओं के आधीन रहा है। इस स्थान पर द्वारिकाओं के बनाने के विशेष प्रयोजन थे। गुलामों को खरीदकर लौटते हुए समुद्री बेड़ों पर घात लगाकर यादव सेनाएं आक्रमण करती थी। बेड़ों को ध्वस्त कर, गुलाम लोगों को छुड़ाने तथा उन्हें सम्मानजनक जीवन का अनुपम ज्ञान देकर, उन्हें पुनः सम्मानजनक जीवन में स्थापित करना ही द्वारिकाओं का मूल ध्येय था। यह द्वारिकाये एक सौ एक थीं।

सम्पूर्ण प्रदेश किसी भी राजा के द्वारा संरक्षित न होने के कारण, असुर लुटेरों का स्वच्छन्द चरागाह बना हुआ था। यहां के लोग भगवान श्रीकृष्ण के पास मथुरा में इसी प्रार्थना को लेकर आये। वासुदेव, भारत और भारती की रक्षा हेतु, ऐसे प्रदेश की कल्पना कर ही रहे थे। श्रीकृष्ण ने उनके आमंत्रण को स्वीकार किया।

यादव सरदार वहां पर साम्राज्य की सुव्यवस्थ हेतु सेना तथा अन्य कर्मचारी भेजने लगे। द्वारिकाओं का निर्माण कार्य आरम्भ हो गया।

असुर राज जरासंध के सत्रह (17) आक्रमण होने के उपरान्त मथुरा साम्राज्य पर अठारहवें (18) आक्रमण की विभिषिका पुनः छाने लगी। गुप्तचरों ने सूचना दी कि असुरराज जरासंध, मथुरा पर आक्रमण करने हेतु, सेनाओं को संगठित कर

रहा है। इस बार जरासंध ने मथुरा साम्राज्य को ध्वस्त करने के लिए, कालयवन का भी सहयोग मांगा है। शीघ्र ही मथुरा पर एक ओर जरासंध का आक्रमण होगा तथा दूसरी ओर से कालयवन मथुरा पर अचानक आक्रमण करेगा।

मथुराधीश भगवान श्री कृष्ण अपने सहयोगी राजाओं तथा मंत्रियों की विशेष सभा बुलाई। इस सभा में सभी ने यह निर्णय लिया कि अब समय आ गया हैं जब मथुरा का परित्याग कर द्वारिका साम्राज्य की स्थापना की जाये। इस निर्णय का सभी ओर से अनुमोदन प्राप्त होने पर, श्रीकृष्ण ने मथुरावासियों को द्वारिका जाने का निमंत्रण दिया। साथ ही उन्होंने उन लोगों को मथुरा खाली करने की भी सलाह दी जो द्वारिका नहीं जाना चाहते थे। निराश्रित मथुरा पर जरासंध के आक्रमण की सूचना सभी नगर वासियों को सुना दी गयी। जो द्वारिका न जाना चाहते हों वह मथुरा को कुछ समय के लिए ख़ाली कर दें। जिससे उन्हें जरासंध के कोप का भाजन न बनना पड़े।

मथुरा उजड़ने लगी। सैनिकों की टुकड़ियों से घिरे नागरिक अपने सामान और गाड़ियों सहित द्वारिका की ओर बढ़ने लगे। मथुरा के छूटने की पीड़ा, बिखरते सपने, उजड़ा अतीत और भटकता वर्तमान! विषाद की गहन छाया लिए, वे चले जा रहे थें, एक अनजाने अजनवी प्रदेश की ओर। एक ही सान्त्वना थी, एक सुख था, भगवान श्रीकृष्ण की छत्रछाया का सेनाओं की छोटी-छोटी टुकड़ियों से घिरे हुए वे लोग जो कुछ साथ ले जा सकते थे, वह सामान, उस सामान के साथ निरन्तर रेगिस्तानों को लांघते हुए द्वारिका की ओर बढ़ रहे थे। जो लोग द्वारिका नहीं गये, वे भी मथुरा का परित्याग कर, दूर छोटे-छोटे स्थानों में छिपने चल दिये। पीछे रह गयी उजाड़ बियावान मथुरा! निर्जन कोलाहल से विहीन! सब के चले जाने के बाद, मथुरा के बाहर खड़ी यादव सेनाएं भी उस राह की ओर बढ़ चलीं जहां कालयवन, अपनी सैन्यशक्ति के साथ बढ़ा चला आ रहा था। सेनाओं के हटते ही मथुरा, वीरान निर्जन प्रदेश में बदल गयी। श्रीकृष्ण और श्रीबलराम, अपनी बची हुई सेनाओं के साथ, मार्ग में ही कालयवन से युद्ध के लिए आगे बढ़ चले। प्रवर्षण पर्वत के समीप यादव सेनाएं, असुरराज कालयवन की सेनाओं पर, अचानक एक बड़ा आक्रमण करने लगी। कालयवन की सेनाओं के पास आक्रमण को अचानक झेलने की स्थिति नहीं थी। वे मार्ग में निरन्तर आगे बढ़ रहीं थी। तभी जंगलों और पर्वतों से निकलकर यादव सेनाओं ने अकस्मात् कालयवन की सेनाओं पर भीषण आक्रमण कर दिया। असुरसेना समूह, गाजर मूली की तरह कटने लगे। कालयवन को अचानक आक्रमण का कुछ भी आभास नहीं था। कालयवन के सेनापति जब तक सम्भलते, तब तक उसकी काफी सेना का भाग नष्ट हो चुका था। कालयवन भी

मृत्यु को प्राप्त हुआ। उसको मुच्कुन्द ऋषि के हाथों मृत्यु को प्राप्त होना पड़ा। इतिहास-कथा में ऐसा आया है कि काल यवन जंगल की आग में ही लिपट कर भस्म हो गया।

दूसरी ओर वीरान मथुरा में अपनी सेनाओं के साथ असुरराज जरासंध भटक रहा था। निर्जन मथुरा में उसे एक भी व्यक्ति नहीं मिला, जिससे वह श्रीकृष्ण का पता पूछ सके। वीरान मथुरा उसका स्वागत भी तो न कर पा रही थी। तभी जरासंध को उसके गुप्तचरों ने सूचना दी कि श्रीकृष्ण और श्रीबलराम ने मार्ग में ही असुरराज कालयवन को घेर लिया है तथा कालयवन, श्री कृष्ण के द्वारा परास्त हो रहा है। सूचना पाते ही असुर राज जरासंध तेजी से कालयवन की मदद के लिए मथुरा को त्याग कर चल दिया। वीरान मथुरा को भी ध्वस्त करने के लिए जो उसकी अभिलाषा थी, उसे भी जरासंध पूरा न कर पाया। कालयवन को बचाने के लिए, अपनी सैन्यशक्ति के साथ, जरासंध तेजी से उस दिशा की ओर बढ़ चला। जब तक जरासंध की सेना युद्ध-क्षेत्र तक पहुँचती, यादव सेनाएं, कालयवन की सेनाओं को ध्वस्त करके, प्रवर्षण पर्वत पार करती हुई द्वारिका प्रदेश में प्रवेश कर गयी थी। भीषण युद्ध के कारण प्रवर्षण पर्वत के चारों ओर जंगल भयंकर रूप से जल रहे थे। आग की लपटों के विशाल अम्बारों को पार कर, यादव सेनाओं का पीछा करने के लिए, जरासंध की सेना तैयार नहीं थी। हताश होकर जरासंध वापस लौट गया। श्रीकृष्ण द्वारिकाधीश सुशोभित हुए। श्रीकृष्ण को पाकर द्वारिका जगमग हो उठी।

हरि ॐ! नारायण हरि!

द्वारिकाऐं : आज और कल!

वेदव्यास! हे परम पुनीत! आज एक बार फिर, गोविन्द की द्वारिका में भक्त मित्र जनों के साथ घूम रहा हूँ। लगभग छः हजार वर्ष पूर्व के घटनाक्रम मन की कल्पनाओं में उभरने लगे हैं। बहुत-बहुत कुछ बदल गया है। बहुत-बहुत कुछ नहीं रहा है। कृष्ण की बनाई हुई लगभग सारी द्वारिकायें सागर की तलहटी में समा गयी हैं। मध्य युगीन राजाओं के द्वारा द्वारिकाओं की स्मृति में बनाई हुई द्वारिकाओं के अवशेष ही अब मूल द्वारिकाओं के रूप में जाने जाते हैं। अतीत के गहन अन्तरालों में लुप्त हो गये वे भोले निष्पाप चेहरे, एक बार फिर कल्पनाओं के झरोखों से झांकने लगे हैं। लगता है कि वे क्षण मेरे समीप होते जा रहे हैं। रोम-रोम पुलकित हो उठा है। सम्पूर्ण शरीर रोमांचित है। समीप होते क्षणों की आहट भी पाने लगा हूँ। समय की दूरियां समाप्त हो चुकी हैं। एक जादू सा छाता जा रहा है। लगता है कि जैसे सागर पीछे हटने लगा है। द्वारिका की वे भव्य नगरियाँ एक बार फिर अपने पात्रों के साथ जीवन्त हो उठीं हैं। दूर-दूर तक लहलहाती द्वारिका की पताकायें, 101 द्वारिकाएं अपने चरम् ऐश्वर्य पर हैं। मायापति भगवान श्रीकृष्ण ने सभी द्वारिकाओं के रहस्यमयी व्यूहाकार संरचना की थी। कृष्ण द्वारा रक्षित द्वारिकायें काल के लिए भी अभेद थीं।

भगवान श्रीकृष्ण एवं श्री बलराम, भौमासुर को परास्त कर, उसके द्वारा बन्दी बनाये हुए 16000 युवतियों तथा बालकों और बूढ़ों को लेकर सेनाओं सहित द्वारिका पधारे हैं। कृष्ण के भय के कारण ही भौमासुर बन्दी बनायी हुई नारियों को मध्य ऐशिया तथा पश्चिम के गुलाम खरीदने वाले असुर राजाओं को बेच नहीं पाये।

उसे भय था कि श्रीकृष्ण मार्ग में ही उसके बन्दियों के समूहों को लूट लेंगे। और हुआ भी यही। श्रीकृष्ण ने भौमासुर पर आक्रमण कर उसे मौत के घाट उतार दिया तथा सभी बन्दियों को स्वतंत्र कर श्रीकृष्ण ने उनसे कहा था,

''मानवता को बन्दी बनाने वाले मृत्यु निद्रा की गोद में सो चुके हैं। आप सब स्वतंत्र हैं। श्रीकृष्ण आपका अभिनन्दन करता है। भौमासुर के सम्पूर्ण ऐश्वर्य एवं धन आप सब में बराबर से बांट दिया जायेगा। आप सब सुखद जीवन को पुनः आरम्भ करें। मनुष्य को गुलाम बनाने वाले अमानवीय वृत्तियों का डटकर मुकाबला करें। पाप को सहना भी पाप है। श्रीकृष्ण आपका सेवक है। मानव मात्र का मित्र और सखा है। भौमासुर के बन्दी गृहों में आपने जो पीड़ायें और यातनाऐं सहीं हैं उनका प्रतिकार तो सम्भव नहीं है। परन्तु सुखद भविष्य के लिए भौमासुर के कोषागार से धन एवं अन्य सम्पदाओं को ग्रहण कर सुखी जीवन को प्राप्त हो।''

जनता ने अन्तर्मन से श्रीकृष्ण की सराहना की। वे धरती के परमेश्वर हैं, बहुतों के अन्तर्मन से यह उद्घोष हुआ था। एक अकिंचन सम्राट, विनम्र और भावुक, उनका अन्तर्भाव जयघोष से जरा भी तो गर्वित नहीं हुआ था। उनकी एक ही चाह थी कि मानवता को दास बनाने वाले हाथ, सदा-सदा के लिए धरा पर निष्क्रिय कर दिये जावें। मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए ही गोविन्द ने अस्त्र-शस्त्र धारण किये थे। जीव मात्र की रक्षा का अद्भुत संकल्प था उनका। नीलाभ दीप्तियों का स्वामी, मोहक घनश्याम, वासुदेव श्रीकृष्ण, जीवन पर्यन्त इसी संकल्प के साथ जिया था।

बन्दियों को स्वतंत्र और सुखद जीवन प्रदान करने के उपरान्त जब सेनाएं द्वारिका की ओर बढ़ने लगी तो निराश्रित कन्याओं एवं महिलाओं ने रोककर विनती की,

''हे वासुदेव! आप हम सब को निराश्रित छोड़कर कदापि न जावें। ऐसी अवस्था में असुर फिर हमारा अपहरण कर लेंगे। आप हमें अपने साथ द्वारिका चलने की अनुमति प्रदान करें। हम आप ही की शरण एवं सुरक्षा में जीवन के शेष समय को बिताना चाहती हैं।''

वासुदेव मान गये थे। लगभग सोलह हजार देवियों के साथ उनकी सेनाएं द्वारिका में प्रवेश कर रहीं हैं। प्रवेश के उन मंगल क्षणों को मैं एक बार फिर छूने लगा हूँ। सेनाओं के समूह यथा द्वारिकाओं की ओर बढ़ गये हैं। मूल द्वारिका में भगवान वासुदेव पधार गये हैं। मंगल जयनाद एवं उनकी स्तुति करते द्वारिकावासी अघाते नहीं हैं। कृष्ण उनके सम्राट भी हैं, परमेश्वर भी हैं, तथा स्वजन भी हैं। कृष्ण

तो उनके अन्तरहृदय के देवता हैं। अतीत के लम्बे अन्तरालों में भी ऐसे नायक के दर्शन युगों को भी सम्भव नहीं हुआ। समय पंख लगाये उड़ा जा रहा है। एक दिन वे युवतियाँ अत्यधिक पीड़ाओं को प्राप्त, दुखी ओर आर्त्त होकर वासुदेव महल के समीप पहुँच गयी। वासुदेव को सूचना मिली। श्रीकृष्ण तत्क्षण उनसे मिलने आये हैं। उनके बुझे हुए मुखड़ों पर दृष्टिपात करते ही वे चौंक उठते हैं। उनकी पीड़ाओं का कारण पूछते हैं तो वे सब आर्त्त एवं विनम्र होकर वासुदेव से प्रार्थना करती हैं,

"हे कृष्ण! हे जगतपति! आपने हमारा उद्धार किया। हे देवेश! आपने पापी भौमासुर को मारकर हमारी पीड़ाओं का अन्त किया। परन्तु हे दयानिधान! भौमासुर के कारावास से छूटने के उपरान्त भी आपकी द्वारिका में भी हम जी नहीं पा रही हैं। आपके नगर वासी हमें दूषित कहकर उपेक्षित करते हैं। हमारे जीने का सहारा अब भी नहीं बन पा रहा है। हे गोविन्द! राजाश्रय से हमें अन्न वस्त्र सब कुछ प्राप्त है। परन्तु समाज में उपेक्षित अपमानित तथा कलंकित होकर जीना, हमारे लिए असह्य हो उठा है। हे जीवनधन! हम अपने कलंकित जीवन का अन्त करना चाहती हैं। हम आपका आभार चुकाने आयी हैं। साथ ही जीवन को समाप्त करने की आज्ञा प्राप्त करना चाहती हैं।"

वे फूट-फूट कर रो रही थीं। श्री कृष्ण स्तब्ध खड़े मौन सब सुनते रहे। उनके नेत्र अश्रुपूर्ण हो उठे। उनकी गम्भीर वाणी मुखरित हो उठी,

"हे देवियो! आप शोक न करें। आप निष्पाप हैं, पवित्र हैं तथा निष्कलंक हैं। यदि कोई भी दोषी अथवा अपराधी है तो वे स्वयं द्वारिकाधीश हैं। दीन असहाय अवस्था में जब असुर आपको पकड़ ले जा रहे थे, तो आपकी रक्षा न करने वाला समाज ही दोषी है। आप द्वारिका में निःसंकोच सुख पूर्वक राजाश्रय को प्राप्त कर रहें। समाज आपको कभी कलंकित नहीं कहेगा। यदि कोई आप से पूछे तो आप निःसंकोच बतायें कि वासुदेव ही आपके मित्र हैं, भाई हैं, पति हैं और पुत्र हैं। यदि समाज सम्मान सहित आपको स्वीकारे तो आप निःसंकोच सम्मानित होकर समाज का वरण करें अन्यथा वासुदेव की पूज्य एवं सम्मानित अतिथि अथवा स्वजन बनकर हमें, सेवा का अवसर प्रदान करें।"

वासुदेव ने समाज के सम्मानित लोगों को बुलाकर उनसे भी ऐसा करने को कहा। सुधर्मा-सभा आहूत की गयी। समस्या के निदान हेतु एक पत्नीव्रत के नियम को लचीला बनाया गया। जिससे नारियां निराश्रित न हों तथा उन्हें असहाय जानकर असुर उनका अपहरण भी न कर पावें। उसमें भी पति चयन का अधिकार

नारी को ही प्रदान किया गया। जहां पर असुर धर्म में पति को अधिकार था कि वह चाहे जितनी स्त्रियों को पत्नी अथवा उप-पत्नी अथवा दासियां बनाकर रखें। जब भी चाहे किसी स्त्री को त्याग दे, गिरवी रख दे अथवा मार डाले। सुधर्मा-सभा ने पति के द्वारा पत्नी को त्यक्त करने के नियम को और अधिक कड़ा बनाया। परन्तु नारी को उपेक्षित अवस्था में, पति के त्याग का स्वतंत्र अधिकार प्रदान किया। असुर धर्म में नारी किसी प्रकार भी पति का त्याग नहीं कर सकती है। पति ही उसके साथ मनचाहा व्यवहार कर सकता है। अमानवीय व्यवहार होने पर भी उसे पति का परित्याग करने का अधिकार नहीं है। परन्तु सुर धर्म में पति द्वारा उपेक्षित एवं अपमानित होने पर नारी को पति का त्याग का पूर्ण अधिकार दिया गया है। ऐसा करना उस समय की जरूरत भी बन गयी थी। असुरों के साथ युद्ध में पुरूषों के मारे जाने के कारण, उनकी पत्नियां असहाय और निराश्रित हो जाती थी। इसीलिए सुधर्मा-सभा ने बहु पत्नी प्रथा को जन्म दिया। इस प्रथा के कारण नारी का जीवन कुन्ठित तथा उपेक्षित न हो, इसलिए त्याग का भी स्वतंत्र अधिकार नारी को दिया गया।

द्वारिकाओं के बनाने के पीछे कृष्ण का परम् उद्देश्य भी यही था। जरासंध तथा अन्य असुर राजाओं के बन्दियों को खरीदकर सागर के किनारे-किनारे बढ़ते हुए असुरों के जहाजी बेड़े, द्वारिकाओं के समीप से गुजरते तो द्वारिका से द्वारिका तक अश्वारोही सूचना देते थे। 101 द्वारिकाओं पर खड़ी यादव सेनायें और जहाजी बेड़े युद्ध (श्रीकृष्ण ने ही सर्वप्रथम जलसेना का निर्माण किया था) की संरचना करते हुए असुरों के जहाज को घेर लेते थे। चारों ओर से अचानक उनपर आक्रमण कर उन्हें किनारे की ओर बढ़ने पर मजबूर करते। जहाँ से यादव सेनाएं जमीन से भी उन पर आक्रमण कर देती। असुरों को परास्त कर बन्दी बनाकर ले जाये जा रहे लोगों को छुड़ाते थे। उन्हें पुनः स्वतंत्र नागरिक के सम्मान और अधिकार प्रदान करते। गीता तथा धर्म का अमृतमय उपदेश देकर तथा धन धान्य से मदद करके जीवन का सुखद साधन प्रदान करते। श्रीकृष्ण उनके अन्तर्हृदय के सम्राट हो जाते। श्रीकृष्ण और उनकी द्वारिका असुरों के लिए भयंकर आतंक बन चुकी थी।

श्रीकृष्ण इतने से भी सन्तुष्ट नहीं हुए। मानवता के नाम पर कलंक बनी असुर विचार-धाराओं के समूल विनाश के लिए श्रीकृष्ण ने एटलांटस सागर तक सेनाओं सहित आक्रमण कर असुर वृत्तियों का समूल विनाश किया। बन्दी प्रथा को मिटाकर वे द्वारिका लौटकर आये। श्रीकृष्ण की सेनाओं ने पश्चिम प्रदेशों पर भी असुर वृत्तियों को समाप्त करने के लिए भीषण आक्रमण किये थे। बहुत से प्रदेश जन विहीन हो गये थे।

वेदव्यास! अतीत की स्मृतियां मेरे मानस पटल पर चलचित्र की भांति दौड़ने लगी हैं। उन सारे क्षणों को छूकर मेरा रोम-रोम पुलकित हो उठा है।

आज फिर खड़ा हूँ उन्हीं द्वारिकाओं के मध्य में। आज से कुछ वर्ष पूर्व जब 101 द्वारिकाओं की बात मैंने लोगों को बताई थी (लीला दर्पण पुस्तक में भी प्रकाशित है) वे सब मुझ पर हंसे थे। कुछ ही वर्षों के अन्तरालों में पुरातत्व वेत्ताओं ने सागर की गोद में सोयी हुई 34 द्वारिकाओं को खोज निकाला। उनका कहना है कि द्वारिकायें सम्भवतः 100 या इससे अधिक थीं। अब मेरे मित्र मुझ पर नहीं हंसते हैं।

श्री कृष्ण की अभेद द्वारिकाओं के सीमा क्षेत्र में, समय जैसे रुक सा गया है। सागर के किनारे बसने वाले काठी सम्प्रदाय के लोग आज भी जहां के तहां हैं। एक यही ऐसी जाति है, जो सागर के किनारे रहते हुए भी, मांस तथा मछली का सेवन नहीं करती हैं। आज भी काठी नारियां गोपियों की तरह सजती हैं। आज भी वे उतनी ही चंचल शोख निर्मल, व पवित्र तथा पतिव्रता हैं। किसी भी क्षण वे सजी हुई गोपियां निश्छल भाव से नाच उठती हैं। गोपों की तरह सजे हैं काठी भी। गउवें चराते, बांसुरी बजाते, वे सज-धजे गोप, समय को अनूठा दिखा रहे हैं। उनकी रूप सज्जा में, यहां तक कि उनके स्वभाव, आचरण तथा व्यवहार में भी परिवर्तन नहीं के बराबर है। श्रीकृष्ण ने उन्हें दृष्टि का सुदर्शन दिया। वे आज भी दिव्य अलौकिक कृष्ण का हर ओर दर्शन करते हैं। गोपाल की गाय को यदि संसार में कहीं सुख है तो इन्हीं काठियों के बीच। कृष्ण ने गाय दी। बलराम ने हल और बैल दिये। काठी आज भी इन्हीं की मर्यादाओं में जी रहा है। गउवें चराना और खेती करना यही उनका जीवन है सर्वस्व है। गाय को वह माई कहता है और बैल को बापा। सिर्फ कहते ही नहीं, उन्हें माँ और बाप मानते भी हैं। आज भी वहां पर गुरूकुल व्यवस्थायें हैं। प्रत्येक काठी परिवार अपना अंशदान स्वतः गुरूकुल को भेजता है। उनके लड़के वहां पढ़ते हों अथवा नहीं। इसका कोई मतलब नहीं। गुरूकुल की सेवा तो प्रत्येक परिवार का पहला धर्म है। सभी परिवारों के बच्चे गुरूकुल पद्धति पर ही शिक्षा पाते हैं। गुरूकुल, बच्चों को पढ़ाने का कोई भी खर्चा अलग से नहीं मांगता है। गुरूकुल के पढ़े बालक गुरूकुल द्वारा ही अग्रिम एवं उच्च शिक्षा में भेजे जाते हैं। उसका खर्चा भी गुरूकुल देता है। बालक विदेशों में भी जाकर उच्च शिक्षा ग्रहण करते हैं। उस शिक्षा का भार भी गुरूकुल के माध्यम से सारा समाज ही उठाता है। लगता है जैसे समय, कभी भी द्वारिका की देहरी लांघ न पायेगा। मैं अपने मित्रों को भोले काठियों की कहानियां सुनाता हूँ, उन्हें विश्वास नहीं होता है।

हम लोग सड़क के किनारे खड़े 'डाव' पी रहे हैं। डाब कच्चे नारियल को कहते

हैं। सामने एक खुला हुआ छप्पर है। मैं लोगों को दिखाता हूँ और बतलाता हूँ, ''काठी आज भी अपने घर नहीं बनाता है। जो भी घर बनाता है अपने माई बापा के लिए अर्थात गाय और बैल के लिए ही बनाता है। माई बापा के धर में ही चारपाई डालकर वह रह लेता है। उसकी आवश्यकता आज भी न के बराबर है।''

उन्हें खुले हुए छप्पर में एक युवा दम्पत्ति तथा खुले घूम रहे गाय और बैल दिखाता हूँ। वे सब विस्मय से देखते हैं। तभी एक घटना होती है। दोनों पति-पत्नी अपने कुछ माह के शिशु को सोया हुआ चारपाई पर छोड़कर हंसिया उठाकर बाहर चले जाते हैं यह कहते हुए कि माई बापा बच्चे का ध्यान रखना हम तुम्हारे लिए चारा लाने जा रहे हैं। यह सब वह अपनी भाषा में कहते हैं। जिसका भाषान्तर कर मैं अपने मित्रों को बतला रहा हूँ। हम लोग आश्चर्य से उनको देखते हैं। कैसा विचित्र आत्मविश्वास है उन दोनों को? गाय और बैल के सहारे कुछ माह के बच्चे को सोते हुए चारपाइ पर छोड़कर चले गये? चारपाई के एक ओर गाय बैठी पागुर कर रही है। दूसरी ओर बैल जाकर बैठ गया। जैसे उसने दम्पत्ति के शब्दों को पढ़ लिया हो। हमारे मित्र वहां से जाना नहीं चाहते हैं। कुछ देर रुक कर इस दृश्य को देखना चाहते हैं। कुछ देर बाद हम लोग फिर डाब खरीद कर पीने लगते हैं। कुछ काल के उपरान्त चारपाई पर लेटा हुआ बालक रोने लगता है गाय अपनी गर्दन को लम्बी कर अपने थूथुन से थपथपा कर बच्चे को सुला देती है। मेरे मित्र स्तब्ध अवाक् खड़े इस दृश्य को देख रहे हैं। गाय और बैल दोनों स्वतंत्र हैं, खुले हुये हैं। फिर भी वे वहां से जाते नहीं हैं। मैं अपने मित्रों से चलने के लिए कहता हूँ, किन्तु वे अभी और रूकना चाहते हैं। मैं उनकी बात मान लेता हूँ। कुछ काल के उपरान्त बालक पुनः जागकर खेलने लगता है। खेलते-खेलते वह खाट के किनारे आ जाता है। लगता है जैसे गिर जायेगा। तभी गाय अपने थूथुन से उसे धकेल कर बीच खटिया में कर देती है। दूसरी ओर बैल अपनी गर्दन लम्बी करके अपने थूथुन से बैल वच्चे को थपथपाने लगता है। छोटा बच्चा भी बैल के थूथुन के साथ खेलने लगता है। लगता हे जैसे बैल भी बच्चे को खिलाने का आनन्द ले रहा है। मैं अपने मित्रों से पुनः चलने के लिए कहता हूँ परन्तु वे जाना नहीं चाहते हैं। इस दृश्य को छोड़कर उनका जाने का मन ही नहीं है। हम सब फिर डाब लेकर पीने लगते हैं। थोड़ी ही समय के बाद वे दम्पत्ति चारा की गट्ठरियां लेकर आते हैं। गाय और बैल उठकर बाहर आ जाते हैं। मानों उनकी ड्यूटी समाप्त हो गयी है। सहज भाव से उनके द्वारा लाये हुए चारे को खाने लगते हैं। हम सब मित्र आपस में चर्चा करने लगते हैं। उस दम्पत्ति के आत्मविश्वास की बात हम सब को छू जाती है। गाय और बैल के सहारे कुछ माह के शिशु को छोड़ जाना क्या मनुष्य अथवा किसी के

लिए सम्भव है? गाय और बैल को माता-पिता की भांति अथवा यूं कहें कि दादा-दादी की भांति पूरा ख्याल रखना और उनका देख-भाल करना? परन्तु यह सब काठियावाड़ी के हर घर की नित्यप्रति कथायें हैं। जाने कौन सा अवरोध है जिसने, वक्त की ईर्ष्या, द्वेष, घृणा और अतृप्तियों को रोक कर रखा है। काठियों के पास आने नहीं देता है। यह काठी ही मूल यादव हैं। जो कृष्ण के साथ मथुरा से यहां आये थे। वे मथुरा तो छोड़ सकते थे, वृन्दावन का मोह त्याग सकते थे, परन्तु कन्हैया का संग छोड़ने को कदापि तैयार नहीं थे। वे काठी आज भी कृष्ण के साथ जुड़े हुए हैं। कृष्ण ही उनके जीवन धन हैं। कृष्ण ही उनके जीवन की राह हैं। कृष्ण उनके सबकुछ हैं।

परन्तु समय अब करवट बदलने लगा है। भारत के संविधान की छत्रछाया में, वोटबैंक भोगवादी संस्कृति अब श्रीकृष्ण को पूरी तरह से मिटाने पर उतर आयी है। पाकिस्तान से वहां के नागरिक दुहरी नागरिकता प्राप्त कर, काठियों के प्रभाव को निष्क्रिय करने में लग गये हैं। वे अब यहां के विशिष्ट दर्जा प्राप्त नागरिक बन रहे हैं। इनमें अधिकतर कसाई और चमड़ा व्यवसायी हैं। इनसे अब पाकिस्तान का चमड़ा उद्योग भी फलने फूलने लगा है। गौवों के चमड़े और मांस से अर्जित धन से, यह काठियों की जमीन भी खरीदने लग गये हैं। एक आदि पावन संस्कृति अपने सम्पूर्ण विनाश की ओर बढ़ रही है। यह सब तथाकथित धर्मनिरपेक्षता का नारा देने वाली तथा भारत को संविधान देने वाली, राजनीतिक संस्कृति ही कर रही है।

यूँ तो हमारे राष्ट्रीय महान नेता मानवता की बात करते हैं। परन्तु उनके इस विलक्षण मानवतावाद को सम्पूर्ण विश्व भोंडे पाखण्ड और ठगी से अधिक कुछ नहीं मानता है। मानवता को सर्वस्व मानने वाले संकीर्ण साम्प्रदायिक अमानवीय सोच के पक्षधर कदापि नहीं हो सकते। मानवीय मूल्यों का हनन करके संकीर्ण अमानवीय विचार धाराओं के पक्षधर, संरक्षक, पालक, विनम्र सेवक, सबकुछ ये महान नेता, संविधान की छत्रछाया में बन जाते हैं।

जबकि विश्व के सभी सभ्य राष्ट्र आधुनिक काल में पूर्ण मानवीयतापरक, संकीर्ण साम्प्रदायिक सोच से परे हैं। अमेरिका, इंग्लैण्ड, कनाडा, फ्राँस आदि बहुत से देश हैं जो मानवीयतापरक संविधान पर ही सरकार और राजनीति करते हैं। धर्मान्धता और साम्प्रदायिक संकीर्ण सोच को एक हद से आगे नहीं बढ़ने देते। कानून व्यवस्था भी संकीर्ण साम्प्रदायिकता से अप्रभावित रहती है। परन्तु भारत ही ऐसा अजूबा देश बनकर रह गया है, जहां देश का संविधान, सुप्रीमकोर्ट के निर्णय, पार्लियामेन्ट, सभी संकीर्ण साम्प्रदायिकता को ओड़कर तथा मानवीय मूल्यों की हत्या

करके सैक्युलर बनते हैं।

दासता के युगों में संकीर्ण साम्प्रदायिकता की अंधी आंधी ने सम्पूर्ण भारत संस्कृति को दहला रखा था। शैव, शाक्त, वैष्णव सम्प्रदायों में खून की होलियां खेली जाने लगी थीं। तब उसके सकारात्मक उपायों के हित में नये साहित्य की रचना आशुकवियों, संतों से करवा कर उनका घर घर प्रचलन तथा स्थापना करवायी गयी। सन्त तुलसी की रामायण, श्रीकृष्ण की पावन लीलाकथायें उसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। तुलसी के श्रीराम महाशिव के परम आराध्य हैं तथा रावण पर विजय पाने के लिये शाक्त आराध्या नवदुर्गा की प्रतिष्ठा एवं भक्ति करते हैं। इन कथाओं के द्वारा सम्प्रदायों में बंटती स्मार्त सनातन संस्कृति पुनः पटरी पर आ जाती है। शिव के पुत्र श्रीगणेश को वैष्णव तथा शाक्त आराध्या लक्ष्मी के साथ बिठाकर प्रत्येक घर को पुनः स्मार्त बनाया गया।

सोचता हूँ यदि महान राष्ट्रीय नेताओं तथा संविधान के तर्ज पर आरक्षण, संरक्षण, वर्गीकरण, तुष्टीकरण, वित्त और धन तथा विशेषधिकार और पद का बंटवारा हो गया होता?

एक जंगल में एक शेर अपने परिवार सहित रहता था। उस रात वह बहुत भूखा था। उसकी शेरनी और बच्चे भी भूख से बिलबिला रहे थे। शेर शिकार के लिये निकल पड़ा। उसने जंगल में एक शिकार को पेड़ से बंधा हुआ देखा। जिसे एक शिकारी ने बांध रखा था तथा स्वयं मचान पर बैठा शेर के आने की इन्तज़ार कर रहा था। भूखा शेर शिकार पर झपटा। शिकारी ने शेर को मार गिराया। शेर और शिकार दोनों शिकारी के हो गये। इधर जब शेर नहीं लौटा तो शेरनी उसके पीछे गयी। सारी घटना जानकर उदास अपने बच्चों के पास लौट आयी। पूछने पर उसने कहा,'' शेर मूर्खता कर बैठा। पहले मचान ढहाता, शिकारी को ठिकाने लगाता। फिर शिकार तो उसका था ही।

काश! इस देश के सभी लोग और सम्प्रदाय सोच पाते, संविधान की मचान पर बैठा नेता जंगल का आतंकवादी है अथवा राजा? वे लड़ रहे हैं अथवा लड़ाये जा रहे हैं? सारे विश्व में फैले ये ही धर्म और सम्प्रदाय. अन्यत्र क्यों नहीं लड़ रहे? भगवान उन लोगों को भी विवेक से वरद करें जो पिछले पचास साल से इस कुव्यवस्था से लड़ तो रहे हैं पर मचान की ओर उनका ध्यान ही नहीं गया।

हरि ॐ! नारायण हरि!

51

रूक्मणि मंगल एवं श्री राधा जी का श्रीकृष्ण में विलय!

रूक्मिणि मंगल की कथा मैं, पहले सुना आया हूँ। रूक्मिणि जी को पाकर द्वारिका धन्य है। रूक्मिणि जी साक्षात् लक्ष्मी का अवतार हैं। सुन्दर, सुघड़, मनोरम, पवित्र, मंगलमयी छवि। गोविन्द, साक्षात् महाविष्णु का स्वरूप हैं। रूक्मिणि जी लक्ष्मी जी का स्वरूप हैं। एक योगी और तपस्वी को भी गृहस्थ जीवन में उतार लाने का सामर्थ्य भला किसमें है?

वेदव्यास! हे रहस्य लीलाओं के जादूगर! तुम्हारा जादू एक बार फिर मेरे मस्तिष्क पर छाने लगा है। उसी स्थान पर खड़ा हूँ जहां रूक्मिणि और कृष्ण के विवाह की वेदी सजी हैं। अतीत की वह कथा अपने पात्रों के साथ मेरे मानस पटल पर उभरने लगी है।

श्रीकृष्ण, रूक्मिणि जी का उद्धार करके लाये हैं। गोविन्द का हठ है कि जब तक नन्द जी और यशोदा जी नहीं आयेंगे, वे विवाह नहीं करेंगे। दूतों द्वारा सूचना एवं निमंत्रण भेजा गया है। गोपियां और राधिका जी तथा नन्द और यशोदा जी ने आने से मना कर दिया है। दूतों द्वारा कहलवा भेजा,

"हे गोविन्द! मथुरा जाते समय तुमने शीघ्र लौटने का वचन दिया था। पर तुम कभी नहीं आये। पहले अपने अधूरे वचन को पूरा करो, स्वयं पधारों! तभी हम चलेंगे, संग तुम्हारे।"

वासुदेव स्वयं एक लम्बे अन्तराल के बाद वृन्दावन पधारे हैं। एक सुहानी है वह सुबह। वृन्दावन को जैसे उसकी आत्मा मिल गयी है। गोविन्द की छवि का वर्णन

कौन कर सकता है? ढेरों बातें। लम्बे अन्तरालों में टूटी कड़ियां और उन्हें खोजते गोप और गोपियों के भोले प्रश्न। मुस्करा कर उत्तर देते बालसखा कन्हैया। दिन यूँ ही ढल गया। सांझ की बेला गहराने लगी। राधिका जी वही चांदी की बांसुरी, जिसे स्वयं कृष्ण मथुरा जाते समय दे गये थे, गोविन्द के हाथ में रख दी है। वृन्दावन त्यागते समय श्रीकृष्ण ने अपनी बांसुरी राधा को देते हुए कहा था,

"राधिके! वृन्दावन लौटकर तुम्हारे साथ ही बांसुरी बजाऊँगा।" फिर कभी भी गोविन्द ने बांसुरी नहीं बजाई!

कंस का वध करने के उपरान्त वे कभी वृन्दावन नहीं जा सके। जरासंध के साथ निरन्तर युद्ध में फंसे रहे। समय की ठोकरों ने उन्हें मथुराधीश से द्वारिकाधीश बना दिया। चांदी की बांसुरी हाथ में लिए, उनकी मौन प्रतिक्षा करती रही राधिका जी। आज वही क्षण पुनः जुड़ गये हैं। राधिका जी ने गोविन्द के हाथ में चांदी की बांसुरी रख दी है। वासुदेव कभी बांसुरी को देखते तो कभी कृशकाय, प्रौढ़ावस्था को प्राप्त, महा तेजस्विनी, राधा जी को। राधा ने विनय पूर्वक कहा,

"हे गोविन्द! आज भी शरद पूर्णिमा की रात्रि है। चांदी के थाल जैसा बड़ा चन्द्रमा गगन में उभर आया है। आज सब गोपियां एक बार फिर तुम्हारे साथ महारास करना चाहती हैं। हे बालसखा! अपनी बांसुरी उठाओ। बांसुरी की मधुर तान में, हम अपना सब कुछ भूल जाना चाहती हैं।"

गोविन्द ने सजीधजी गोपियों और राधिका को निहारा। बांसुरी उनके होठों तक आयी और वातावरण में एक विचित्र सम्मोहन सा छाने लगा। फिर यमुना चांदी की थाल बन गयी। जल स्थिर हो उठा। अपने अन्तर में सब झूम उठे। गोपियों के संग झूम-झूम कर नाची राधा। समय एक बार फिर इस मनोरम दृष्यावली के सामने नतमस्तक हो गया।

बांसुरी की गूंज फैलती चली गयी। सम्मोहन बढ़ता गया। सम्पूर्ण वातावरण विचित्र आकर्पण से मोहक हो उठा। अष्टगन्ध की सुगन्ध फैलने लगी द्वारिकाधीश के स्वरूप में विचित्र ज्योतियों का विस्तार होने लगा। अद्भुत जगमग ज्योर्तिमय स्वरूप उनका अंग प्रत्यंग नीलाभ ज्योतियों में नृत्य करने लगा। महाविष्णु के इस ज्योर्तिमय स्वरूप को मुग्ध मोहक देखती, झूमझूम कर मदहोश नाचती गोपियां और राधिका जी। ज्योतियां फैलती गयीं। स्थान-स्थान पर प्रगट होती चली गयीं। राधिकाजी के अंग प्रति अंग से स्निग्ध ज्योतियां प्रस्फुटित होने लगीं। गोपियां ज्योतियां बन गयी। नृत्य चलता रहा। तभी! एक अद्भुत विलक्षण घटना हुई। राधिका जी सर्वांग ज्योति बन, श्रीकृष्ण के स्वरूप में व्याप्त हो गयीं। उनके रूप का लोप हो गया। न भस्मी गिरी, न धुआं हुआ। बन के स्निग्ध ज्योति, राधा गोविन्द

में व्याप्त हो गयी। नृत्य चलता रहा। पूर्णिमा का चाँद, मुग्ध मौन और अवाक् यह सब देखता रहा। नृत्य करती गोपियों के अन्तर से स्निग्ध ज्योतियां प्रगट हुई। नृत्य करती वे ज्योतियां गोविन्द में विलीन होती चली गयीं। गोपियों के शरीर चन्दन बन धरा पर गिर गये। गोपियां चन्दन हो गयीं। बांसुरी थम गयी। मौन बैठे वासुदेव! निष्पाप नन्द और यशोदा। न वहां राधा न ही गोपियां।

आज भी भक्त माथे पर गोपी चन्दन लगाते हैं। भक्त अन्तर्मन में माधव से गोपियों की गति मांगते हैं। आरती की थाल में जलती कपूर की बाती राधिका की स्मृति का भान देती है। मन ही मन आरती की थाल के संग झूमते भक्त गोविन्द से प्रार्थना करते हैं।

''हे गोविन्द! हे नारायण! जिस प्रकार राधिका जी, बन ज्योति समा गयीं थीं तुममें। पवित्र कपूर की तरह जलीं वह! न तो धुआं उठा न धूल गिरी। बन के ज्योति, राधिका समायी थीं तुममें। हे नारायण! हमें भी भक्ति दो, शक्ति दो, सामर्थ्य दो और समर्पण दो। हम भी बन के राधिका, कपूर की बाती की भांति, बन ज्योति तुममें समा जायें।''

भारी मन से लौटे गोविन्द। संग में थे नन्द जी और यशोदाजी। राधा और गोपियों ने कहा था, ''जब गोविन्द ही पधारेंगे तो उनके संग ही हम द्वारिका जायेंगी।''

श्रीकृष्ण के साथ नन्द और यशोदा जी हैं। वे गोपियां और राधिका जी कहां हैं? हाँ! वे भी लौट रही हैं द्वारिका! गोविन्द के संग, उन्हीं में व्याप्त होकर! वेदव्यास! तुम्हारी इस कथा के मर्म को मेरे अन्तरस्थल ने छू लिया है। जब तक वृन्दावन में गोपियां और राधिका जी हैं, कृष्ण को गृहस्थ होने का अधिकार भी तो नहीं है। इतने गूढ़ तत्व को तुम, कितना सरल, सरस और मोहक बनाकर सुनाते हो। जब तक राधिका और गोपियां कृष्ण को बाहर बुला रही हैं, कृष्ण गृहस्थ कैसे हो सकता है? गृहस्थ शब्द का अर्थ है गृहम्+स्थः = गृहस्थ। जो आत्मस्थ नहीं, वह गृहस्थ कैसा? जब तक साधना की वृत्तियां भी, दूरियों और अन्तरालों को लांघते, मनःस्थितियों के संग, वृन्दावन में भटक रही हैं, गोविन्द गृहस्थ नहीं हो सकते हैं। जब राधिका, साधना और तपस्या बन, सम्पूर्ण गोपियों के संग कृष्ण के अन्तर्हृदय में विराज जाये, तभी तो कृष्ण अन्तर्मुखी होंगे। जब तक वे अन्तर्मुखी नहीं होंगे आत्मारूपी घर में किस प्रकार स्थित हो सकते हैं? क्योंकर गृहस्थ हो सकते हैं? हे जादूगर! गृहस्थ धर्म की अनूठी व्याख्या, मैं तुमसे ही पाता हूँ। वे ही गृहस्थ धर्म के अधिकारी हैं जिन्होंने अपनी साधना, इच्छाओं, अतृप्तियों और सम्पूर्ण चाहतों को, आत्मस्थ कर लिया हो।

जिनके बाहर भटकते हुए संसार हैं, वे गृहस्थ धर्म का एक नाटक, नौटंकी ही

कर रहे हैं परन्तु गृहस्थ कदापि नहीं हो सकते हैं। हे अनूठे जादूगर। तुम्हारी इस कल्पना को मैं सहस्त्र-सहस्त्र प्रणाम करता हूँ।

बन के गृहस्थ लौटा है, गोविन्द द्वारिका में। रूक्मिणि के साथ उसका विवाह हो रहा है। रूक्मिणि और कृष्ण के मंगल की अद्भुत बेला है। द्वारिका दुलहिन सी सजी है। गोविन्द को पाकर रूक्मिणि जी धन्य हैं तथा रूक्मिणि को पाकर, कृष्ण के संग सम्पूर्ण द्वारिका!!

हरि ॐ! नारायण हरि!

52

मणि की चोरी!

जब ईश्वर भी धरा के मानव को पवित्र और निष्कलंक करने आता है, तो उसे स्वयं कलंकित होना पड़ता है। श्रीकृष्ण को मणि की चोरी का कलंक लगा था। भगवान श्रीकृष्ण सुधर्मासभा के अध्यक्ष थे। सुधर्मासभा ही सुर विचारधाराओं की प्रतिष्ठा एवं न्याय के लिए मानवीय मूल्यों पर आधारित कानून एवं व्यवस्थायें बनाने के निर्णय में समर्थ थी। वे मूल्य जिनके लिए श्रीकृष्ण जीवन पर्यन्त लड़े, उनकी स्थापना का अधिकार व्यापक रूप से सुधर्मा सभा को था। कोई भी साधारण नागरिक उस सभा में व्यक्तिगत रूप से उपस्थित होकर निःसंकोच अपनी पीड़ाओं को प्रकट कर सकता था। आधुनिक भारत के प्रजातंत्र की तरह का प्रजातंत्र हमें अतीत में देखने को नहीं मिलता। प्रजाजनों को अपनी बात कहने का व्यापक अधिकार था। उन्हें मैटेल डिटैक्टर से होकर भी नहीं जाना पड़ता था। अपनी बात कहने के लिए लम्बी प्रतीक्षाओं की भी उन्हें आवश्यकता नहीं थी। राजा प्राणीमात्र की समर्पित सेवाओं तथा उनके सुखद जीवन का प्रतीक होता था। प्रजाजनों के लिए सदैव उत्तरदायी था।

सत्यजित एक ऐसे चरित्र हैं, जिनका श्रीकृष्ण अत्यधिक सम्मान करते हैं। वे शूरवीर योद्धा तथा परम् तपस्वी हैं। सूर्य की तपस्या कर, वरदान के रूप में उन्होंने सूर्य देव से एक मणि पाई है। विलक्षण प्रतिभा से युक्त मणि की भव्य छटा देखते ही वनती है। मणि को लेकर उनके मित्र ओर सहयोगियों ने अन्जाने ही उनको सलाह दी कि क्यों न इस मणि को द्वारिकाधीश को अर्पित कर दिया जाये, जिससे यह मणि भी धन्य हो जाये। इस मणि की शोभा नीलाभ मणियों के स्वामी श्रीकृष्ण

के वक्षस्थल पर है।

बात चन्द मित्रों के बीच ही थी, लेकिन सत्यजित भयभीत हो उठे। वे मणि को छुपाकर रखने लगे। उन्हें डर है कि कहीं वासुदेव उनसे मणि की मांग न कर बैठें। श्रीकृष्ण ने सुना तो उन्होंने सत्यजित को आश्वासन दिया कि वे मणि कदापि नहीं लेंगे। मणि सत्यजित की है। उसकी तपस्या का फल है। भला कृष्ण क्यों लेने लगे। परन्तु सत्यजित भयभीत हैं और वे अपनी ही धरोहर को चोरों की तरह छुपा कर रखते हैं।

सत्यजित का भाई वन में आखेट के लिए जाता है। उसके गले में वह मणि पड़ी है। आखेट की भावना से वह बहुत दूर, दूसरे प्रदेश में चला जाता है। द्वारिका की सीमा के भीतर आखेट वर्जित है। श्रीकृष्ण निरीह जीवों की हत्या के प्रबल विरोधी हैं। दूर वन में आखेट की खोज में सत्यजित के भाई की मृत्यु हिंसक पशु के द्वारा हो जाती है।

देर सायं तक जब अपने भाई को नहीं पाते हैं तो सत्यजित भयभीत हो उठते हैं। भाई से अधिक पीड़ा उस मणि के प्रति है जो उसके भाई के गले में पड़ी हुई है। पूरी रात चहल कदमी करते बीत जाती हैं सत्यजित के मन में यह विचार बैठ जाता है कि सम्भवतः श्रीकृष्ण ने मणि के लालच में उसके भाई की हत्या कर दी। वे हर ओर अपने भाई को खोजने के लिए जाते हैं परन्तु उनकी मुलाकात नहीं हो पाती है। दुःख क्रोध और पीड़ा से भ्रमित सत्यजित सुधर्मासभा में प्रवेश करते हैं। द्वारिकाधीश भगवान श्रीकृष्ण अध्यक्ष पद पर विराजमान हैं। श्रीबलराम जी सुधर्मा सभा का संचालन कर रहे हैं। तभी सत्यजित सभा में प्रवेश कर, कृष्ण पर आरोप लगाते हैं,

''द्वारिकाधीश आपने मणि के लालच में मेरे भाई की हत्या की है। मैं भरी सभा में अपने भाई की हत्या तथा मणि के चुराने के लिए आपको अपराधी एवं दोषी मानता हूँ।''

सम्पूर्ण सभा स्तब्ध रह जाती है। वासुदेव आश्चर्य से सत्यजित की ओर देखते हैं। वे समझ नहीं पाते हैं। श्रीबलराम तथा अन्य सभासद भी क्रोधित हो उठते हैं। श्रीकृष्ण निर्विकार भाव से सुधर्मा सभा के अध्यक्ष का मुकुट उतार कर बलराम को सौंप देते हैं। सारी सभा तड़प उठती है। श्रीकृष्ण से मुकुट का परित्याग न करने की प्रार्थना करती है। वे सब कहते हैं कि, ''सत्यजित ने जो कुछ भी कहा, वह प्रमाणिक नहीं है। इसलिए श्रीकृष्ण को मुकुट उतारने की कोई आवश्यकता नहीं है।'' वे सब क्रोधित हैं। सत्यजित को धमकाने लगते हैं। श्रीकृष्ण सबको ऐसा करने से मना करते हैं। वे सबको समझाते हैं कि, ''सभा में सभी समान हैं। सब

के साथ न्याय की व्यवस्था और अधिकार समान हैं। यह भी सत्य है कि मैं निर्दोष हूँ। परन्तु जब तक मणि का पता नहीं लग जाता है, स्वयं को दोष मुक्त नहीं कर लेता हूँ, मुझे मुकुट धारण करने का अधिकार नहीं है।''

ऐसा कहकर वे सब को शान्त करते सत्यजित के पास जाते हैं और पुनः कहते हैं,

''मित्र सत्यजित! मैं शपथपूर्वक कहता हूँ कि इस घटना के विषय में, मैं सर्वथा अनभिज्ञ हूँ। न तो मैंने तुम्हारे भाई की हत्या की है तथा न ही मणि चुराने की लालसा मुझे हैं। परन्तु, फिर भी जब तक तुम्हारे भाई को खोज नहीं लेता, मैं मुकुट धारण नहीं करूँगा। अब तुम शांत और संयत मन से मुझे सारी घटना बताओ।''

श्रीकृष्ण के विनम्र वचनों से सत्यजित रोने लगता है। अपने भाई द्वारा मणि को पहन कर चुपके से आखेट की ओर जाने की बात बतलाता है। उसके बताये हुए मार्ग पर श्रीकृष्ण और उनके सहयोगी, सत्यजित के साथ उसके भाई को खोजने चल देते हैं। जंगल में पद चिन्हों को खोजते हुए, सभी के साथ उस स्थान पर आते हैं जहां उसका भाई तथा अश्व दोनों ही मरे पड़े हैं। साथ में सिंह भी मरा हुआ पड़ा है, जिसके पंजों से उन दोनों की मृत्यु हुई है। दृश्य का अवलोकन करने के उपरान्त सभी इस निर्णय पर पहुंचते हैं कि सत्यजित ने सिंह को बाण मारा। उसके उत्तर में सिंह ने सत्यजित के भाई पर आक्रमण किया तथा उसने उसके अश्व को भी मार डाला। परन्तु घायल सिंह को दूसरे बाण से किसी अन्य योद्धा ने मारा तथा सत्यजित के भाई के गले से मणि उतार कर, वह अपने साथ ले गया। उस अजनबी के पद चिन्हों का पीछा करते हुए श्रीकृष्ण एवं उनके सहयोगी एक जंगली राजा जामवंत के प्रदेश में प्रवेश कर जाते हैं। वहां पर उन्हें वहां के नागरिक से पता चलता है कि दूसरे शिकारी भीलराज जामवंत ही थे तथा मणि उन्हीं के पास है। श्रीकृष्ण अपने सहयोगियों के साथ उनके पास जाते हैं। उनसे मणि लौटाने की प्रार्थना करते हैं। परन्तु जंगली राजा मणि लौटाने के लिए तैयार ही नहीं है। महाराज जामवंत का कहना है कि सत्यजित का भाई उनके प्रदेश में आखेट कर रहा था, जो कि स्वयं में अपराध है। पुनः जिस शेर के द्वारा वह मारा गया, उस शेर को जामवंत ने मारा। इसलिए मणि पर जंगली राजा जामवंत का ही अधिकार है। श्रीकृष्ण बहुत समझाते हैं। परन्तु राजा जामवंत जिद करते हैं कि वे मणि सहज में नहीं देंगे। श्रीकृष्ण चाहें तो युद्ध में जीत कर मणि ले जावें।

श्रीकृष्ण भली प्रकार जानते हैं कि युद्ध का अर्थ है इस सम्पूर्ण जंगली जाति और सम्प्रदाय का पूर्ण विनाश। व्यर्थ नरसंहार को बचाने के लिए श्रीकृष्ण जंगली राजा जामवंत के सामने एक प्रस्ताव रखते हैं। प्रस्ताव है कि श्रीकृष्ण और जामवंत

आपस में मल्लयुद्ध करें, जो जीते मणि उसकी। जंगली राजा कृष्ण की शर्त को स्वीकारते हुए कहते हैं,

"मेरे मन की साख पूरी हुई। मैं बहुत दिनों से आपके साथ लड़ना चाहता था। आपके शौर्य और वीरता की बहुत सी कथायें और गीत, मैंने लोक गायकों के द्वारा सुने हैं। चारण और भांड आपकी कथा गाते नहीं अघाते हैं। आपसे युद्ध कर मैं परम सुख को प्राप्त होऊँगा। हे श्रीकृष्ण! यदि मैं जीत गया तो मैं आपको जान से मार डालूंगा। इस प्रकार धरती का सबसे बलशाली योद्धा कहलाऊँगा। यदि आप जीत जायें, तो आप को अधिकार है, कि मुझे मार दें तथा मणि को ले जावें। मुझे आपकी चुनौती स्वीकार है।"

सत्यजित ने वासुदेव को मना करना चाहा। उसके मन में दुख और पश्चाताप भी है। व्यर्थ में श्रीकृष्ण को कलंकित किया। जबकि वासुदेव पूर्णतः निर्दोष हैं। सत्यजित नहीं चाहता कि मणि के लिए श्रीकृष्ण अपने जीवन को खतरे में डालें। सत्यजित की उपेक्षा कर, श्रीकृष्ण अखाड़े में उतर आते हैं। दोनों योद्धा एक दूसरे से भिड़ जाते हैं। कई दिन और कई रात निरन्तर युद्ध में जूझते हुए, अन्त में जामवंत, भगवान श्रीकृष्ण के द्वारा परास्त होता है। जामवन्त को अपनी पराजय स्वीकार है। वह श्रीकृष्ण का आवाहन करता है कि श्रीकृष्ण जामवन्त को समाप्त कर दें। भगवान श्रीकृष्ण चित पड़े असहाय जामवन्त को उठाकर कहते हैं,

"अपने शत्रु जामवन्त को इस युद्ध में समाप्त कर चुका हूँ। हे मित्र! जामवन्त! तुम उठो! और मेरे सीने से लग जाओ। तुम्हें मारकर मुझे वह सुख नहीं मिलेगा, जो सुख तुम्हें मित्र बनाकर मुझे मिलेगा।"

जामवन्त के नेत्र अश्रुप्लावित हो उठे हैं! वे कृष्ण के सीने से लिपट जाते हैं और कहते हैं, "मैं तुम्हें जान से मारने का संकल्प लेकर अखाड़े में उतरा था। हे गोविन्द! तुम मुझे मार सकते थे। मैं पराजित हो चुका था। फिर भी मुझे मारने के बजाये, तुम मुझे मित्र और सखा बना रहे हो। हे सखा! मैं सदा-सदा के लिए तुम्हारा हो गया।"

जामवन्त तथा उनके अन्य सभासदों ने श्रीकृष्ण एवं उनके सहयोगियों का अभिनन्दन एवं आतिथ्य किया। जामवन्त ने मणि श्रीकृष्ण को अर्पित करते हुए, साथ ही एक प्रार्थना की, "मित्र! मणि तो तुम्हें दे ही रहा हूँ! परन्तु एक विनम्र प्रार्थना और करना चाहता हूँ?"

"कहो मित्र क्या कहना चाहते हो?"

"हे गोविन्द! मेरे यहां से आप बिना कुछ ग्रहण किये जायें। यह मेरे द्वार की शोभा न होगी। मेरी भेंट को स्वीकार कर ले जाना होगा।"

वासुदेव कुछ समझते नहीं हैं। वे इतना तो जानते हैं कि जामवन्त मित्र के नाते उपहार स्वरूप कृष्ण को कुछ भेंट देना चाहते हैं। जामवन्त की इच्छा के लिए कृष्ण उसके द्वारा दी हुई भेंट को स्वीकार करने की बात मान लेते हैं। कृष्ण को कल्पना भी नहीं है कि जामवन्त अपने मित्र को भेंट के स्वरूप में क्या देने जा रहे हैं?

कुछ समय के उपरान्त जामवन्त अपनी पुत्री जामवती के साथ श्रीकृष्ण को प्रणाम करने आते हैं। धन, ऐश्वर्य और रत्नों के सहित अपनी पुत्री जामवती को अर्पित कर देते हैं।

गोविन्द स्तब्ध हैं। जामवन्त ऐसा करे, इसकी उन्हें कल्पना भी नहीं थी। उपहार पाने से पहले वे अपनी स्वीकारोक्ति प्रदान कर चुके थे। विचित्र धर्म संकट है। वासुदेव मौन स्तब्ध चल देते हैं वहां से।

एक योगी और तपस्वी की भांति जिन्होंने जीवनपर्यन्त ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया। रूक्मिणि की कामनाओं के लिए जो गृहस्थ बने! ऐसे कृष्ण के लिए नया उपहार एक विचित्र संकोच सा बनकर रह जाता है। रूक्मिणि से भी उन्हें एक पुत्र की ही प्राप्ति हुई है। उसके उपरान्त वे दोनों योगी और तपस्वी की भांति ही गृहस्थ होकर भी जी रहे हैं। गोविन्द के मन में रूक्मिणि का मुखड़ा बारम्बार उभर रहा है। भला वे रूक्मिणि को क्या उत्तर देंगे? क्या कहेंगे उससे? वे सम्पूर्ण अधिकार जिन्हें वे पहले ही रूक्मिणि को अर्पित कर चुके हैं, उन अधिकारों का अब वे स्वयं किस प्रकार पुनः प्रयोग कर सकते हैं? उनके अन्तर मन में भीषण द्वन्द युद्ध मचा हुआ है। उन्हें लगता है कि पराजित जामवन्त ने एक अमूल्य भेंट देकर, उन्हें ही पराजित कर दिया है। द्वारिका पहुँचकर श्रीकृष्ण, जामवती तथा मणि दोनों को ही सत्यजित के यहां भिजवा देते हैं। उनमें इतना साहस नहीं है कि वे राजकुमारी जामवती को रूक्मिणि के पास ले जावें। सहज, संकोची, मर्यादित वासुदेव के लिए स्वप्न में भी यह सम्भव नहीं है।

एक विचित्र अन्तर्द्वन्द है। एक ओर उन्हें लगता है कि वे निष्पाप भोली जामवती के साथ अन्याय कर रहे हैं। भला इसमें उसका क्या दोष है? उसके पिता ने उसे कृष्ण को अर्पित कर दिया है। एक राजपरिवार की कन्या, दूसरे राजपरिवार में उपेक्षित क्यों हो? यह तो उसके साथ सरासर अन्याय है। दूसरी ओर रूक्मिणि के साथ भी तो अन्याय नहीं हो सकता है। जिन अधिकारों को श्रीकृष्ण, अग्नि के सम्मुख रूक्मिणि जी को अर्पित कर चुके हैं। उसका वे पुनः प्रयोग किस प्रकार कर सकते हैं? एक विचित्र अन्तर्द्वन्द है, जो श्रीकृष्ण के निर्मल, शान्त हृदय को भी विचलित किये जा रहा है। विपरीत विचारों के तूफानों में गोविन्द घिरे, अपनी परछांई से भी एकान्त ढूँढ़ रहे हैं। न जाने क्यों वे रूक्मिणि जी का भी सामना नहीं

करना चाहते हैं। उनसे भी कतराने लगे हैं।

दूसरी ओर सत्यजित भी बहुत दुखी हैं। श्रीकृष्ण ने मणि तथा उपहार में मिले सारे आभूषण रत्न, जामवती सहित सत्यजित को भेज दिये हैं। वे उन वस्तुओं को अपने पास रखने के लिए तैयार भी नहीं हैं। सत्यजित विचलित हैं वे श्रीबलराम जी के पास जाकर उनके सम्मुख सारी समस्या कहते हैं। बलराम सारी कथा सुनकर हंसते हैं। वे सत्यजित से कहते हैं, कि सत्यजित परेशान न हो। कृष्ण को निर्णय लेने का समय मिलना ही चाहिए!

श्रीकृष्ण के व्यवहार में प्रकट हुई उपेक्षा से रूक्मिणि भी चिन्तित और व्यथित हैं। वे कारण जानना चाहती हैं परन्तु गोविन्द कुछ बताते ही नहीं हैं। तभी सत्यजित की मणि की कथा का पता उन्हें चलता है। रूक्मिणि सत्यजित को बुलाकर उससे सम्पूर्ण जानकारी लेती हैं। भयभीत सत्यजित, मणि की चोरी से लेकर, जामवन्त की पराजय तथा भेंट आदि की सारी कहानी सुनाता है। जामवती सत्यजित के यहां उपेक्षित हो रही है। ऐसा जानकर रूक्मिणि जी व्याकुल हो उठती हैं। वे तत्क्षण सत्यजित के यहां जाकर जामवती से मिलती हैं। डरी हुई भयभीत, हरिणी सी जामवती, रूक्मिणि का स्नेह पाकर रोने लगती है। जामवती नहीं जानती है कि श्री कृष्ण उसकी उपेक्षा क्यों कर रहे हैं। उसका क्या अपराध है? रूक्मिणि उसे असीम स्नेह एवं प्यार देती हैं। उसको सान्त्वना प्रदान करती हैं। लौटकर रूक्मिणि स्वयं श्रीकृष्ण का सामना करती हैं। वे कृष्ण से कहती हैं कि गोविन्द! जामवती के साथ अन्याय न करें। उसे पत्नी के रूप में ग्रहण करें। माधव के लिए ऐसा करना असह्य है। इसी बीच श्रीबलराम जी आकर श्रीकृष्ण को समझाते हैं। श्रीकृष्ण फिर भी ऐसा करने को तैयार नहीं हैं। तब श्रीबलराम जी कृष्ण को धमकी देते हैं। बलराम इस समस्या को सुधर्मा सभा में ले जायेंगे। उस अवस्था में श्रीकृष्ण को अपनी भूल पर पश्चाताप निश्चित ही करना होगा। सत्यजीत भी वासुदेव के चरणों को पकड़ कर उनसे प्रार्थना करते हैं कि वे जामवती के साथ अन्याय न करें। हताश, सभी ओर से पराजित, श्रीकृष्ण परिस्थितियों के सामने समझौता कर लेते हैं।

मंगल बेला में, यज्ञ के सम्मुख, सर्वप्रथम सत्यजित जामवती का पुत्री के रूप में वरण करते हैं। सत्यजीत की पुत्री होने के कारण, जामवती का नया नाम पड़ जाता है - सत्यभामा। सत्यजीत की पुत्री, सत्यभामा का विवाह श्रीकृष्ण के साथ होता है। रूक्मिणि के सुख और प्रसन्नता का ठिकाना नहीं है।

अतीत की इस कथा में समय ने बहुत कुछ भ्रम उत्पन्न किये हैं। श्रीकृष्ण के साथ 16 हजार से 64 हजार तक पत्नियों की चर्चा भी आयी है। यह सत्य नहीं हैं। इतिहास पुरूष, भगवान श्रीकृष्ण के केवल दो ही विवाह हुए थे। रूक्मिणि से

उन्हें एक पुत्र रत्न की प्राप्ति हुई। जिसका नाम प्रद्युम्न। सत्यभामा से भी उन्हें एक पुत्र प्राप्त हुआ जिसका नाम रखा गया साम्ब। साम्ब का विवाह दुर्योधन की बेटी लक्ष्मणा के साथ हुआ था। इस प्रकार दुर्योधन और श्रीकृष्ण आपस में समधी भी थे। जिन देवियों को कृष्ण ने असुरों के बन्दीगृहों से छुड़ाया था उनको लेकर कालान्तर में इतिहासकार, सम्भवतः नाना पत्नियों की बात कर रहे हैं। यह इतिहास सत्य नहीं है।

अध्यात्म की दृष्टि में, एक परमेश्वर, घट-घट वासी आत्मा होकर, प्रकृति के असंख्यों स्वरूपों का वरण करता है। इस कथा में असंख्यों पत्नियों के होने की कल्पना स्वयं सिद्ध है। एक आत्मा परमेश्वर ही पति है तथा सम्पूर्ण जीवमात्र उसकी प्रेयसी पत्नियां। सम्भव है कि अध्यात्म में जुड़ी इस कथा में, असंख्यों पत्नियों के लीलात्मक घटनाक्रम भी शामिल हो गये हैं। अष्ठ पत्नियों की बात भी विशुद्ध आध्यात्मिक है। इतिहास पुरूष और आध्यात्म पुरूष, दोनों जुड़कर, एक होकर, इन कथाओं में चले हैं। सम्भवतः इसीलिए कथाओं में समय के साथ भ्रम उत्पन्न हो गये। अष्ठ प्रकार जड़ प्रकृति ही आत्मा की आठ पत्नियों के रूप में दर्शायी गयी हैं। अपरा और परा प्रकृति से ही पत्नी और प्रेयसी के रूपों में, आध्यात्मिक कथा में दर्शाया गया है। अष्ट प्रकार की जड़ प्रकृति आठ पत्नियां तथा नवीं चैतन्य प्रकृति प्रेयसी राधिका है। इस आध्यात्मिक कथा में भी, हम परिचित होते चलें।

गोविन्द की आठ पत्नियां अर्थात् आठ प्रकार की प्रकृति है। एक प्रेमिका भी है राधिका। राधिका जी वृषभानु दुलारी हैं। 12 राशियों के क्रम में दूसरी राशि का नाम वृष है। यथाः मेष, वृष, मिथुन आदि। वृष राशि में भानु अर्थात् सूर्य कब आते हैं? ज्येष्ठ, अषाढ़ में। अर्थात् मई, जून की तपती दुपहरी, अर्थात् तपस्वीयों का तप ही श्री राधा है। राध माने ज्योति। राधा माने ज्योतियों वाली, तपस्या। अष्ट पत्नियां, आठ प्रकार की प्रकृति है तथा नवीं प्रेमिका चैतन्य प्रकृति, राधा हैं। पत्नी और प्रेमिका में भेद है। कैसे?

पत्नी का पति पर अधिकार बोध है। कृष्ण हमारे पति हैं। पत्नी होने के कारण, उन पर हमारा अधिकार है। परन्तु राधिका का कृष्ण पर क्या अधिकार? पत्नियां कहती हैं श्रीकृष्ण हमारे हैं। राधिका जी कहती हैं कि मैं कृष्ण की हूँ। यही भेद है। आठ प्रकार की जड़ प्रकृति में और नवीं प्रकृति राधा में। आठ प्रकृति, अष्ठ सिद्धियों के रूप में प्रकट हुई तथा राधिका जी, समर्पित योग का स्वरूप, भक्ति की अवधारणा हैं। दोनों मार्गों में विपरीत भाव है। बहुत बड़ा भेद है।

सिद्धजन, देवी देवताओं को सिद्धि करते हैं। उन पर अधिकार जमाते हैं। यथा हमने देवी को अथवा देवता को सिद्ध किया है। जबकि योगी, स्वयं को परमेश्वर

रूपी सागर में विसर्जित करता है। सिद्ध कहता है कि अमुक देवी देवता मेरे द्वारा सिद्ध हैं। योगी कहता है, मैं स्वयं को ईश्वर में व्याप्त करता हूँ।

इसी प्रकार पत्नियां कहती हैं कि श्रीकृष्ण हमारे हैं। राधिका कहती हैं कि मैं उनकी हूँ। राधिका जी कहती हैं कि श्रीकृष्ण तो सागर हैं। मैं एक छोटा लोटा हूँ। यदि श्रीकृष्ण पर आज अधिकार जताऊँगी, तो वे प्रेमवश मेरे अधिकार को भी सम्मानित करेंगे ही। भगवान तो भक्त की हर इच्छा पूरी करते हैं। परन्तु मुझे सम्मान देते समय, श्रीकृष्ण रूपी सागर को लोटे में संकीर्ण ही होना पड़ेगा। मैं उनकी महिमा ही तो घटाऊँगी। मैं ऐसा कदापि नहीं करूँगी। मैं तो लोटा हूँ। क्यों न स्वयं को कृष्ण रूपी सागर में मिला दूँ। मिलकर उनमें, सागर का सम्मान पाऊँ। गोविन्द की महिमा भी न घटे। इस तत्व का नाम राधा अर्थात समर्पित भक्ति है।

सम्भवतः गूढ़ आध्यात्म की इन सरस कथाओं के इतिहास के साथ लिपट जाने के कारण, इतिहास कथाओं में संकोची, सरल, शिष्ट, मधुर एवं वीतराग योगी सर्व सुखद श्रीकृष्ण के साथ, नाना पत्नियों की कल्पना की गयी है।

हरि ॐ! गोविन्द हरि!

53

पारिजात-युद्ध!

इतिहास, आध्यात्म तथा प्रकृति की त्रिवेणी पर खड़ा श्रीकृष्ण का कथा काव्य विलक्षण है। तीनों धारायें एक दूसरे से मिलकर इस प्रकार एकरूप हो जाती हैं कि तीनों स्तरों को अलग करना, बहुत बार सम्भव नहीं रहता है। एक हो गयी त्रिवेणी की धारायें जब महाकाव्य में छितराती हैं, तो ज्ञान-विज्ञान की असंख्यों धाराओं के रूप में प्रकट हो जाती हैं। वेदव्यास! हे रहस्य लीलाओं के जादूगर! भीषण दुर्घटनाओं को भी आध्यात्म का सरस स्वरूप देकर तुम उन्हें वेदोन्मुख बना देते हो। पारिजात कथा कुछ ऐसी ही कहानी है। अन्तर्मन में रहस्य लीला का यही कथाक्रम, एक बार फिर करवटें लेने लगा है। सम्मोहन का जादू कथा बनकर छाने लगा है। मन होता है कि एक बार फिर तुमको तुम्हारी रहस्य लीला सुना दूं।

इन्द्र हैं देवलोक के राजा, देवताओं के अधिपति। श्रीकृष्ण है सचराचर के स्वामी, स्वयं महाविष्णु के अवतार। श्रीकृष्ण जीवमात्र के सृष्टा हैं, तो देवराज इन्द्र हैं एक रक्षक। एक पेड़ को लेकर दोनों में भीषण संग्राम हो गया था। कथा इस प्रकार है।

कथा के सूत्र हैं, नारद जी। नारद जी न आवें, तो झगड़ा ही नहीं होता है। झगड़ा ही न हो तो नारद जी का मन ही नहीं लगता है। एक पेड़ है पारिजात का। क्षीरसागर के मंथन के समय, बहुत सी अलभ्य वस्तुएं प्रकट हुई थीं। उसमें एक था कल्पवृक्ष तथा दूसरा वृक्ष था पारिजात। पारिजात वृक्ष को महाविष्णु ने देवराज इन्द्र को देते हुए कहा था, ''देवेन्द्र यह पारिजात वृक्ष तुम्हारे पास मैं पृथ्वी की धरोहर के रूप में रखता हूँ। तुम देवलोक के अधिपति हो तथा पृथ्वी भी तुम्हारे अधिपत्य में आती है, इसलिए इस वृक्ष को पृथ्वी की धरोहर के रूप में अपने पास रखो।''

देवेन्द्र ने पारिजात वृक्ष को महाविष्णु से ग्रहण किया और उसे देवलोक ले आये। देवेन्द्र की पत्नी, महारानी शचि को पारिजात का वृक्ष अत्यधिक भा गया। वे पारिजात वृक्ष पर मोहित हो उठीं। देवेन्द्र से प्रार्थना करके इस पारिजात वृक्ष को उन्होंने अपने उद्यान में लगा दिया। उस वृक्ष से उन्हें अत्यधिक मोह हो गया। अपने हाथ से उसे सींचती तथा सभी प्रकार से उसकी रक्षा करती। उस वृक्ष की एक विशेषता भी थी। उसका पुष्प बड़ा ही मनोरम, सुगन्धित एवं सुन्दर तो था ही। उसमें एक विशेषता और भी थी। जो भी सुन्दरी पारिजात के पुष्प को अपने जूड़े से लगा लेती थी, उसका सौंदर्य सहस्त्र गुणा और अधिक बढ़ जाता था। वह मात्र पुष्प ही नहीं था बल्कि वह नारी के सौंदर्य का सर्वाधिक मूल्यवान आभूषण था। ऐसे थे पुष्प उस पारिजात वृक्ष के। जो भी देवी उस फूल को अपने जूड़े में टांक ले, उसकी सुन्दरता एक हजार गुना अधिक बढ़ जाये, जिससे वह और अधिक सुन्दर और मोहक हो उठे। भला आप ही बताइये, कि रानी शचि को उस पेड़ से मोह क्यों न होता। यह पेड़ ही झगड़े की जड़ बना।

एक बार नारद जी क्षीरसागर से श्रीकृष्ण के धाम की ओर जा रहे थे। मार्ग में उन्हें तैरता हुआ एक पारिजात का पुष्प दिखा। नारद जी ने पुष्प को उठा लिया। नारद जी पुष्प के रहस्य को जानते थे। पुष्प को लेकर नारद जी भगवान श्रीकृष्ण की सभा में प्रकट हो गये। सभा भवन में वासुदेव अपनी दोनों पत्नियों के साथ शोभायमान थे। रूक्मणि जी एवं सत्यभामा जी गोविन्द के पास बैठी थीं। नारद जी ने वहां प्रकट होकर, भगवान श्रीकृष्ण के दर्शन किये। कृष्ण की दृष्टि भी नारद के हाथ में रखे पुष्प पर गयी। गोविन्द चौंक उठे। उन्हें भी लगा कि आज नारद जी कुछ उत्पात करके रहेंगे।

भगवान ने उठकर नारद जी का स्वागत और आतिथ्य किया। नारद जी आसन पर विराजे। श्रीकृष्ण ने कुशल क्षेम पूछा तथा आने का कारण पूछा। नारद जी ने उत्तर दिया,''हे गोविन्द! आप ही की मंगलमूर्ति के दर्शन की कामना लेकर चला आ रहा था, मार्ग में क्षीरसागर में मुझे यह तैरता हुआ पुष्प मिला है। भगवन्! यह पुष्प अति विलक्षण है। जो भी नारी इस पुष्प को अपने जूड़े में लगा लेगी, उसकी सुन्दरता सहस्त्र गुना बढ़ जायेगी। यह पारिजात का वृक्ष महारानी शचि के उद्यान में लगा हुआ है। पता नहीं कैसे यह पुष्प वृक्ष से टूटकर क्षीरसागर में तैर रहा था? आपको भेंट करने के लिए, नारायण! मैं यह पुष्प लेते आया हूँ। कृपया इसे स्वीकार करें।''

यह कहते हुए नारद जी ने वह पुष्प भगवान श्रीकृष्ण को अर्पित कर दिया। फंस गये कन्हैया। पुष्प तो है एक और पत्नियां हैं दो। किसको दें वह पुष्प? नारद

जी ने तो अपना खेल आरम्भ कर दिया। वासुदेव के हाथ से पुष्प रूक्मिणि ने ले लिया। उचित तो यही होता कि पहले उस पुष्प को सत्यभामा को देतीं। परन्तु ऐसा न करके, लोभवश, उन्होंने पुष्प को अपने जूड़े से लगा लिया। रूक्मिणि का सौंदर्य एक हजार गुना अधिक दमक उठा। सारी सभा अपलक उन्हें देखती रह गयी। चारों ओर से सौंदर्य की प्रसंशा होने लगी। सत्यभामा जी बुझ गयीं। दुःखी होकर वे सभा भवन से चली गयी। श्रीकृष्ण सब समझ रहे थे। नारद जी ने आग लगा ही दी है। क्या करते बेचारे? गोविन्द भी चल दिये सत्यभामा को मनाने। सत्यभामा तो कोपभवन में विराज गयी थीं। श्रीकृष्ण भी वहां पर गये। उन्होंने सत्यभामा को समझाते हुए कहा,

"हे रानी! दुख मत करो। एक ही पुष्प था। मैं नारद को भेज कर अभी दो पुष्प तुम्हें मंगवा देता हूँ।"

सत्यभामा नहीं मानी। उन्होंने दुःखी होकर गोविन्द से कहा,

"आपने भरी सभा में मेरा अपमान किया है। आपने सबके सामने ऐसा करके यह सिद्ध किया है कि आप रूक्मणि को ही चाहते हैं। मुझ को नहीं। मैं एक जंगली राजा की बेटी हूँ। उपहार के रूप में आपको अर्पित की गयी हूँ। भला मेरा स्थान रूक्मिणि जी के साथ कैसे हो सकता है?" गोविन्द समझाते रहे पर सत्यभामा नहीं मानी। सत्यभामा ने अन्न जल का परित्याग कर दिया। वे कोपभवन में ही तपस्या करने लगी। कृष्ण के बारम्बार समझाने पर सत्यभामा राजी हुई परन्तु उन्होंने एक शर्त रखी,

"हे गोविन्द! यदि तुम सचमुच मुझे प्रसन्न देखना चाहते हो, तो मुझे एक पुष्प नहीं चाहिए, मुझे पूरा पारिजात का पेड़ मंगाकर दीजिए! जिससे मैं प्रति दिन, रूक्मिणि को, एक पुष्प दिया करूं।

श्रीकृष्ण ने नारद जी से कहा,

"मित्र! आप देवेन्द्र के पास जायें तथा मेरी ओर से देवेन्द्र से विनती करें कि वह पारिजात वृक्ष दे दें। कुछ ही दिनों के लिए दे दें। सत्यभामा को मनाकर, इस पेड़ को मैं पुनः लौटा दूंगा। आप अतिशीघ्र जायें। सत्यभामा ने अन्न जल का परित्याग कर दिया है।"

नारद जी बड़े प्रसन्न हुए। बेकार घूम रहे थे। अब उनकी बाकायदा नियुक्ति हो गयी। वीणा उठायी और 'नारायण' गाते हुए देवेन्द्र की ओर चल दिये। देवेन्द्र की सभा में प्रकट हुए देवर्षि नारद। देवेन्द्र ने उनका स्वागत किया। उचित आसन प्रदान किया, सत्कार आदि करने के उपरान्त नारद जी से आने का कारण पूछा। नारद जी ने उत्तर दिया,

"देवेन्द्र! मुझे क्षीरसागर में पारिजात का एक पुष्प मिल गया था। वह पुष्प ले जाकर मैंने भगवान श्रीकृष्ण को अर्पित किया है। पुष्प को रूक्मिणि ने ग्रहण कर लिया है। जिससे सत्यभामा दुखी हैं। देवेन्द्र! श्रीकृष्ण ने मुझे आप के पास पारिजात वृक्ष लाने के लिए भेजा है। उन्होंने कहलाया है कि भले ही कुछ दिनों के लिए ही सही, पारिजात वृक्ष उन्हें प्रदान कर दें।"

"नारद जी भला श्रीकृष्ण को कौन नहीं जानता। वे स्वयं महाविष्णु का अवतार हैं। गोवर्धन धारण कर, उन्होंने मेरे भी अज्ञान को दूर किया है। हे नारद! क्षीरसागर मंथन के समय, पृथ्वी की धरोहर के रूप में, पारिजात वृक्ष महाविष्णु ने ही मुझे प्रदान किया था। उन्हीं की धरोहर है। वे जब चाहें ले जा सकते हैं। नारद जी आप रुकें। मैं अभी दूतों को भेजकर वृक्ष को मंगाये देता हूँ आप लेते जायें।"

नारद जी चौंक उठे। अरे! यह तो सेतमेत में पेड़ दिये दे रहे हैं। उन्होंने देवेन्द्र से कहा, "देवेन्द्र! मामला अतिशीघ्रता का है। सत्यभामा जी ने अन्न जल का परित्याग किया हुआ है। यदि आप आज्ञा करें तो दूत के साथ जाकर, उस पेड़ को लेकर, यथाशीघ्र श्रीकृष्ण के पास चला जाऊँ। देरी करना उचित नहीं होगा।"

देवेन्द्र मान गये। भला उन्हें क्या आपत्ति हो सकती थी? उन्होंने नारद से कहा कि वे स्वयं दूत के साथ जाकर वृक्ष को ले लें। नारद जी वीणा उठाकर दूतों के साथ महारानी शचि की महल की ओर चल दिये। महल में पहुँचकर नारद ने महारानी शचि से कहा,

"हे महारानी शचि! तुम तो जानती हो कि जैसा प्यार श्रीकृष्ण सत्यभामा को करते हैं, वैसा प्यार कोई भी पति अपनी पत्नी को नहीं करता। बुरा न माने तो एक बात कह दूं, देवेन्द्र भी ऐसा प्यार नहीं करते। सत्यभामा जी रूठ गयीं हैं। उन्होंने जिद पकड़ ली है कि वे तुम्हारे उद्यान से पारिजात का पूरा पेड़ मंगाकर ही रहेंगी। प्यारी सत्यभामा के कारण श्रीकृष्ण ने मुझे इन्द्र के पास भेजा है। देवेन्द्र भी मान गये हैं। उन्हीं की आज्ञा लेकर मैं तुमसे पेड़ लेने आया हूँ। मुझे शीघ्रता से वापस जाना है। सत्यभामा ने अन्न जल का परित्याग किया हुआ हैं इसीलिए तुम जल्दी से वह पेड़ मुझे दे दो।"

महारानी शचि जलभुन गयी। सहज भाव से वह पेड़ मांगते तो सम्भवतः पतिव्रता शचि पति की आज्ञा मान कर इस पेड़ को दे देती। नारद जी के शब्दों ने उनके नारीत्व को आहत किया। वे भभक उठी। उन्होंने कहा,

"नारद जी! आप यहां से चले जायें। मैं पेड़ कदापि नहीं दूंगी।"

नारद जी ने बहुत समझाया पर महारानी शचि नहीं मानी। मुदित मन से नारद जी, वीणा के तार बजाते, देवेन्द्र के पास पहुँच गये। नारद जी देवेन्द्र से कहने लगे,

''देवेन्द्र तुम्हारी पतिव्रता पत्नी ने वृक्ष को देने से इन्कार कर दिया। तुम्हारे आदेश को वे मानने को तैयार नहीं हैं। मैं तो बड़े धर्म संकट में फंस गया हूँ! श्रीकृष्ण आतुरता से पारिजात वृक्ष की प्रतीक्षा कर रहे हैं। सत्यभामा ने भी अन्न जल छोड़ा हुआ है।''

देवेन्द्र को नारद की बातों पर विश्वास ही नहीं हुआ है। महारानी शचि जैसी पतिव्रता नारी अपने पति देवेन्द्र की आज्ञा की अवहेलना कर सकती है? मन के क्रोध को दबाकर, देवेन्द्र स्वयं पेड़ को लाने चल दिये। देवेन्द्र रानी शचि के सामने पहुँचे। इससे पहले कि वह कुछ कहें, महारानी शचि स्वयं कहने लगी, ''हे देवेन्द्र! हे स्वामी! मैंने आपकी आज्ञा का उल्लंघन करके अपराध किया है। मैं दण्ड की अधिकारिणी हूँ। परन्तु मुझे यह असह्य है कि एक ग्वाले की पत्नी के लिए, देवेन्द्र की पत्नी महारानी शचि के उद्यान से उसका सबसे प्रिय वृक्ष पारिजात उखाड़ कर भेज दिया जाये। देवेन्द्र! मैं जानती हूँ कि जैसा प्यार श्रीकृष्ण सत्यभामा को करते हैं, वैसा कोई भी पति अपनी स्त्री से नहीं करता है। यहां तक कि आप भी! तभी तो आपने नारद को पेड़ लाने के लिए भेज दिया। देवेन्द्र! आपके अन्तर्हृदय से मेरा रूप मिट गया है। मुझे इसका भान तक न हुआ। आप पेड़ अवश्य ले जायें। परन्तु मुझे भी आदेश देकर ही जाना होगा! मैं मृत्यु का वरण कर लूं। आप से उपेक्षित होकर अब मैं जीना भी नहीं चाहूँगी।'' महारानी फूट-फूट कर रोने लगीं, ऐसा कहकर!

देवेन्द्र तो सकपका कर रह गये। उनकी कुछ समझ में नहीं आया। उन्होंने महारानी शचि को ढांढस बंधाया। देवेन्द्र ने रानी को समझाया कि श्रीकृष्ण स्वयं सृष्टा हैं। महाविष्णु का अवतार हैं। उनसे हठ करना, देवेन्द्र के लिए भी उचित नहीं है। यह वृक्ष उन्हीं की दी हुई वस्तु है तथा पृथ्वी की धरोहर हैं इसे लौटा देना ही उचित होगा।

रानी शचि नहीं मानी। उन्होंने देवेन्द्र से कहा,

''यदि आप इतने भयभीत हैं तो आप रहने दें। देवेन्द्र! मैं कृष्ण से युद्ध करूँगी। परन्तु पेड़ नहीं दे सकती। आप मेरी इच्छा के विपरीत यदि वृक्ष ले जाना चाहें तो आपको ऐसा करने का अधिकार है। उस अवस्था में आपको मुझे भी अधिकार देना होगा, कि मैं अपने जीवन को समाप्त कर दूँ।''

फंस गये देवराज इन्द्र। जितना वह रानी को समझाने का प्रयास करते वे उतना ही अधिक हठ पकड़ती जाती। हताश होकर देवेन्द्र लौट कर सभा भवन चले गये। सभाभवन पहुँचकर, भला देवेन्द्र यह तो कह नहीं सकते थे कि वे पत्नी से झाड़ खाकर आ रहे हैं। उन्होंने नारद जी से कहा,

"हे नारद! मार्ग में मैंने इस विषय पर पुनः विचार किया तो पाया कि महारानी शचि ने जो कुछ भी किया था, वह उचित था। यह पेड़ धरती की अमानत है। पृथ्वी, देवलोक द्वारा आरक्षित है। इसलिए वृक्ष की रक्षा करना देवलोक का धर्म है। मैं पेड़ कदापि नहीं दूंगा।"

सारे राजभवन में खलभली मच गयी। ऋषियों ने देवेन्द्र को समझाया कि वे भयंकर भूल कदापि न करें। परन्तु देवेन्द्र किसी भी बात को मानने को तैयार नहीं थे। तैयार होते भी तो कैसे? पेड़ उनके पास हो तो दें। पेड़ तो महारानी शचि के पास था। अब यह तो बात कह नहीं सकते कि रानी पेड़ नहीं दे रहीं हैं। कुछ देवेन्द्र की इज्जत का भी तो सवाल है। उन्होंने कहा वे पेड़ नहीं देंगे। देवेन्द्र ने किसी की बात नहीं मानी।

नारदजी चल दिये वीणा उठाकर। कृष्ण के पास पहुँचकर नारदजी ने कहा,

"हे गोविन्द! देवेन्द्र तो बड़ा हठी है। पेड़ देने को तैयार ही नहीं है। सभी लोगों ने उसे समझाया। परन्तु उस मिथ्याभिमानी ने पेड़ देने से साफ मना कर दिया।"

श्रीकृष्ण व्यग्र हो उठे। उन्होंने नारद से कहा,

"हे नारद! आप पुनः जायें तथा उससे कहें कि वह हठ न करें तथा कुछ दिन के लिए वह पेड़ दे दें। अन्यथा मैं युद्ध करके, पेड़ को उससे छीनकर ले जाऊँगा। हे नारद! मैं इन्द्र के मान का मर्दन नहीं करना चाहता हूँ। इसलिए तुम उसे समझाकर पेड़ ले आओ। यथा शीघ्र जाओ।"

नारद जी पुनः चल दिये। देवेन्द्र के यहां पहुँचकर देवेन्द्र को समझाया। पर देवेन्द्र नहीं माने। इस पर नारद ने श्रीकृष्ण के द्वारा युद्ध की धमकी दी। देवेन्द्र भी क्रोधित हो उठे, उन्होंने नारद से कहा,

"नारद जी कृष्ण से कह दीजिएगा कि पेड़, वह युद्ध में परास्त कर ले जायें। अन्यथा मैं पेड़ नहीं दूंगा।"

दोनों में भयंकर संग्राम छिड़ गया। शान्त क्षीरसागर अशान्त हो उठा। कृष्ण थे सृष्टा और इन्द्र थे रक्षक। दोनों अजर अमर अविनाशी। भला मरेगा कौन? पशुपताग्नियों, दिव्यास्त्रों तथा ब्रह्मास्त्रों के इस भीषण युद्ध में, नाना लोक तथा पृथ्वी आदि ग्रह भी असमय ही महाप्रलय को जाने लगे। भयंकर प्रलय का ताण्डव हर ओर फैलने लगा। युद्ध अन्तहीन था। सारे देवता और ऋषिगण कृष्ण को समझाते। हे गोविन्द! इस अन्तहीन युद्ध को समाप्त करो। तुम सृष्टा होकर, संहारक क्यों बन बैठे हो?" वे सारे देवता और ऋषि देवेन्द्र को समझाते, "हे इन्द्र! तुम रक्षक बनकर, भक्षक क्यों बन बैठे हो? इस अन्तहीन युद्ध को समाप्त करो।"

कृष्ण कहते इन्द्र पारिजात दे दें। युद्ध स्वतः समाप्त हो जायेगा। देवेन्द्र कहते

कि जिसने युद्ध आरम्भ किया, वह चाहे तो युद्ध समाप्त कर दे। मैं पेड़ कदापि नहीं दूंगा। देवता तथा ऋषिगण परेशान हो उठे। ऋषियों ने एक सभा की। इस सभा में ऋषिगण एक निर्णय पर पहुँचे। उसके उपरान्त उन्होंने कृष्ण और इन्द्र को सम्बोधित किया,

"हे कृष्ण! हे इन्द्र! तुम दोनों इस युद्ध को तत्क्षण समाप्त करो। अन्यथा हम तुम्हें अनन्त अनन्त काल के लिए अभिशप्त करेंगे। युद्ध को समाप्त कर, हमारी सभा के सम्मुख प्रगट हो। हमारे आदेश की अवहेलना तुम दोनों कदापि न करो।"

ऋषियों के शाप से दोनों ही डरते हैं। युद्ध रुक गया। उचित समय पर ऋषियों की सभा के सम्मुख भगवान श्रीकृष्ण एवं देवराज इन्द्र प्रगट हुए। श्रीकृष्ण के साथ देवगुरू बृहस्पति थे तथा देवेन्द्र के साथ दैत्य गुरू शुक्राचार्य थे। श्रीकृष्ण से शुक्राचार्य का एक पुराना बैर भी था। वामन अवतार के समय उन्होंने शुक्राचार्य की एक आंख फोड़ी थी। शुक्राचार्य भी अपनी उसी फूटी आंख का बदला लेने के लिए इन्द्र के साथ हो लिए। कृष्ण और इन्द्र के सभा में विराज जाने के उपरान्त ऋषि सभा ने कहा,

"हे कृष्ण! हे इन्द्र! तुम दोनों व्यर्थ ही एक अन्तहीन युद्ध का आरम्भ किया। यह युद्ध अनावश्यक था। तुम दोनों की युद्ध पिपासा को देखते हुए, हम ऋषि एक मत से तुम दोनों को लड़ने के लिए आदेश देते हैं। अब तुम दोनों लड़ोगे। जो जीतेगा। पारिजात उसका। परन्तु यह युद्ध अस्त्र शस्त्र से नहीं होगा। यह युद्ध सेनाओं के द्वारा भी नहीं होगा। यह युद्ध मल्लयुद्ध भी नहीं होगा। तुम दोनों लड़ोगे, मृत्युलोक में जाकर। प्रत्येक मनुष्य के शरीर में। तुम दोनों को मनुष्य के शरीर में व्याप्त होकर लड़ना होगा। याद रहे, मनुष्य की बुद्धि युद्ध की भूमि होगी। इसका नियंत्रण तुम दोनों में कोई भी नहीं करेगा। प्रत्येक मनुष्य के शरीर में तुम दोनों अपने-अपने आधिपत्य, अधिकार तथा प्रतीक घोषित करो।"

ऋषियों के इस आदेश को सुनकर शुक्राचार्य ने इन्द्र के कान में कुछ कहा। इन्द्र ने शुक्राचार्य से मंत्रणा करने के उपरान्त ऋषि सभा से कहा,

"हे ऋषिगण! आप सब जानते हैं कि युद्ध मुझ पर थोपा गया है। फिर भी आपने युद्ध के लिए मुझे और कृष्ण को समान रूप से अपराधी माना है। समर्थ को कोई दोष नहीं देता। परन्तु अब तो मेरे साथ न्याय होना चाहिए। उस युद्ध में पहल कृष्ण ने की थी। इस युद्ध में, मनुष्य के शरीर पर पहला अधिकार, आधिपत्य और प्रतीकों की मांग मेरी होनी चाहिए। पहले मैं माँगूंगा।"

श्रीकृष्ण तथा देवगुरू बृहस्पति ने उसका प्रतिवाद भी नहीं किया। गोविन्द बैठे मुस्करा रहे थे। ऋषियों ने इन्द्र की बात मान ली। देवेन्द्र ने कुछ समय तक

शुक्राचार्य के साथ गम्भीर मन्त्रणा करने के उपरान्त, ऋषि सभा को सम्बोधित किया,

''हे ऋषिगण! मेरे अधिकार और प्रतीक सुनें। मनुष्य के मन पर मेरा अधिकार होगा। मनुष्य के मन, मेरे नामान्तर, इन्द्र कहा जायेगा। (संस्कृत में इन्द्र, मन का पर्यायवाची है।) मनुष्य की दसों इन्द्रियों पर मेरा अधिकार होगा। मेरे नामान्तर ही यह सब इन्द्रियां कहावेंगी। (इन्द्रियों का प्रथम नाम गो रहा है कालान्तर में, गोपाल की गो, इन्द्र की इन्द्रियां हो गयीं।) शुक्राचार्य मेरे मार्ग के गुरू होंगे। मेरे भक्त सप्तवारों (सात दिनों के सप्ताह में) में एक वार इन्द्र वार के रूप में मनायेंगे। (कालान्तर में इन्द्रवार, सोमवार हो गया तथा उसका अधिपत्य इन्द्र के स्थान पर महाशिव को मिला) इन्द्रवार के दिन मेरे भक्त मेरी पूजा करेंगे। सात वारों में एक वार द्वैताचार्य अर्थात् शुक्राचार्य का होगा। (कालान्तर में द्वैत, दैत्य हो गया।) जो शुक्रवार के नाम से जाना जायेगा। मेरे भक्त शुक्रवार को गुरू पूजा रूप में पूजेंगे। आचार्य शुक्र का 'काम' पर अधिकार होगा। चन्द्रमा मेरा प्रतीक ग्रह होगा, जो मेरे ही नामान्तर इन्द्र कहलायेगा। (इन्द्र और चन्द्रमा पर्यायवाची हैं।) एक ग्रह शुक्र के नामान्तर शुक्र ग्रह कहलावेगा। मेरे भक्त चन्द्रमा को ही ईश्वर के रूप में अर्थात् मेरे रूप में पूजेंगे। प्रत्येक मनुष्य के शरीर में मेरा कृष्ण से युद्ध होगा। मुझे स्वीकार है।''

ऐसा कहकर देवेन्द्र मौन हो गये। सभा भवन में सन्नाटा छा गया। इन्द्र और शुक्राचार्य अति प्रसन्न थे। उन्होंने अपनी मांग से ही श्रीकृष्ण को पराजित कर दिया था। दसों इन्द्रियों में मनुष्य का पूरा शरीर आ जाता है। मन पर आधिपत्य इन्द्र ने ले ही लिया। बुद्धि का नियंत्रण कोई ले ही नहीं सकता है। ऐसी अवस्था में श्रीकृष्ण, मनुष्य के शरीर में क्या माँगेंगे? यह प्रश्न सभी के मन में उठा। युद्ध तो शरीर के भीतर होना है। इन्द्र ने अपनी मांग के अधिकार, और अधिपत्य में मनुष्य के शरीर में लगभग सभी स्थान ग्रहण कर लिया है। काम का अधिकार शुक्राचार्य को दिलवा दिया। ऐसी अवस्था में मनुष्य के शरीर में, कौन सा स्थान मांगेंगे श्रीकृष्ण तथा देवगुरू बृहस्पति?

श्रीकृष्ण मुस्कराते हुए उठे। उठकर उन्होंने कहा,

''इन्द्र ने जो कुछ मांगा, मैंने दिया। मुझे स्वीकार है। मनुष्य की 'गो' अब इन्द्रियां कहलावेंगी। ज्योतियों के ढूंढ़ने वाले मार्ग, अब विषयों में भटक जायेंगे। मुझे स्वीकार है। मनुष्य का मन जो कभी 'गोचर' कहलाता था, अब 'इन्द्र' कहलायेगा। शुक्राचार्य के लिए इन्द्र ने जो मांगा मुझे स्वीकार है। अब मेरे अधिकार, आधिपत्य एवं प्रतीक सुनें। मनुष्य की आत्मा पर मेरा अधिकार होगा। मेरे नामान्तर

मनुष्य की आत्मा कृष्ण कहायेगी। सूर्य मेरे प्रतीक ग्रह होंगे। सूर्यवार, मेरा वार होगा। अद्वैत धर्म ही मेरा धर्म होगा। देवगुरू बृहस्पति मेरे मार्ग के गुरू होंगे। मनुष्य के दिव्य चक्षु में बृहस्पति का स्थान होगा। मेरे भक्त समाधिस्थ होकर, दिव्य चक्षु के द्वारा ही, देव ज्ञान को प्राप्त हो सकेंगे। इन्द्रियों के द्वारा अब मैं ग्राह्य नहीं रहूँगा। एक दिन तथा एक ग्रह, देव गुरू बृहस्पति के नामान्तर बृहस्पतिवार के रूप में मनाया जायेगा। जब मेरे भक्त गुरू के रूप में देवगुरू बृहस्पति का पूजन करेंगे। एक मर्यादा सदा अमिट रहेगी। इन्द्र से पहले मेरी पूजा होगी। इन्द्रवार से पहले सूर्यवार की पूजा होगी। शुक्र से पहले गुरू की पूजा होगी। इसलिए शुक्रवार से पहले बृहस्पतिवार होगा। मनुष्य के शरीर में मेरा इन्द्र से युद्ध होगा। मुझे स्वीकार है।''

श्रीकृष्ण की मांगों को सुनकर इन्द्र तथा शुक्राचार्य स्तब्ध रह गये। देवेन्द्र पुनः उठे। उन्होंने ऋषि सभा को सम्बोधित करके कहा,

''ऋषिगण! मेरी एक प्रार्थना और भी है। श्रीकृष्ण अपनी विभूतियों के साथ अब भूतल पर प्रकट नहीं होंगे।''

इस पर देवगुरू बृहस्पति ने हंस कर उत्तर दिया,

''इन्द्र! अपनी पराजय अभी से स्वीकार कर लो! जब मनुष्य की 'गो', 'इन्द्रिय' हो गयी तो तुम्हें भय क्यों है? परमेश्वर भी धरती पर आयेगा, तो अब मनुष्य उसे कैसे पहचान पायेंगे? यदि इतने ही भयभीत हो तो पराजय अभी स्वीकार कर लो।''

ऋषिसभा ने कृष्ण और इन्द्र को युद्ध के लिए मृत्यु लोक जाने का आदेश किया, जिस प्रकार एक सूर्य से सहस्त्र किरणें प्रकट होती हैं। उसी प्रकार श्रीकृष्ण और इन्द्र, असंख्य सूक्ष्म ज्योतियों के रूप में, प्रत्येक मनुष्य के शरीर में समाते चले गये। एक बना 'मन' और दूसरा बना 'आत्मा'। बुद्धि हो गयी अन्तर्द्वन्द। यही है पारिजात युद्ध की कथा।

मन अपनी इन्द्रियों द्वारा जीव को भटकाता है। इन्द्रियों की राह फंसाता है। आत्मज्ञान से विमुख करता है। आत्मा रूपी श्रीकृष्ण उसे सदा रिझाते हैं। जीवन और मृत्यु के रहस्य बतलाकर, उसे सत्यनिष्ठ बनाना चाहते हैं। 'मन' इन्द्र, इन्द्रियों के लोभ, लालच और अतृप्तियों में फंसाकर बहिर्मुखी बना भटकाना चाहता है। बुद्धि हो गयी अन्तर्द्वन्द! यही पारिजात की कहानी है।

जब भी बुद्धि, 'मन' इन्द्र की पत्नी शचि बन जाती है। इन्द्र की राह पर इन्द्रियों की राह भटक जाती है। आत्मा रूपी कृष्ण को शरीर का परित्याग करना पड़ता है। भागते हुए श्रीकृष्ण रूपी आत्मा से, चीख कर कहता है मन रूपी इन्द्र,

''हे कृष्ण! तू हारा! पारिजात मेरा है।''

आत्मा के हटते ही शरीर भी मृत हो जाता है। इन्द्र को भी उसे त्यागना पड़ता

है। मृत देह, चिता की लकड़ियों पर भस्मी के रूप में लौट जाती है। आत्मा रूपी श्रीकृष्ण, इस भस्मी को पुनः फलों में लाते हैं। पुनः यज्ञों के द्वारा उन फलों से, माता के गर्भ में बालक के स्वरूप को प्रदान करते हैं। आत्मा होकर बालक इस देह में प्रकट होकर, आत्मा रूपी श्रीकृष्ण, इन्द्र रूपी मन से पूछता है,

''रे इन्द्र! कौन हारा? अभी तो पारिजात युद्ध चल ही रहा है।''

काश! बुद्धि तुम्हारी सत्यभामा हो जावे। सत्य अर्थात् सत्य! भामा अर्थात् ज्योति, अर्थात् सत्य की ज्योतियों को धारण करने वाली अर्थात् सत्यभामा। पुनः!! काश! तुम्हारी बुद्धि सत्यभामा हो जावे। बनकर श्रीकृष्ण की पत्नी सत्यभामा, आत्मा कृष्ण से अद्वैत कर जावे। जीत जायें हम, पारिजात युद्ध। पराजित हो इन्द्र मन! बस इतनी सी कहानी है।

बता सकते हो मुझे? माँ प्रकृति का सुन्दर पुष्प, पारिजात कौन है? रे मानव! तुम्हारा यह शरीर! यही है पारिजात पुष्प। कथा मात्र इतनी है। इस शरीर का नियंत्रण मन रूपी इन्द्र को मिले अथवा आत्मा रूपी श्रीकृष्ण को।

जब भी मन इन्द्र, अपनी राह पर, तपस्वी योगी को भटका देता है। चिता की लकड़ियों पर इन्द्र भी अभिशप्त होता है। उसे भी ब्रह्महत्या का दोष लगता है। प्रायश्चित के लिए इन्द्र, कमल नाल में जा छिपता है। गर्भ नाल ही कमल नाल है। बालक के जन्म के समय, मन का प्रवेश शरीर में, आत्मा से पहले होता है। इसीलिए पहला अधिकार और अधिपत्य इन्द्र का होता है। दूसरा अधिपत्य श्रीकृष्ण रूपी आत्मा का होता है।

दासता के लम्बे अन्तरालों में, भस्म हो गये गुरूकुल एवं विश्वविद्यालयों में, फूंक दिये गये भोज पत्रों के कारण, इतिहास तथा नाना ज्ञान-विज्ञान की धारायें लुप्त, विस्मृत और भ्रमित होती गयीं! उन युगों में कागज और छापाखाने नहीं होते थे! जब धर्म ने स्वयं को समेटना चाहा तो कथाओं के स्वरूप बदलते चले गये। पारिजात की कथा में भी बदलाव आया। कथा का मूल उद्देश्य ही खो गया! नाना प्रकार से नाना भाष्यकारों और ग्रन्थकारों ने महान रहस्यलीलाओं को भ्रमित कर, रासलीलायें बना दिया! अब बता पाना सम्भव नहीं है कि इन रहस्यलीलाओं के पीछे ऐतिहासिक घटनाक्रम क्या थे? परन्तु इतना तो निर्विवाद है कि व्यापक घटनाक्रम को, आध्यात्मिक लीला ग्रन्थों में उपमा के रूप में, आत्मतत्व को स्पष्ट करने के लिए, ग्रहण किया जाता है। ऐतिहासिक घटनाक्रम के स्पष्ट संकेत, साक्ष्य एवं प्रमाण व्यापक रूप से भी उपलब्ध हैं। पारिजातयुद्ध की कल्पना वेद व्यास ने एक भयंकर विनाश लीला से ग्रहण की है। इसका वर्णन परोक्ष रूप से उन्होंने संहिताओं में किया है।

उपलब्ध साख्यों के अनुसार, महाभारत युद्ध के छत्तीस वर्ष के बाद श्रीकृष्ण की ऐतिहासिक लीला का समापन हुआ। उसी के कुछ ही काल के उपरान्त पृथ्वी पर भयंकर उल्कापात हुए। श्रीकृष्ण गमन एवं उल्कापात में महीनों का ही अन्तर हो सकता है।

ब्रह्मास्त्र, पशुपतास्त्र आदि अस्त्रों पर नियंत्रण तथा धारण की चर्चा महाभारत में आयी हैं वेद के अनुसार इन अस्त्रों का प्रयोग केवल देवलोक ही करते थे। (ब्रह्मास्त्र अर्थात् एटामिक- वार-हैड तथा पशुपतास्त्र अर्थात् कास्मिक-फायर-हैड!) इन अस्त्रों का प्रयोग उन उल्काओं को नष्ट करने के लिए होता था, जो ग्रहों की ओर अचानक बढ़ने लगती थीं। इन उल्काओं के पात से ग्रहों पर भीषण जन-धन की हानि होती थी। कभी कभी सम्पूर्ण ग्रह ही महाप्रलय को प्राप्त हो जाता था। इसलिए इन अस्त्रों का प्रयोग ग्रह समूहों में होने वाले उल्कापातों से ग्रहों को सुरक्षित रखने के लिए ही होता रहा है। ये अस्त्र, भारी से भारी उल्का अथवा धूम्रकेतु को सूक्ष्म अणुओं में विसर्जित करने में सक्षम थे। महाभारत युद्ध में इन्हीं अस्त्रों का दुरूपयोग हुआ।

हमें कल फिर से पृथ्वी पर जीवन के स्थायित्व के लिए, इन्हीं अस्त्रों का आविष्कार करना होगा। हम एक ऐसे मकान में रहते हैं, जिसके ऊपर छत नहीं है। खुला आसमान है। कभी भी भयंकर उल्कापात इस ग़ह को समाप्त कर सकता है। हमें ऐसे वैज्ञानिक अस्त्रों की सदा जरूरत रहेगी। इसके साथ ही यह भी जरूरी होगा, कि मानवीय मूल्यों का विनाश करने वाला 'महाभारत-युद्ध' फिर कभी न हो। इन अस्त्रों को प्राप्त करने के साथ यह भी जरूरी है कि इनका गलत प्रयोग कदापि न हो।

महाभारत युद्ध तथा इससे पूर्व मृतसागर महायुद्ध में ध्वस्त हो गया। ग्रह, मानवता तथा देवलोक के अस्त्र भण्डार। सम्पूर्ण पृथ्वी अरक्षित हो उठी थी।

तभी भयंकर उल्कायें पृथ्वी की ओर बढ़ने लगी। देवलोक अपनी रक्षा की स्थिति में भी सम्भवतः नहीं था! पृथ्वी की रक्षा कौन करे? महाभारत युद्ध के ठीक छत्तीस वर्ष बाद!

माया (गुरूत्वाकर्षण) को नियंत्रित कर, भारहीन अवस्था में, प्रकाश की गति उड़ने वाले देवयानो का युग! नक्षत्रों से नक्षत्रों तक उड़ते देवयानों की संस्कृति! भयभीत और असहाय थी! भयंकर उल्कायें आग के जलते पर्वत, जगमग सितारों से भी कहीं भयंकर आग के दहकते अम्बार! पृथ्वी की ओर निरन्तर बढ़े चले आ रहे थे। इन्द्र का अन्तिम यान भी धरा को असहाय छोड़कर उड़ चला। पशुपतास्त्र, ब्रह्मास्त्र ही बचा सकते थे पृथ्वी को! वे सारे दिव्यास्त्र तो महाभारत में जाति विनाश

करके, समाप्त हो चुके थे! देवलोक भी असहाय था! सम्भवतः भयंकर उल्काओं के पथ के बदलाव का कारण ''महाभारत-युद्ध'' तथा उससे प्रयुक्त दिव्यास्त्रों की प्रतिक्रिया का ही स्वरूप था! पर्यावरण सम्पूर्ण सचराचर का असन्तुलित हो उठा था! अनन्त क्षीरसागर में नये प्रकम्पन के कारण उल्कायें पथ तथा गति और दिशा बदल बैठी थी! उल्कायें, सौर मण्डल में, अनियन्त्रित होकर, सभी ग्रहों की ओर बढ़ रही थी! सब कुछ अनियन्त्रित था! सभी ग्रहों पर भयंकर उल्कापात होने लगे! विनाश का ताण्डव आरम्भ हो गया! वेदव्यास! सम्भवतः इसी धटना से तुमने पारिजातयुद्ध के रूप में, आध्यात्मिक कल्पना को साकार किया।

आग उगलते पहाड़! गगन से गिरता दहकता हुआ लावा! घाटियां पर्वतों का स्वरूप लेने लगीं! सागर खौल उठे! आसमान से आग की वर्षा हो रही थी, सारे भू मण्डल पर विनाश का ताण्डव छाया हुआ था! द्वारिकायें उफनते सागर में डूबती चली गयी! पर्वतों और ध्रुवों की बर्फ पिघलकर सागर में उतर आयी थी! सागर में नये पर्वत, उल्काओं से बन रहे थे! सागर महाकाल बना था! द्वारिकायें डूब गई! मध्य एशिया के भूभाग सागर में समा गये! पश्चिमी देशों की सभ्यता सागर में समा गई! धरती की परिक्रमा का पथ भी बदल गया! ध्रुव बदले! क्या कुछ नहीं हुआ था! ठण्डे प्रदेश गर्म होने लगे और गर्म रेगिस्तानों पर बर्फ की चट्टाने चमने लगीं! लगभग पांच सौ वर्ष तक पूरा ग्रह बुखार में पड़े रोगी की भांति थरथराता, कांपता रहा था। जनजीवन सब कुछ, अस्तव्यस्त और नष्ट प्राय था! जो बचा था बाकी, मात्र पीड़ा, भय, आतंक और अभाव! पागल होकर भटकते लोग!

हे महा मानव! तुमने इस भयंकर घटना को भी श्रीकृष्ण कथा का अमृत पर्व बना दिया! वेदव्यास! तुम विष को अमृत बनाने वाले जादूगर हो!

हरि ॐ! नारायण हरि!

54

संन्यास!

हे वेदव्यास! हे परम पुनीत! हे ज्ञान के अक्षय भण्डार! हे अजर अमर! इतिहास की करवटों से उभर कर, श्रीकृष्ण के सन्यास के क्षण, मेरे मन में झिलमिलाने लगे हैं। मेरा अन्तर उन क्षणों को फिर छूने लगा है।

12 वर्ष का वानप्रस्थ तथा एक वर्ष का अज्ञातवास श्रीकृष्ण ने पूरा कर लिया है। उस युग में प्रत्येक गृहस्थ, वानप्रस्थ, धर्म को प्राप्त होता था। 12 वर्ष का वानप्रस्थ, फिर एक वर्ष का अज्ञातवास, फिर ज्योतियों में वास अर्थात् सन्यास। महाराज उग्रसेन की कथा में इसे स्पष्ट कर चुका हूँ।

अश्वमेध यज्ञ के अश्व को लेकर, सर्वांग अलंकृत होकर द्वारिकाधीश अपने रंगमहल में आये हैं। कृष्ण के वानप्रस्थ धर्म के साथ ही रूक्मिणि और सत्यभामा भी घनघोर तपस्याओं को प्राप्त हो चुकीं थीं। उस युग की परम्परा भी यही थी। जब पति वानप्रस्थ धर्म को प्राप्त होता था, पत्नियां अखण्ड तपस्याओं का वरण करती थीं। रूक्मिणि और सत्यभामा आज पुनः दुल्हन सी सजी हैं। परम्पराओं का निर्वाह जो करना है। रंगमहल के द्वार पर सम्पूर्ण शोभाओं से युक्त एवं अलंकृत द्वारिकाधीश अश्वमेध यज्ञ के अश्व को लेकर पधारे हैं। वे अपनी रानियों से अन्तिम विदा लेने आये हैं। रंगमहल में प्रवेश करते ही महातपस्विनी रूक्मिणि तथा त्याग मूर्ति सत्यभामा विलख उठीं हैं। उन्हें सान्तवना देते हुए श्री कृष्ण ने कहा,

"हे सत्यभामा! हे रूक्मिणि! शोक मत करो। भौतिक जीवन तो नाट्यशाला का पूर्वाभ्यास मात्र है। जिस प्रकार नाटक से पूर्व नाट्यशाला के पात्र पूर्वाभ्यास करते हैं। उनके पूर्वाभ्यास की पूर्णतः एवं सार्थकता, नाटक के मंच पर अभिनय के सही

मंचन में है। भौतिक जीवन में वाह्य जगत के गृहस्थ धर्म नाट्यशाला का पूर्वाभ्यास मात्र है। हमने पूर्वाभ्यास धर्मपूर्वक, शास्त्रपूर्वक निबाहे हैं। अब नाटक के मंचन का समय आया है। अन्तर्मुखी होकर जीव और आत्मा का मिलन ब्रह्मज्वाला के सम्मुख ही सत्यरूप में विवाह है। इसी विवाह का नाम सन्यास है। सौभाग्य के क्षणों में, दुःख और पीड़ा कैसी? आत्मा ही पति है और जीव ही पत्नी। अन्तर्मुखी होकर आत्मा से अद्वैत करना ही विवाह की पूर्णतः है। मुझे आज्ञा दो कि मैं अन्तर की ज्वालाओं में अपनी आत्मा का दर्शन करता हुआ, स्वयं से अद्वैत करूं, तब मेरा सत्य स्वरूप प्रकट हो। उसी रूप को तुम भी प्राप्त हो जाओ। मृत्यु की सीमा खण्डित हो जाये और हम अनन्त होकर मिलें।''

बिलखती हुई रूक्मिणि और निष्पाप सत्यभामा को सान्त्वना देते रहे हैं गोविन्द। पीड़ायें असहाय हो उठी हैं। रूक्मिणि, जिसने बिना देखे कृष्ण को उनकी मूर्ति बनवाकर, उसी में स्वयं को समाहित कर लिया था। उसकी तपस्या ही उसे गोविन्द तक लाई थी। मूर्ति जो लुप्त हो गयी थी। रूक्मि ने मन्दिर को ध्वस्त कर मूर्ति को कहीं फेंक दिया था। मूर्ति के खो जाने पर रूक्मिणि को गोविन्द मिले थे। आज गोविन्द भी खो जायेंगे तो रूक्मिणि किसके सहारे जियेगी? गोविन्द, रानियों को सान्त्वना देते अमृतमय ज्ञान का उपदेश देते हैं। विलखती हुई रानियों को छोड़कर वासुदेव अश्व को लेकर रंगमहल के द्वार की ओर चल दिये हैं प्रद्युम्न एवं साम्ब उनके चरणों से लिपट गये हैं। सन्यासी ने, तपस्वी ने, उन्हें आश्वस्त किया हैं। जीवन के मर्म को स्पष्ट कर उन्हें समझाते हैं, उन्हें सान्त्वना देकर वे अश्व को लेकर आगे बढ़ते हैं! द्वार पर खड़े ऋषि, मनीषी तथा साधु समाज ने महायोगी को साधुवाद दिया तथा पुष्प वर्षा की।

वेदव्यास! तुमने आगे बढ़कर गोविन्द को सीने से लगा लिया था। अश्व, गोविन्द के साथ आगे बढ़ गया था। सात्यकि ने अश्व की लगाम थाम ली थी। गोविन्द यज्ञशाला की ओर बढ़ चले और अश्व नगर के द्वार को पार करते, परिक्रमा पथ की ओर बढ़ता चला गया था। परिक्रमा को पूर्ण करने के उपरान्त प्रद्युम्न ओर साम्ब, अतीत के स्वरूप को लेकर, अपनी माताओं सहित यज्ञशाला में पधारे थे। देविका के तट तड़प उठे थे। एक एक कर सभी आभूषणों का दान करते, वासुदेव सब कुछ लुटाकर, पुनः श्वेत वस्त्र में लिपट गये थे। यज्ञ की ज्वालायें धधक उठीं थी। अतीत का सम्राट, उन अग्नियों में भस्म हो रहा था। अतीत को जलाकर श्वेत वस्त्र में लिपटे हुए, नीलाभ मणियों के स्वामी श्रीकृष्ण देविका के मट पर पधारे थे। आचार्यों के साथ प्रद्युम्न और साम्ब ने श्वेत वस्त्र थाम लिया था। जल की धाराओं में श्रीकृष्ण की देह वस्त्र से रहित होकर जल में समाती जा रही थी। कल का सम्राट

आज पुष्प सा विसर्जित हो रहा था। जल गया अतीत! और देह जल में समा गयी। नदी के उस पार जल की धाराओं से प्रकट हुए, गोविन्द!

वेदव्यास! तुमने उन्हें अग्नियों का वस्त्र प्रदान किया था। उसी गेरूवे वस्त्र को, जो अग्नि का प्रतीक है, धारण कर, अतीत का सम्राट नदी के उस पार अग्निवेश रूप में प्रकट हुआ था। तुमने उसे सन्यास दिया। नदी के दूसरी ओर श्वेत वस्त्र ग्रहण करती रूक्मिणि और सत्यभामा, बिलखती हुई लौट गयी थीं।

वे सब तो बीते हुए क्षण थे। मेरी कल्पना की दृष्टि, पीपल के झुके हुए पेड़ के नीचे, निरन्तर तपस्याओं में समाधिस्थ उस योगी को देख रही है। निरन्तर ब्रह्म ज्वाला में तपता एक विलक्षण ज्योतिर्मय स्वरूप। उसका अतीत नहीं, वह तो वर्तमान मात्र है।

वेदव्यास! महा सन्यासी श्रीकृष्ण के समीप मेरी कल्पना की आंखें वीरवर अर्जुन को देखती हैं। अर्जुन उनके चरणों में सिर रखे, विलख-विलख कर रो रहे हैं। भगवान अर्जुन को सान्त्वना देते हैं। भविष्य में होने वाली घटनाओं के प्रति अर्जुन को आभास देते है। जिसे अर्जुन नहीं समझ पाते हैं। अर्जुन को, कृष्ण द्वारिका भेज देते हैं। तभी वहां पर तपस्वी उद्धव जी पधारते हैं। अतीत के कृष्ण को एक सन्यासी के वेश में देख कर, उद्धव भी सहन नहीं कर पाते हैं। तड़प उठते हैं। भगवान से प्रार्थना करते हैं,

''हे गोविन्द! हे सचराचर के स्वामी! आपको सन्यास की क्या आवश्यकता थी? हे परम् पूज्य! किस पूर्णतः के लिए अपने इस व्रत को धारण किया है? जिनके स्पर्श से सचराचर पूर्ण होता है! जिनके दर्शन मात्र से अपूर्णतः को भी पूर्णत्व प्राप्त होता है। हे नित्य पुरूष! आपको इस आश्रम में प्रवेश करने का क्या प्रयोजन?''

''हे परम् तप! हे निष्पाप उद्धव! मेरे जाने के क्षण समीप हो रहे हैं मेरा सन्यास लेना बहुत जरूरी था। बड़े लोग जो कुछ भी करते हैं। उसी का अनुसरण सारा समाज करता है। यदि मैं सन्यास नहीं लूंगा तो समाज के लोग भी उसे एक छूट के रूप में ग्रहण करेंगे। इसलिए हे निष्पाप! समर्थ को भी वही करना चाहिए और समाज के सम्मुख वही आचरण करे, जिस आचरण की अपेक्षा वे सारे समाज से करते हैं। माता पिता को भी बालक के सामने वही आचरण उचित है, जिस आचरण की कामना वे अपने बालक से करते हैं। यही प्रकृति का नियम है। मेरा सन्यास वेश में आना परम् आवश्यक है। उद्धव! लीला समापन के क्षण हैं! मुझे इस धरती को छोड़कर अब जाना होगा।''

''नारायण! आप ऐसा क्यों कह रहे हैं। प्रभु! आपके बिना द्वारिकाओं का क्या होगा? उन वीर यदुवंशियों का क्या होगा? जो आपकी छत्र-छाया में सदा आपके

होकर जिए हैं। आप उन्हें क्यों अनाथ करना चाहेंगे?''

''हे निष्पाप उद्धव! द्वारिकायें लुप्त हो जायेंगी। सम्पूर्ण द्वारिकायें सागर में समा जायेंगी। वे सारे यदुवंशी भी सागर के किनारे, घास के तिनको द्वारा, मृत्यु को प्राप्त होंगे। वे सब नष्ट हो जायेंगे।'' कृष्ण ने शान्त स्वर से उत्तर दिया। उद्धव जी चौंक उठे।

''ऐसा क्यों?''

''असुरत्व को मिटाने की प्रक्रिया में वे सब उन्हीं असुर वृत्तियों को प्राप्त हो रहे हैं। उद्धव! जब परमेश्वर ने धरती बनाई थी। उन्होंने पेड़-पौधे, पशु-पक्षी बनाये। घट-घट वासी, आत्मा रूप में, परमेश्वर निरन्तर सचराचर को प्रकट कर रहे हैं। तब उन्होंने मनुष्य को बनाया। मनुष्य को बनाकर परमेश्वर ने मनुष्य से कहा कि तू मेरा पुत्र बन। मेरी राह आ। जिस सचराचर को मैं निरन्तर उत्पन्न कर रहा हूँ; तू उस सचराचर के प्रति समर्पित सेवाओं के व्रत को धारण कर। मैं बाग को बना रहा हूँ, तू मेरे साथ उसे संवारता चल। मेरे द्वारा वरद् हो।''

उद्धव! परमेश्वर ने मनुष्य को इस बाग का माली बनाया था। उद्धव! जब माली ही बाग उजाड़ने लगे। पेड़-पौधे और पशु-पक्षियों को विनाश करने लगे। बाग का शोषण करके अपनी लिप्साओं को बढ़ाकर, उनका भक्षण करने लगे। उजड़ जायेगा जब बाग सारा, तो मालिक भी यही कहेगा कि जब बाग ही नहीं, तो मालियों का क्या प्रयोजन? मालियों को भी उजाड़ दो।

''हे उद्धव! इन उजड़ते बागों में अब मालियों की भी उजड़ने की बारी है। सागर के किनारे सरकंडे की सीकों पर खेलते हुए, असुरत्व से अभिशप्त ये लोग भी मर जायेंगे।''

हे वेदव्यास! हे परम् तप! वासुदेव के वे शब्द आज भी उतने ही सत्य हैं जितने तब थे। सागर के किनारे से उगने वाले तिनकों ने यादव जाति का विनाश कर दिया था। कैसी विचित्र घटना थी वह? सागर के किनारे घास? अर्थात् डूबते व्यक्ति को तिनके का सहारा! जो डूबते का सहारा थे, वे कैसे डुबा गये सबको? कितना कटु सत्य है कि डूबते को तिनके के सहारे ही, सब की मौत का कारण बनते हैं!

यथार्थ जीवन में, डूबते को तिनके का सहारा जानकर हम जो भी कुछ बटोरते हैं। सन्तान के रूप में, सम्पत्ति के रूप में, स्वजन के रूप में, व्यवसाय के रूप में आदि आदि। क्या इन सब की चिन्ता ही नहीं मारती है हम को? मैं मरता हूँ, मेरों के लिए! मेरी उपलब्धियों के लिए! डूबते को तिनके का सहारा जानकर जो भी कुछ बटोरा मैंने! उनकी आवश्यकता अतृप्तियां और उनकी चिन्ता ही तो मेरी मृत्यु का कारण बनी थी। न जाने कितनी बार! कृष्ण के वे शब्द आज भी इतने ही सत्य

हैं जितने वे तब थे। गोविन्द ने कहा था,

"जब भी धरती का मनुष्य, प्रकृति के मूल, प्रकृति प्रदत्त उद्धेश्यों के विपरीत होगा, उनकी उपलब्धियां ही उसके विनाश का कारण बनेंगी।"

वे शब्द आज भी कितने सत्य हैं। मेरी उपलब्धियां ही तो मेरी मृत्यु का कारण बनती हैं। यदि उपलब्धियों को क्षण भंगुर जानकर, इच्छाओं और अतृप्तियों से उपराम हो गया होता, तो कभी न मरता। अमर हो जाता। जीव शरीर के मृत हो जाने से नहीं मरता! जीव की मृत्यु अतृप्तियों, इच्छाओं और वासनाओं के कारण ही होती है। काश! हम अपने जीवन में प्रकृति के मूल उद्देश्यों को धारण कर पाये होते। वाह्य जीवन को नाटक का पूर्वाभ्यास जानकर, पूरी ईमानदारी से निभाते हुए, अन्तर जगत के मंच पर पूर्वाभ्यास को सत्य के रूप में अभिनीत कर पाये होते। जीवन धन्य हो जाता।

तपस्वी श्रीकृष्ण के गूढ़ वचनों से उद्धव जी आविर्भूत हो उठे। वे उनसे प्रार्थना करने लगे। "गोविन्द! मेरा क्या होगा? आपके बिना इस धरती पर मेरा भी तो कोई प्रयोजन नहीं? नारायण! मुझे भी राह दिखाओ।"

"उद्धव! तुम बद्रीवन चले जाओ। बद्रीवन मेरे द्वारा रक्षित क्षेत्र है। विनष्ट होती धरती पर वही एक सुन्दर स्थान है। जहां तुम राधिका जी द्वारा बताये मार्ग से, समर्पित तपस्याओं को प्राप्त हो जाओ। हे उद्धव! तुम्हारा कल्याण हो।"

बारम्बार सन्यासी श्रीकृष्ण के चरणों को प्रणाम करते हुए, अश्रुपूर्ण नेत्रों से भीतर बाहर भीगे हुए, उद्धव चले गये थे। गगन कुछ गहराने लगा था। दिशाओं में भी विचित्र तनाव था। सम्पूर्ण प्रकृति स्तब्ध हो चुकी थी। लगता था जैसे हवाएं फुसफुसा रही हों। अन्धेरा भीतर बाहर फैलने लगा था। फिसलती हुई रात न जाने किस सुबह को खोज रही थी। ब्रह्ममुहूर्त का छुटपुटा था, प्रकाश भी क्षीण था। योगी देविका के किनारे पीपल के पेड़ के नीचे अधलेटा, गहन समाधिस्थ था। तभी एक सनसनाता हुआ बाण उसके पैर के तलवे में घुसता चला गया।

हरि ॐ! नारायण हरि!

उद्धव जो गोपाल हो गया!

सुन्दर बद्रीवन, पवित्र अलकनन्दा का पावन तट! उद्धव बद्रीवन में आये हैं। बेरों का सघन वन हैं। इसी पावन तीर्थ पर ब्रह्मा जी ने तपस्वियों को आशीर्वाद दिया था कि जबभी दिवंगत पित्रों के लिए कोई यहां पर आकर पिण्डदान करेगा, उसके पितृों को सदा के लिए तृप्तावस्था की प्राप्ति हो जायेगी। पावन ब्रह्मकपाल के समीप, विशाल फैले बद्रीवन में उद्धव जी ने कुटिया बनाई है। राधा जी के बताये मार्ग का अनुसरण कर रहे हैं, पवित्र निष्पाप उद्धव। द्वारिकाधीश की सुन्दर प्रतिमा बनाई है उन्होंने। मोर मुकुट से सजी श्रीकृष्ण की नयनाभिराम छवि का ध्यान करते हैं। वह नित्य तप्तकुण्ड में स्नान करते, अलकनन्दा का जल पीते, घनघोर तपस्याओं को प्राप्त हैं। कृष्ण के सर्वांग स्वरूप में खो गये हैं उद्धव । रोम रोम में गोविन्द विराज रहे हैं। अंग अंग में श्रीकृष्णमयी ज्योतियां प्रस्फुटित हैं। उद्धव जी अखण्ड समाधियों को प्राप्त हो गये हैं। समाधि अटल है। एक कृष्ण है! बस एक कृष्ण हैं!!

अचानक उद्धव जी की समाधि खुलती है! क्या देखते हैं कि उनके सामने द्वारिकाधीश खड़े मुस्करा रहे हैं। मोर मुकुट पीताम्बर तथा आभूषणों से सुसज्जित मोहक सर्वांग छवि उनके सामने है। उद्धव जी चौंक उठते हैं। भगवान को प्रणाम कर पूछते हैं,

''नारायण! यह क्या? आपने सन्यासी वस्त्रों का परित्याग कर दिया?''

''उद्धव! तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर मैं बाद में दूंगा। पहले हाथ मुँह धो आओ। साथ बैठकर बेर खायेंगे! भुझे बहुत भूख लगी है। देखो तुम्हारे लिए भी मैंने बेर तोड़े हैं।''

द्वारिकाधीश के हाथों में ढेर सारे बेर हैं। उद्धव जी तप्तकुण्ड की ओर दौड़े जाते हैं! जल में मुँह धोते हैं। तभी उनकी दृष्टि पानी में पड़ी अपनी ही परछाई पर जाती है। उद्धव जी स्तब्ध रह जाते हैं। अपने चेहरे के स्थान पर उन्हें द्वारिकाधीश की सुन्दर मुखाकृति दिखाई पड़ती है। उद्धव जी चौंक उठते हैं। भला उनका स्वरूप

श्रीकृष्ण के जैसा कैसे हो गया है? ऐसा तो नहीं कि कहीं, ध्यान करते करते मन में कृष्ण की बसी छवि के कारण, उन्हें नेत्रों का भ्रम हो रहा हो? वे जल से पुनः नेत्रों को धोते हैं। दौड़कर अलकनन्दा के तट पर आते हैं। अलकनन्दा की धारा में भी अपने स्वरूप को देखते हैं। वहां पर भी उन्हें अपनी मुखाकृति के स्थान पर द्वारिकाधीश की ही मोर मुकुट सजी मुखाकृति दिखलाई पड़ती है। उद्धवजी विचलित हो उठते हैं। दूसरी ओर भगवान गोविन्द उन्हें पुकार रहे हैं,

"उद्धव देर क्यों कर रहे हो? जल्दी आओ सखा। मुझे बहुत भूख लगी है।" हड़बड़ाहट में उद्धवजी दौड़कर गोविन्द के पास आते हैं ओर हाथ जोड़कर उनसे विनय करते हैं,

"नारायण! यह आप कौन सी माया कर रहे हैं। प्रभु! मैं इसके योग्य नहीं हूँ!"

"कैसी माया उद्धव?"

"प्रभु! आज उद्धव जल में अपनी मुखाकृति के स्थान पर आपकी मोहक छवि क्योंकर देख रहा है?"

"उद्धव! जब तुम मुझे सिद्धियों के भाव से भज रहे थे। मैं, एक नया उद्धव बन रहा था। जब जब तुमने सिद्धियों की भावना से मुझे भजा, तब तब मैं तुम्हारा पुत्र बन, तुम्हारा रूप ले, तुम्हारे आंगन में शिशु बन प्रकट होता रहा! आज, जब तुम समर्पण की राह आये हो। आज, जब तुमने अपना सर्वांग, सर्वस्व मुझे समर्पित कर दिया है। रे भोले उद्धव! मुझ से हटकर अब तुम्हारा रूप कौन सा है? रे उद्धव! तुम स्वयं गोपाल हो गये हो।" भगवान अन्तर्ध्यान हो गये हैं। उद्धव अपना रूप खोकर कृष्ण हो गये हैं। राधा ने कहा था,

"उद्धव! जिन्हें आप सिद्ध करना चाहते हैं, उन्हीं में खो क्यों नहीं जाते हैं?" उद्धव का रोम रोम झंकृत है। झूम झूम कर उद्धव निष्पाप राधा को गाते हैं। उन्हें लगता है कि चारों वेदों की सम्पूर्णतः का नाम ही श्रीराधा है।

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः।। (गीता 5 /8)

(च) और। (यः) जो पुरूष। (अन्तकाले) अन्तकाल में। (माम्) मेरे को। (एव) ही। (स्मरन्) स्मरण करता हुआ। (कलेवरम्) शरीर को। (मुक्त्वा) त्याग कर। (प्रयाति) जाता है। (सः) वह। (मद्भावत्) मेरे। (साक्षात्) स्वरूप को। (याति) प्राप्त होता है। (अत्र) इसमें कुछ भी। (संशय) संशय। (न) नहीं। (अस्ति) है।

अर्थात् जो पुरूष अन्त काल में मेरा ही स्मरण करता हुआ शरीर का त्याग करता है वह मेरे ही साक्षात स्वरूप को प्राप्त होता है। अर्थात् मैं ही हो जाता है इसमें तनिक भी संशय नहीं है। ऐसा उपरोक्त श्लोक में भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है।

झूम-झूम कर उद्धव जी गोविन्द के स्वरूप को गा रहे हैं। महा तपस्विनी श्रीराधा के चरणों में, ध्यान के द्वारा पुनः पुनः प्रणाम कर रहे हैं। उद्धव सर्वांग श्रीकृष्ण हो गये हैं। सम्पूर्ण देह ज्योतिर्मय कौंधती बिजलियों के स्वरूप में लौट रही है। उद्धव लोप हो जाते हैं। बद्रीवन में उद्धव के इस गमन कथा को आज भी सुना रहा है, **''बद्रीनाथ धाम।''**

बद्रीनाथ धाम में गोविन्द के हाथों से गिरे हुए बेरों पर ही दो, एक जैसी मूर्तियां रखी हुई हैं। वे बेर प्रभु का स्पर्श पाकर अमर हो गये हैं। बेरों पर रखी हुई दोनों मूर्तियां, भगवान द्वारिकाधीश की सुन्दर प्रतिमायें हैं। दोनों एक सी हैं। एक मूर्ति है द्वारिकाधीश भगवान श्रीकृष्ण की, दूसरी प्रतिमा उद्धवजी की है। उद्धव, जो कृष्ण हो गये हैं। दोनों मूर्तियां एक जैसी हैं। भक्त और भगवान की, तथा भक्त से भगवान बनने की अमर गाथा का प्रतीक हैं। छह माह तक द्वारिकाधीश भगवान श्रीकृष्ण की पूजा होती है। छह माह तक उद्धव जी की पूजा, कृष्ण के रूप में, पाण्डुकेश्वर में लाकर की जाती है। उद्धव जी जो गोविन्द हो गये हैं।

''प्रेम गली अति सांकरी, जा में दो न समायें!''

वेदव्यास! उद्धव जी के गमन के उपरान्त तुमने इस मन्दिर में, उन क्षणों को अमर करने के लिए इन मूर्तियों की स्थापना की थी। बद्रीनाथ मन्दिर, उन क्षणों का हस्ताक्षर हैं। श्रीमद्भगवद्गीता के उपरोक्त श्लोक का जीवन्त सुन्दर, मनोरम, सरल और सरस स्पष्टीकरण हैं। निष्पाप उद्धव के ज्योतिर्मय स्वरूप को प्राप्त करने से बहुत पूर्व, भगवान वासुदेव बाण लीला के द्वारा गमन कर चुके थे। जब अर्जुन से तुम्हीं ने कृष्ण गमन की गाथा सुनी थी तो देविका के तट पर पधारे थे। बिलख बिलख कर रोये थे। कृष्ण के उपरान्त ही द्वारिकायें सागर में डूबीं। मन्दिर ध्वस्त हुए! भयंकर उल्कापात हुए। जलती हुई अग्नि शिलायें धरा पर उतरी थीं! सारा ग्रह अस्तव्यस्त हो रहा था। तब तुम भी बद्रीवन पधारे थे। तुमने उद्धव और गोविन्द की इसे अद्भुत लीला को स्वयं देखा था। उद्धव के गमन के उपरान्त, तुम्हीं ने मन्दिर और मूर्तियों की प्रतिष्ठा भी की थी। व्यास गुफा में वसुन्धरा के समीप, तुमने महाभारत महाकाव्य को प्रकट किया था। उसी गुफा में बैठ कर तुमने श्रीमद्भगवद्गीता जैसे अमृतमय ग्रन्थ को स्वरूप प्रदान किया था। वे गुफाएं धन्य हैं। आज भी उनके कण कण में तुम्हारी ज्योतियां समायीं हैं। मन्दिर के साथ ही उस गुफा को भी मैं बारम्बार प्रणाम करता हूँ।

इतिहास के नायक को आध्यात्म का स्वरूप देते समय, तुमने ऐतिहासिक घटनाक्रम को भी यथावत् रखने का भरसक प्रयास किया है। ऐसा करना मात्र तुम्हारे लिए ही सम्भव है। तुमने इतिहास और आध्यात्म के नायकों को एकरूपता,

एकरसता तथा एकत्व प्रदान किया है। वेदव्यास! तुमसे कुछ कहना चाहता हूँ।

सरल, संकोची, प्राणी मात्र को समर्पित, अकिंचन, प्राणी मात्र की समर्पित सेवाओं में प्रति क्षण जूझते, भोले निष्पाप, श्रीकृष्ण के स्वरूप को और उसकी विनम्रता को परमेश्वर का रूप देते समय तुम भूल गये थे। यदि इतिहास को चीरता हुआ अतीत का विनम्र ओर अकिंचन नायक श्रीकृष्ण, कहीं प्रकट हो गया, तो उसे कैसा लगेगा? तुम्हारे द्वारा दर्शाये अद्भुत महिमामयी स्वरूप को वह किस प्रकार सहन कर पायेगा? कितना अकेला हो जायेगा वह! क्या कभी सोचा तुमने?

जो नितान्त योगी और तपस्वी बनकर जिया था। जीवन के 52 वर्ष तक जो पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रती था। रूक्मिणि जी का भी वह मात्र उद्धार करने गया था। रूक्मिणि से विवाह करने की कल्पना उसे कदापि न थी। अम्बा नदी के किनारे जब वह अम्बावती में रूका हुआ था। विदर्भराज, राजगुरू मुदगल के साथ पधारे थे। उस समय विधर्भराज ने कृष्ण की आरती उतार कर उनके हाथ में डोरा बांधते हुए कहा था,

"गोविन्द! मैं अपनी बेटी को आपको अर्पित करता हूँ। रुक्मिणि के साथ अब मैं आ नहीं पाऊँगा। सम्भव है कि जरासंध के साथ युद्ध करता हुआ मैं वीरगति को प्राप्त हो जाऊँ। नारायण! रूक्मिणि के बिना ही मैं रुक्मिणि का कन्यादान धर्मपूर्वक किये जा रहा हूँ। रूक्मिणि अब आपकी ही है। आप ही उसके भरतार है। जब वह पूजा के बहाने यहां आयेगी, आप उसे लेकर तत्क्षण यहां से चले जाइयेगा। यदि युद्ध में जीवित बच पाया तो पुनः आपका दर्शन करूंगा। अन्यथा इसे मेरी अन्तिम पूजा और भक्ति के रूप में ग्रहण करें।"

स्तब्ध रह गये थे श्रीकृष्ण। संकोची, विनम्र और दूसरे की भावनाओं का आदर करने वाले श्रीकृष्ण के मुख से एक शब्द भी न निकल पाया। अनजाने ही योगी से वह गृहस्थ बन दिये गये थे। इसी प्रकार की पुनर्रावृत्ति सत्यभामा के साथ हुई। एक योगी और ब्रह्मचारी, परिस्थितियों से बंधा, अनायास ही दो पत्नियों का भरतार बन बैठा। कितना संकोच था उसे। उन क्षणों का स्पर्श मैंने सदा पाया है। ऐसे भोले मनोरम चरित्र को, एक रसिया के रूप में आध्यात्म से भौतिकता के स्तरों पर उतार कर इस युग ने, उसके साथ कितना बड़ा अन्याय किया है। उसकी दूसरी कल्पना हमें इतिहास में नहीं मिलेगी। आत्मा ही श्रीकृष्ण है तथा जीव मात्र गोपियां। आध्यात्म की इस उक्ति को चरितार्थ करते समय, तुम भूल गये थे कि सांसारिकता में फंसे धरती के लोग, उस परम् पुनीत को न जान पायेंगे! अष्ट सिद्धियों को अष्ट पत्नियों के रूप में दर्शाते समय, तुम्हें स्मरण नहीं था कि समय के अन्तरालों में आध्यात्म की पवित्र मनोरम गाथा, इतिहास नायक के लिए कितनी

भारी पड़ जायेगी। एक पवित्र, निष्पाप, निष्कलंक, सर्वशक्तिमान होकर भी अकिंचन प्राणी मात्र का धड़कता हुआ हृदय होकर भी सभी का समर्पित सेवक और सखा, तुम्हारे इस ऐश्वर्यमय स्वरूप को कैसे सहन कर पायेगा? कहीं लौट आया वह इतिहास के अन्तरालों से निकल कर, तो अपने अतीत से भी उसे अलग होना पड़ेगा। कितना अकेला हो जायेगा, काश! इन महाकाव्यों को देते समय, इसको भी सोच लिया होता।

समय के अन्तराल लुप्त हो गये हैं। वर्तमान के युगों में फिर उतर आया हूँ। इस धरती ने कई रूप बदले हैं ऐसे असंख्यों क्षण आज भी मेरे सामने हैं। रात के अंधेरे को चीरती हुई रेलगाड़ी जब धरती के ऊपर भागती है, तो अचानक स्मृतियां करवटें ले उठती हैं। कभी गहरी खाइयां थी यहां पर। धड़कती हुई जिन्दगी थी यहां पर, अट्टालिकाओं से वसा हुआ नगर था। आज फोड़े सा उगा पर्वत है यहां पर। चट्टानों के नीचे कहीं सोया हुआ अतीत है। चट्टानों के ऊपर भाग रही रेलगाड़ी है! जिसमें मैं हूँ। समय अतीत के अन्तरालों को लांघता हुआ वर्तमान फिर सामने है।

इतिहास की इस अम्बावती को खोज लिया है मैंने। अम्बावती ही अव अमरावती वन गई है। रूक्मि के द्वारा मन्दिर को ध्वस्त कर, धरती में छिपा दीं गयी उस मूर्ति को मैंने ढूंढ़ लिया है। वह मूर्ति जिसको रूक्मिणि ने पाने के लिए तड़पती रही थी। अनाथ की तरह वह मूर्ति मिट्टी के एक ढेर में पड़ी रही है। मध्य रात्रि के अंधेरे में, मैं उस मूर्ति के पास फिर गया था। उस मूर्ति की आत्मा को मैंने मूर्ति के समीप पाया है। न जाने किसका इन्तजार करती है वह? मूर्तियों में फंस गयी साधना भी, मूर्ति के सत्य स्वरूप को न जानकर, मूर्ति के साथ बंध गयी थी। इन क्षणों को भी बहुत करीब से जिया है मैंने। इतिहास करवटें लेता रहेगा। जीव और आत्मा इतिहास के अन्तरालों में उभरते रहे हैं, उभरते रहेंगे। जीवन की गाथा यूं ही भटकती, बिसरती कभी अतीत से लिपटती, कभी वर्तमान को छूती, कभी भविष्य की भोली कल्पनाओं में फैलती, यूँ चलती रहेगी। तुम्हारी कथा के अमृत से युग, प्रत्येक क्षण, मनुष्य मात्र को यज्ञ की सुगन्धित राह दिखलाता रहेगा। अतीत के पात्र भी लौटते रहेंगे, भटकते रहेंगे। तुम्हारी कथा के द्वारा सम्भव है, वे नये रूप पा जायें। इतिहास से आध्यात्म के नायक वन जायें। पूर्णतः और अमरत्व को प्राप्त हो जायें। तुम्हारी कल्पनाओं के नायक, सर्वांग ज्योतियों से परिपूर्ण हो, अजर अमर अविनाशी, सर्वव्यापी परमेश्वर के रूप में प्रकट हो जायें। हे देव! हे परम् तप! तुम्हारा महाकाव्य गन्तव्य पाये।

हरि ॐ! नारायण हरि!

उपसंहार!

बसन्त का मनोरम सुगन्धित वातावरण है। आश्रम की नीरवता, बेल के पेड़ की छांव में खुला आंगन, पत्तों से छनकर आती हुई हल्की गरम धूप और मेरी कल्पना में उभर आयी अतीत की स्मृतियां! वेदव्यास! मेरा हर क्षण तुम्हें छू कर निकलता है।

आज के युग श्रीकृष्ण को खो चुके हैं। तुम्हारे ग्रन्थ की गहराई तक पहुँचना आज के मानव के लिए लगभग असम्भव सा हो गया है। सोचता हूँ कि उन युगों को एक बार फिर महाभारत युद्ध की गहराई में उतार ले जाऊँ। महाभारत युद्ध महाकाव्य के आरम्भ में भगवान ब्रह्माजी तथा भगवान विनायक, श्रीगणेश जी की कथा को देकर, जो चुनौतियां तुमने युगों को दी हैं, उन रहस्यों को भी खोलता जाऊँ। तुम्हारे सोलह लाख श्लोकों के इस महाकाव्य को भी, जिसे तुम जानते हो, सुखदेव जानता है तथा अन्य कोई भी नहीं जानता है तुमने कहा था। आज तुम को भी बता दूँ कि मैं एक लाख श्लोकों के रहस्यों ही नहीं सम्पूर्ण सोलह लाख श्लोकों को जानता हूँ। 12 लाख श्लोकों का महाकाव्य जिसे तुमने देवलोक के लिए प्रकट किया है तथा जिसे देव ऋषि नारद गाते हैं तथा तीन लाख श्लोकों का महाकाव्य जिसे तुमने पितृलोक के लिए प्रकट किया है तथा जिसे शुकदेव जी गाते हैं वे 15 लाख श्लोक भी तुम्हारे इस एक लाख श्लोकों के महाकाव्य में छिपे हुए हैं। प्रत्येक श्लोक के गूढ़ रहस्यों को जानने के लिए जब मन, अन्तर की गहराइयों में बराबर गहराता जाता है। बारम्बार इस श्लोकों के अर्थों से गुजरता हुआ, गहरे

बैठते चला जाता है। यही श्लोक देवलोक अर्थात् आत्मलोक का मनोरम गीत बन जाते हैं। यही श्लोक जब प्रकृति में भी गूंजते हैं तो पितृलोक अर्थात् प्रकृति का मनोरम गीत बन जाते हैं। यही श्लोक जब सीधी, सरल धाराओं में चलता है तो इतिहास की पृष्ठभूमि पर एक महाकाव्य के रूप में गुजरने लगता है। निःसंदेह तुम्हारा यह महाकाव्य विश्व में अनूठा है। उपमातीत है। हे महाकवि! मैं तुम्हें सहस्त्र सहस्त्र प्रणाम करता हूँ।

आज का इतिहासकार अतीत के चौराहों पर भ्रमित खड़ा है। तुम्हारे आराध्य, तुम्हारे नायक श्रीकृष्ण को भी, उसके मौलिक स्वरूप में नहीं देख पा रहा है। आज के छः हजार वर्ष पूर्व अर्थात् ईसा से लगभग 4 हजार वर्ष पूर्व के इतिहास को समय बद्ध कर पाना आधुनिक इतिहासकार के लिए सम्भव नहीं है। जब युग, इतिहास को ही नहीं स्पष्ट कर पा रहा है तो इतिहास की पृष्ठभूमि पर खड़े, जीवन के गूढ़ गहन आध्यात्म के, इस महाभारत रूपी महाकाव्य को स्पष्ट कर पाना भला किसके लिए सम्भव है? आधुनिक इतिहासकार त्रेतायुग के राम को द्वापर के श्रीकृष्ण के उपरान्त मान रहा है। इसी से उनकी विलक्षणता का पता चल जाता है। श्रीराम कथा में श्रीकृष्ण का कहीं पर भी वर्णन नहीं आया है। इससे स्पष्ट है कि श्रीराम के युग में, श्रीकृष्ण की चर्चा नहीं थी। जब कि श्रीकृष्ण कथा में, श्रीरामचन्द्र की चर्चा सर्वत्र आयी है। जो स्वयं में स्पष्ट करती है कि श्रीकृष्ण के युग में, त्रेता के श्रीराम की कथा जनमानस को व्यापक रूप से थी। इसी प्रमाण से स्पष्ट हो जाता है कि श्रीरामचन्द्र श्रीकृष्ण से बहुत पूर्व हुए हैं। ईंटों, पत्थरों तथा मन्दिरों के अवशेषों को देखकर समय का पता लगाना सही नहीं है। मिलने वाले मन्दिरों के अवशेष और पत्थर मात्र इतना ही स्पष्ट कर सकते हैं कि उस काल में भी श्रीराम और श्रीकृष्ण की चर्चा थी। यह मन्दिर और पत्थर श्रीराम और श्रीकृष्ण की स्मृति में पुनः पुनः निर्मित मन्दिरों के अवशेष भी तो हो सकते हैं? इन पत्थरों से यह कहां स्पष्ट होता है कि इनके समय से पूर्व काल में श्रीराम और श्रीकृष्ण की चर्चा नहीं थी? इतिहासकार स्वयं में कितना भ्रमित है, मैं नहीं जानता हूँ। परन्तु वे इतिहास और पुरातत्व को तथा जनमानस को कितना भ्रमित कर रहे हैं, इसका बहुत ही घटिया उदाहरण हर ओर देखने को मिल रहा है। तुम्हारे विनम्र, संकोची, तपस्वी और योगी नायक को इतिहास ने एक रसिया के रूप में किस प्रकार समाज के सामने रखा है, मैं तुम्हें बता नहीं सकता।

इतिहास नहीं जानता है और लोग भी भूल बैठे हैं, कि विश्व का पहला कम्युनिस्ट, साम्यवादी, तुम्हारा नायक श्रीकृष्ण ही था। गरीबों और ग्वालों को इकट्ठा कर, सखावाद की धाराओं में बांध कर, उसने सैन्यशक्ति इकट्ठा की। जन

जन का सखा (कम्यून) श्रीकृष्ण, साम्राज्यवादी कंस की सत्ता से टकराया और उसे धराशाई कर दिया। मैं आज भी मानता हूँ, कि वह विश्व का इकलौता और अनूठा सखावादी अर्थात् साम्यवादी था। इसके उपरान्त के सारे साम्यवादी आज अपने ही देशों में चकनाचूर हो रहे हैं। दे क्यों हो रहे हैं? इसका कारण भी मैं जानता हूँ। उनमें कोई भी तुम्हारे नायक श्रीकृष्ण सा नहीं है।

श्रीकृष्ण ने जब अस्त्र उठाये तो उन्होंने संकल्प लिया था, कि उनके अस्त्र शस्त्र सदा निरीह और सताये हुए लोगों की रक्षा के लिए ही होंगे। सत्ता और साम्राज्य के लिए, कृष्ण, कभी अस्त्र नहीं उठायेंगे। इसीलिए उसने महाभारत युद्ध में अस्त्र नहीं उठाया। बलराम तो निमित्त मात्र होकर भी युद्ध में जाने को तैयार नहीं हुए, वे हिमालय चले गये, श्रीमद्भगवतगीता साम्यवाद का अकेला महाग्रंथ है। तुम्हारे कृष्ण के जैसा न तो कोई साम्यवादी कभी हुआ और न कभी होगा। भूमण्डलों का अधिपति था, ग्वालों का सखा और दोस्त था। असुरत्व को मिटाने का उसका संकल्प था। इसी संकल्प को लेकर जब वह साम्यवाद की आंधी बनकर उठा तो उसने पिरामिड बनाती संस्कृतियों को ध्वस्त कर दिया। मुर्दों की सुरक्षा के लिए हजारों इन्सानों को गुलाम बनाकर, उनका शोषण करने वाली संस्कृति ही उसने मिटा दी। मृतसागर के किनारों पर उसने शोषण करने वाली उन संस्कृतियों का विनाश किया, जो गुलामों को खरीदती और बेचती थीं। आत्मा की तरह अभेद होकर, प्राणी मात्र का सम होकर जीने का दर्शन मात्र उसी का था। वह अर्जुन का भी गुरू नहीं बनता है। उसका अतिशय प्रिय मित्र और सखा बनना, उसे कहीं अधिक पसन्द है। इतिहास की करवटों में वह जगमगाता मोती, तुम्हारा नायक, श्रीकृष्ण, मानवीय समभाव का ज्योतिर्मय सूर्य बनकर सदा प्रकाशित होता रहेगा।

दासता के लम्बे अन्तरालों में जब संस्कृति दम तोड़ रही थी, उस समय भारत के संत और मनीषीजन, वेद की सीमाओं को बांधने लगे। कहीं ऐसा न हो सारा अतीत ही भ्रमित हो जाये। इसी विचार से वेदों को सीमित किया गया था। वेदान्त की कल्पना साकार हुई, उपनिषद वेदान्त (वेद+अन्त) कहलाये। वेद की सीमा उपनिषद को अपने में समेटे हुए वेदान्त अर्थात वेद का अन्त हो गया। भय था कि लुट गयी सभ्यता और संस्कृति, घुमड़ते गहराते दासता के भयानक बादल; लुटी, उजड़ी मानवता! नष्ट होते गुरूकुल और विश्वविद्यालय! ऋषि और मनीषियों के कटते सिर । फैलती धर्मान्धता! कहीं धर्म के सारे स्वरूप को ही न निगल जाये। इसी विचार से वेदान्त अर्थात् वेदों की सीमाओं का निर्धारण हुआ। सारे पुराणों को वेद की परिधि से बाहर कर दिया गया।

वेदों की सीमा निर्धारण करते समय ऋषि समाज भूल गया था कि महाभारत,

श्रीमद्भागवत्, रामायण जैसे पुराण तथा अन्य पुराणों में दिये बहुत से अमृतमय ज्ञान, स्वयं में साक्षात् वेद के सरल, स्पष्टीकरण थे। वेदान्त के उपरान्त वेद की सीमा को खोल पाना अब किसी के लिए सम्भव नहीं था। सम्पूर्ण ऋषिसभा ने वेद रूपी ज्ञान के पुनर् अवतरण की कल्पना को साकार किया। यही समाधान खोजा गया कि जिन कथाओं में, जितने अंश वेद का ज्ञान है, उनके नायकों का, उतने ही अंश का अवतार करा दिया जाये। श्रीराम की कथा में, जीव और प्रकृति अर्थात् राम और जानकी का अन्त में विछोह होता है। भूमिसुता जानकी भूमि में समाती हैं तथा श्रीराम सरयू में समाते हैं। संस्कृत भाषा में सरयू शब्द का अर्थ वायु तथा वायुमण्डल से है। प्रकृति, धरती में समाती है तथा आत्मा वायु-मण्डल में विलीन हो जाता है। कथा का आवागमन के स्तर तक आकर समापन को प्राप्त होती है। मोक्ष तत्व को स्पष्ट नहीं कर पाती है! इसलिए श्रीराम कथा महाकाव्य में 12 अंश का वेद माना गया है। श्रीराम कथा के नायक भगवान श्रीराम को 12 अंश अवतार की पदवी प्रदान की गयी। जीव और आत्मा का अन्तिम मिलन अर्थात् मोक्ष के 4 अंश शामिल नहीं हैं। श्रीकृष्ण की कथा में युधिष्ठिर का, ध्रुव का तथा बहुत से ऋषियों का शरीर ज्योतियों में परिणित होकर, मोक्ष को प्राप्त होता है। किस प्रकार जीव मोक्ष मार्ग का अनुसरण करे एवं मोक्ष को प्राप्त हो? इसे तुमने बड़े ही व्यापक रूप से रहस्य लीलाओं में स्पष्ट किया है। तुम्हारा महाकाव्य, सम्पूर्ण वेदों का सम्पूर्ण स्पष्टी करण है। इसलिए ऋषिसभा ने तुम्हारे नायक भगवान श्रीकृष्ण को सम्पूर्ण 16 अंशों का अवतार माना है। अर्थात् उनको सोलह अंश प्राप्त हैं। इस प्रकार श्रीराम एवं श्रीकृष्ण 12 अंश तथा 16 अंश अवतार हुआ। आज हमारे बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के भूतपूर्व अध्यक्ष जो सम्भवतः कुलपति भी रहे हैं और राष्ट्रीय सम्मान को भी प्राप्त हैं वे मंच पर कटाक्ष कर रहे थे। इन्हीं अंशों के भेद को लेकर, उस मंच पर बैठा, मैं सोच रहा था कि जिस देश के उच्चकोटि के विद्धान और आध्यात्म के विशेष ज्ञाता अपने अतीत से इतना अपरिचित हैं, उस देश का आने वाले कल क्या होगा?

वेदव्यास! तुमने सत्य ही कहा था कि हजारों युग तुम्हारी कथा को गायेंगे, ज्ञान विज्ञान तथा सभी प्रकार के ज्ञान की धरोहर तुम्हारे महाकाव्य होंगे। हम उनकी पूजा भी करेंगे। हजारों हजारों वर्षों तक लोग फिर भी जान न पावेंगे कि इन ग्रन्थों में तुमने कहा क्या है? युगान्तर दृष्टा! जीवन के प्रत्येक क्षणों में, विद्धानों के शब्दों में, तुम्हारे यह वाक्य बार बार मेरे कानों में गूंजे हैं। फिर फिर मैंने इन पीड़ाओं को पिया है, और सहा है। वेदव्यास! आज भी युग तुम्हें नहीं जानते हैं। सोचता हूँ तुम्हारे नायक श्रीकृष्ण को पुनः स्पष्ट करने के लिए महाभारत के रहस्यों को भी

एक ग्रंथ के रूप में खोलता चलूं। सम्भव है कि युग तुम्हें जानने लगे। मुझे सुख मिलेगा यदि तुम अपनी शर्त को, भारत के सहज मानव से हार जाओ। क्योंकि हारने के लिए ही तुमने शर्त लगाई है। मैं जानता हूँ कि जबतक भारत का सहज मनुष्य तुम्हें पा न लेगा, तुम्हें उस परम सुख की अनुभूति नहीं होगी। जो सुख गुरू को शिष्य से मिलता है। जब गुरू के द्वारा दिये गये अमृतमय ज्ञान को शिष्य आत्मसात् कर लेता है। छः हजार वर्ष हो चुके हैं। तुम्हारी उस शर्त का उत्तर समाज और युगों के पास नहीं रहा है। परन्तु अतीत के उन क्षणों को बार बार अपनी स्मृतियों पर उभरने देना चाहता हूँ। जिससे तुम्हारे अमृत को युग और समाज पहचान सके। तुम शर्त हार कर, एक बार फिर मानव मात्र के हृदय को जीत लो। हर धड़कन में बस जाओ। प्रत्येक धड़कन में, प्रत्येक क्षण तुम धड़क सको।

हरि ॐ! नारायण हरि!